गांधी

वैष्णव जन

डा० जाकिर हुसैन
राष्ट्रपति, भारतीय गणराज्य
के
'दो शब्द' सहित

नरसी मेहता के सुप्रसिद्ध भजन 'वैष्णव जन' के आधार पर आदर्श पुरुष गाधीजी की मान्यताओ, आदर्शो एव विचारों पर प्रकाश डालनेवाले संस्मरण, विचारपूर्ण लेख तथा लघु कथाएं

•

सपादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

१९६९
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

पहली बार
१९६९

मूल्य
सचित्र सजिल्द साढ़े सात रुपये
अजिल्द चार रुपये

मुद्रक
नया हिन्दुस्तान प्रेस,
दिल्ली

प्रकाशकीय

प्रस्तुत सग्रह मे उन रचनाओ का सकलन किया गया है, जो 'वैष्णव जन' के गुणो पर प्रकाश डालती है। 'वैष्णव जन' गाधीजी का अत्यन्त प्रिय भजन था और इसे वह प्राय अपनी प्रार्थना मे सुना करते थे। इसमे मानव की उन विशेषताओ का वर्णन है, जो उसे श्रेष्ठता प्रदान करती है। समाज-रचना की बुनियाद मे गाधीजी इन्ही विशेषताओ को प्रतिष्ठित करना चाहते थे।

इस सग्रह मे पाठको को ऐसी रचनाए भी पढने को मिलेगी, जो गाधीजी के स्वय के जीवन मे उन गुणो को दर्शाती है। वस्तुत गाधीजी सच्चे अर्थों मे वैष्णव जन थे।

इन सब रचनाओ के साथ-साथ पाठक इस सग्रह मे मानवीय धरातल की कविताए तथा लघु कथाए भी पढेगे। ये कविताए तथा कथाए हमे अच्छा मनुष्य बनने की प्रेरणा देती है।

कुल मिलाकर यह सग्रह न केवल उपयोगी है, अपितु चरित्र-निर्माण की प्रेरणा देनेवाला भी है।

इस पुस्तक की सामग्री के सकलन मे 'जीवन-साहित्य' के 'वैष्णव जन' अक से विशेष सहायता ली गई है।

हमे हर्ष है कि इस पुस्तक का प्रकाशन गाधी जन्म-शताब्दी वर्ष मे हो रहा है। विश्वास है कि इसका सभी क्षेत्रो मे स्वागत होगा।

—मन्त्री

वैष्णव जन बापू का प्यारा भजन है। उस में यह बताया गया है कि सच्चा वैष्णव जन तो वही है जो पराये की पीड़ा को समझे, जो हरेक से मुहब्बत करे, चाहे वह किसी भी जाति, मजहब व रंग का क्यों न हो। इस माने में गांधी जी सच्चे वैष्णव जन थे। उनकी जिन्दगी का हर पहलू अनोखा था और उनकी हर बात अनमोल थी। उनके बताये रास्ते पर चलने और उनकी बातों पर अमल करने की यदि हम कोशिश करें तो देश का भला होगा।

राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली-४

ज़ाकिर हुसैन

विषय सूची

वैष्णव जन की कसौटी और गाधी-चरित्र

साधना के सोपान

वैष्णव जन

वैष्णव जन

●

वैष्णव जन

वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड पराई जाणे रे,
परदु खे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।
सकल लोकमा सहुने वन्दे, निन्दा न करे केनी रे,
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे।
समदृष्टी ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे,
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे।
मोह माया व्यापे नही जेने, दृढ वैराग्य जेना मनमा रे।
रामनामशु ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमा रे।
वणलोभी ने कपटरहित छे, काम क्रोध निवार्या रे,
भणे नरसैयो तेनु दरसन करता, कुल एकतेर तार्या रे।

—नरसी महेता

वैष्णव जन कौन ?

मो० क० गाधी

नरसिंह महेता[1] ने वैष्णव के जो लक्षण बताये है, उनसे हम देखते है कि वह :

१ परदु ख-भजक होता है ।
२ फिर भी निरभिमानी होता है ।
३ सबकी वन्दना करता है ।
४ किसीकी निन्दा नही करता ।
५ वाचा दृढ रखता है ।
६ आचार दृढ रखता है ।
७ मन दृढ रखता है ।
८. वह समदृष्टि होता है ।
९ वह तृष्णारहित होता है ।
१०. एक पत्नी-व्रत पालता है ।
११ सत्यव्रत पालता है ।
१२ अस्तेय पालता है ।
१३ मायातीत होता है ।
१४ वीतरागी होता है ।
१५ रामनाम मे तल्लीन होता है ।
१६ पवित्र होता है ।
१७ लोभ-रहित होता है ।
१८ कपट-रहित होता है ।
१९ काम-रहित होता है ।
२० क्रोध-रहित होता है ।

इसमे वैष्णव शिरोमणि नरसिह महेता ने अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है अर्थात् जिसमे प्रेम नही वह वैष्णव नही है । अपनी प्रभाती मे उन्होने सिखाया है कि 'वेद' पढने से, वर्णाश्रम-धर्म का पालन करने से, कठी पहनने से अथवा तिलक लगाने से कोई वैष्णव नही हो जाता । ये सब पाप के मूल हो सकते है । पाखण्डी भी माला पहन सकता है, तिलक लगा सकता है, 'वेद' पढ सकता है, मुख से रामनाम का जाप कर सकता है, लेकिन पाखण्डी रहते हुए सत्याचरणी नही बना जा सकता, पाखण्डी परपीडा का निवारण नही कर सकता और पाखण्ड के रहते हुए चचल चित्त को निश्चल नही रखा जा सकता ।

---

१. १४१४-१४७८, गुजरात के सन्त कवि । इनका यह भजन आश्रम मे प्रार्थना के समय गाया जाता था ।

गांधी-चरित्र : 'वैष्णव जन' का भाष्य

काका कालेलकर

'वैष्णव जन तो तेने कहिये' इस भजन का गाधीजी की धर्म-साधना मे असाधारण महत्व है । उनकी नित्य की प्रार्थना मे तो इस भजन को स्थान था ही, लेकिन जब-जब उन्होने अपने जीवन-कार्य मे अथवा राष्ट्र की स्वराज्य-साधना मे महत्व का उद्यम उठाया, तब-तब उन्होने भक्ति-नम्र होकर इसी भजन को गाया ।

गाधीजी के सर्व-धर्म-समभाव के सिद्धान्त का स्मरण करते याद आता है कि जब कभी किसी उच्चपदस्थ ब्रिटिश राज्यकर्ता से खास काम के लिए मिलने का अवसर आता था और पेचीदा मामला सुलझाने की आवश्यकता अनुभव होती थी, तब गाधीजी अचूक ईसा मसीह के 'गिरि प्रवचन' को याद करते और उसे पढकर ही मुलाकात के लिए जाते थे । विरोधियो के प्रति विरोधी भावना मन मे उठने न देना, विरोधियो के हृदय मे रहनेवाले नारायण को याद करके उसकी सहायता लेना और विरोधियो के मन मे का सद्भाव जाग्रत करने की पराकाष्ठ करना, यही थी उनकी सत्याग्रही नीति और मैं तो कहूगा कि विरोधियो के हृदय मे और जीवन मे जो नारायणतत्व बसा हुआ है, उसपर विश्वास करके चलना, यही थी उनकी आस्तिकता की कसौटी । विरोधी व्यक्ति के हृदय पर अगर कुछ भी असर नही हुआ तो उसके प्रति निराश होने की जगह वह अपनी ही तपस्या की खामी या कमी मानते थे और आत्मनिरीक्षण, चिंतन और तपस्या के द्वारा वह अपनी कमी को दूर करने की कोशिश करते थे । 'तपसा किल्विषम् हन्ति' इस सिद्धान्त पर उनका पूरा विश्वास था । इसीलिए आत्मनिरीक्षण करते वह अनेक बार गाते थे—

तुज सगे कोई वैष्णव थाये तो तु वैष्णव साचो ।
तारा सग नो छद न लागे त्या सुधी तु काचो ॥

गाधीजी की, इस मनोवृत्ति को और धर्मसाधना को ध्यान मे लाकर अगर हम भक्तकवि नरसी मेहता के 'वैष्णव-जन तो तेने कहिये' वाले भजन पर विचार करेगे तो उसमे हमे नये-नये अर्थ मिलते जायगे ।

कई लोग यह भजन पढकर उसमे बताये हुए वैष्णव सद्गुण गाधीजी पर कैसे चरितार्थ होते है, यह देखने की कोशिश करते है । वह अच्छा तरीका है, बोधक और लाभ-दायक है । मैने भी इसी तरह से गाधीजी का जीवन-चरित्र देखने की कोशिश की है । अब उस क्रम को उलटाकर गाधी-जी के जीवन को ही इस भजन का उत्तमोत्तम भाष्य समझ-कर गाधीजी के आध्यात्मिक जीवन के द्वारा इस भजन का अर्थ समझने का प्रयत्न करता हू तब दुगुना आनन्द आता है ।

एक दिन महादेवभाई और मैं खुशी मे आकर गाधीजी का जीवन और नरसी मेहता का गाया हुआ 'वैष्णव जन' का आदर्श, दोनो की तुलना करते थे ।

महादेवभाई ने कहा, "पहले मै मानता था कि वैष्णव जन के सब लक्षण गाधीजी मे पूरे-पूरे पाये जाते है, लेकिन 'राम-नाम शु ताली रे लागी' वाला लक्षण उनमे पूर्ण रूप से प्रकट नही होता है, लेकिन अब देखता हू कि उनकी साधना बढी है 'राम-नाम शु ताली रे लागी' अधिकाधिक प्रकट होता जाता है ।"

मैंने कहा, "हमारी भक्तमण्डली मे नामसकीर्तन का जोश इतना बढता है कि लोग आपे से बाहर हो जाते है । उसमे एक तरह का कुफ्र होता है और मनुष्य धर्मध्वजी बनकर अपनी भक्ति का मानो प्रदर्शन करने मे आनन्द लेता है । शास्त्रकारो ने और सन्तो ने जगह-जगह कहा है कि धर्मध्वजी बनना, अपनी धार्मिकता का और भक्ति का प्रद-र्शन करने के लिए झण्डा लेकर चलना दोष है । सयमधन

बापूजी अपनी नाम-साधना को प्रकट नही करते होगे, अथवा धर्मसाधना की परणति के कारण उनकी नाम-साधना अब उत्कट हो रही होगी। लेकिन आपका निरीक्षण सही है। उनकी साधना इतनी तेजी से बढ रही है कि उनका असर मैं उनके चेहरे पर भी देख रहा हू। गाधीजी के जो पुराने फोटो उस समय मुझे यथार्थ लगते थे, आज कुछ फीके से लगते है। गाधीजी को पूरी तरह से व्यक्त नही करते, ऐसा थोडा-सा असन्तोष रह जाता है।"

गाधीजी की धर्म-साधना मे दूसरी एक मौलिकता है —निरभिमानिता और नम्रता की। यह साधना देखने मे आसान लगती है, लेकिन जीवनशुद्धि और साधनाशुद्धि के बारे मे जो लोग अत्यन्त कुशल और सतर्क होते हे, वे जानते है कि नम्रता की साधना करना टेढी खीर हे।

इस चीज को थोडा स्पष्ट करना जरूरी है।

भारत लौटते ही जब गाधीजी ने अपना एक आश्रम खोलने का विचार किया तो उन्होने अपनी कल्पना छापकर भारत के प्रमुख विचारको के पास सलाह-सूचना के लिए भेजी। उसमे आश्रम के व्रत भी दिये थे। बगाल के एक विख्यात शिक्षा-शास्त्री ने योजना को पसन्द करते हुए लिखा कि ग्यारह व्रतो मे एक विशेष व्रत बढाने लायक है---नम्रता।

इस सूचना की चर्चा करते गाधीजी ने समझाया कि "व्रत वह चीज है, जो हम सतत् प्रयत्न से, अपने जीवन मे लाते है। सजग रहकर उसकी साधना करनी पडती है। नम्रता को मैं व्रत नही कहूगा। नम्रता अच्छी चीज है, वह आप-ही-आप आनी चाहिए। बाकी के व्रतो का पालन निष्ठापूर्वक किया तो व्रतपालन की कठिनाइया समझनेवाला नम्र बनेगा ही।"

लेकिन अगर हम नम्र बनने का खास प्रयत्न करने गये तो प्रयत्न कृत्रिम होगा। वह दम्भ का रूप लेगा और मामला बिगड जायगा। इसलिए मैं नम्रता को पसन्द तो करता हू, लेकिन उसे व्रत के रूप मे विशेष स्थान नही दूगा। यह सारा किस्सा विनोबाजी जानते थे, इसलिए उन्होने आश्रम के व्रतो के श्लोको की रचना करते समय आखरी पक्ति बनाई—

विनम्र व्रत-निष्ठा से ये एकादश सेव्य है।

नम्रता की बात करते गाधीजी ने एक बार विनोद मे कहा था—"अगर मैं पचास वर्ष का हू तो क्या नम्रता धारण करने के लिए कहूं कि मै ४५ वर्ष का या ४९ वर्ष हू ? नम्रता का सत्य के साथ मेल बैठना ही चाहिए।"

सच्चा भक्त जीवन-साधना करते अपनी कमजोरियो को इतना पहचान लेता है कि जो कुछ भी सफलता मिली, भगवान की कृपा के कारण ही मिली, ऐसा समझता है और नम्र बनता है। अभिमान उसे छू नही सकता। एक ओर आत्मविश्वास, उसके साथ व्रत-पालन की दृढ निष्ठा और दूसरी ओर नम्रता। ऐसी साधना जहा चल रही है, वहा अभिमान, गर्व और घमण्ड को स्थान ही नही रहता। निरभिमानता भक्त का लक्षण है, किन्तु वह उसकी साधना का अग नही है। एक महाराष्ट्री भक्त ने भगवान से ही प्रार्थना की है कि अहकार की हवा विष्णु दासो को कभी छुई ही नही।

अहकाराचा वारा न लागो राजसा।
माझिया विष्णुदासा विष्णुरूपा॥

सब भक्त जानते है कि अहकार से बचना बडा कठिन है। इसीलिए वे विष्णु रूप होने पर भी उसीकी मदद की याचना करते है।

भारत के धर्म-इतिहास मे, बल्कि दुनिया के धर्म-इतिहास मे, सबसे श्रेष्ठ स्थान है भक्ति का। ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, उपासना-योग, अनासक्ति-योग ये सब उत्तम योग है। लेकिन सब योगो मे योग—शिरोमणि है भक्तियोग। सब धर्मो की सन्त-वाणी मे से अगर भक्ति का हिस्सा निकाल दिया जाय तो बाकी क्या रहेगा ? अद्वैतवादी ज्ञानयोगी शकराचार्य कहते आये है—"**ज्ञानात् एव तु कैवल्यम्**। तो भी उन्होने कहा है—**मोक्ष-कारण-सामग्र्यी भक्तिरेव गरीयसी**। मोक्ष के जो अनेक साधन है, उन सबमे भक्ति ही श्रेष्ठ है।"

भक्ति का यह माहात्म्य स्वीकार करते हुए और 'भक्ति ही जीवन-साधना का सर्वस्व है' इतना जानते हुए कहना पड़ता है कि भक्ति कोई अलग साधना हो नही सकती। भक्ति असल मे जीवन-योग की स्वाभाविक सुवास ही है। हम अपनेको 'ईश्वर का दास' माने, 'ईश्वर का पुत्र' माने,

'परमात्मारूपी अग्नि की एक चिनगारी' माने अथवा अनुभव करे कि 'आखिरकार ईश्वर से हम भिन्न है नही' तो भी जीवन-साधना तो करनी ही पडती हे और जीवन-साधना मे मुख्य हिस्सा है कर्मयोग का। कर्म अन्धा न बने, वाधक न वने, गिरानेवाला न वने इसलिए कर्म को ज्ञान-पूत वनाना चाहिए। ज्ञान को मजवूत वनाने के लिए ध्यानयोग की जरूरत है। कर्म करते, विश्व की सेवा करते, हम विश्व-स्वामी को भूल न जाय, इसलिए कर्म मात्र को उपासना का रूप देना आवश्यक है। यही तो जीवन-साधना है। ऐसी साधना सिद्ध होते ही उसमे से आप-ही-आप भक्ति की सुगन्ध निकलने लगती है। मैने एक बार महात्माजी से कहा था कि "आपकी निष्काम सेवा इतनी उत्कट होती है कि उसमे से अद्भुत सुगन्ध निकलती है और इसीलिए लोभी दुनिया सुगन्ध प्राप्ति के लिए आपकी सेवा लेते यह ध्यान ही नही रखती कि आपका शरीर थक जाता होगा और आपकी आयु क्षीण होती होगी। पवित्र सुगन्ध के लोभी लोग धूप को जलने ही देते है।"

नरसी महेता ने वैष्णव जन का वर्णन करते मानो यही धूप का जलना और उसमे से सुगन्ध का निकलना दुनिया को समझाया है।

सचमुच गाधीजी का उत्कट जीवन ही 'वैष्णव जन वाले स्तोत्र का जीवित भाष्य है।

पहले इसे नाश्ता कराओ

एक रात की वात है। आश्रम के रसोईघर मे एक चोर घुस आया। वह भूखा था या उसका उद्देश्य कुछ और था, यह कोई नही जान सका। परन्तु कुछ व्यक्तियो ने उसे पकड लिया और एक कोठरी मे बन्द कर दिया।

सवेरा हुआ। नित्य कर्मो से निवटकर गाधीजी नाश्ता करने बैठे, तब उस चोर को उनके सामने पेश किया गया। किसने पकडा और कैसे पकडा, यह सबकुछ सुनने के वाद उन्होने पूछा, "इसको नाश्ता कराया या नही ?"

आश्रमवासी ने उत्तर दिया, "नही, बापू।"

गाधीजी ने कहा, "तो पहले इसे नाश्ता कराओ, फिर मेरे पास लाओ।"

आश्रमवासी ने अचरज से कहा, "चोर को नाश्ता कराऊ ?"

"हा।" गाधीजी ने उत्तर दिया। गाधीजी का आदेश था, इसलिए नाश्ता कराना पडा, पर चोर भी मनुष्य है, उसे भी भूख लग सकती है और जो व्यक्ति हमारे बन्धन मे है, उसे खाने-पिलाने का दायित्व भी हमारा है—यह वात उस आश्रमवासी के मन मे नही आई। लेकिन गाधीजी इस बात को कैसे भूल सकते थे ? जव वह चोर फिर उनके सामने आया तो उसे वडे प्रेम से समझाते हुए उन्होने कहा, "भाई, तुम्हे चोरी नही करनी चाहिए। चोरी करना पाप है। गरीवी के कारण अगर तुम्हे चोरी करनी पडती है तो ऐसा कहो, मै तुम्हारे लिए आश्रम मे काम की व्यवस्था कर दू।"

वह प्रेमल ज्योति

महादेव देसाई

•

जबसे महात्मा गाधी का प्रथम प्रदर्शन हुआ तबसे आज तक मैने उनके चरणो मे यही प्रार्थना की है कि 'असतो मा सद्गमय' (असत्य से मुझे सत्य की ओर ले जा), 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' (अधकार से मुझे प्रकाश मे ले जा), 'मृर्त्योमा अमृत गमय' (मृत्यु से मुझे अमृत मे ले जा), क्योकि अनेक प्राणियो की तरह मेरा जीवन जिस असत् मे बीत रहा था, जिस अधकार मे बह रहा था और जो प्रत्येक क्षण मृत्यु मे बीत रहा था, उसको देखने के लिए उन्होने पहले-पहल मेरी दृष्टि खोल दी। आज समस्त जगत को वह यही दृष्टि दे रहे है और यह मेरा विश्वास हे कि सारा जगत आज जान मे या अनजान मे, इच्छा से या अनिच्छा से, मेरी ही तरह प्रार्थना कर रहा है।

१९१७ मे बलिया मे उन्होने मेरे जीवन को बनाना शुरू किया। यही दिन मेरा जन्मदिन था। सुबह आज्ञा मिली कि मुझे रोटी बनाना होगा। मै कभी चूल्हे के पास बैठा भी न था। मैंने कहा, "मुझसे कैसे बनेगी ?" गाधीजी ने कहा "बेलन, आटा और पानी है, फिर क्यो न बनेगी ?" मैंने आटा गूधना शुरू किया। पास एक शख्स खडे थे। उनकी मदद से आटा गूधा। इस तरह चोरी से आटा गूधने का काम हो रहा था कि इतने मे स्नान कर गाधीजी आ पहुचे। उन्होने कहा, "यह क्या हो रहा है ? मैं तो तुमसे आटा गुधवाना चाहता था, मुझे तो तुमसे रोटी बनवानी थी।" गाधीजी के इन वाक्यो मे एक खास सख्ती थी। मुझसे न रहा गया। मेरे आसुओ से आटा भीगने लगा। मैं सोच मे पड गया था कि गाधीजी खुद बैठ गए और रोटी बेलने का पदार्थ पाठ सिखाने लगे, फिर मुझसे भी रोटी बिलवाई और कच्ची-पक्की जैसी भी रोटी बनी, उन्होने बडे चाव से खाई। बडे आनन्द से वे रोटिया खाकर उन्होने मानो अपने शब्दो की सख्ती को धो दिया।

"मउ मेणाह्नि आम्हीं विष्णुदास कठिण वज्रास भेदू ऐसे" मोम से भी मुलायम और बज्र को भी छेद डालने-वाला अपना स्वरूप उन्होने मुझे उस प्रथम दिन ही दिखा दिया। मैंने गाधीजी से कहा—"आज मेरा जन्मदिन है।" उन्होने कहा—"सच है, तुम्हारा जन्म आज से शुरू हुआ है।" उसी दिन से उन्होने मेरी अपगता दूर करना शुरू किया। मुझे कपडे धोना सिखाया, पाखाना साफ करना सिखाया और मूग की दाल बनाते समय उसके छिलके निकालना सिखाया। छोटी-से-छोटी बात उत्तम प्रकार से करने का पाठ पहले-पहल उन्होने मुझे पढाया। एक दिन लिफाफे पर ठीक जगह टिकिट नही लगा था। उन्होने उसे निकलवाकर ठीक जगह लगा दिया। एक मर्तबा कागज के टुकडे ठीक जगह पर नही डाले गए थे, वे उठवाकर ठीक जगह पर डलवा दिये। कहा, "छोटे काम भी उत्तम प्रकार से करने पर ध्यान न दोगे तो बडे कामो मे भी तुम लापर-वाह रहोगे। **"योगः कर्मसु कौशलम्"** का यही अर्थ है, दूसरा नही। बिना एकाग्रता के यह नही हो सकता। जिस समय जो काम कर रहे हो, बस तन्मय हो जाना चाहिए। तभी यह कौशल प्राप्त होता है।"

बहुत दिनो की बात हे। तबतक गरीबो के साथ एक-जीवी होने के साधन के तौर पर चरखा उत्पन्न नही हुआ था, अर्थात् गाधीजी ने चरखे का प्रचार शुरू नही किया था, हम लोग पटना से दिल्ली से जा रहे थे। मुगलसराय स्टेशन पर टिकट बदलवानी थी। बडा जाडा था। इसलिए मैंने गरम पतलून और ओवरकोट पहना था। पतलून पहनने के लिए मैंने आज्ञा ले ली थी। स्टेशन आने पर मैं टिकट बदलवाने गया और फौरन बदलवा लाया। गाधीजी ने पूछा—

"इतनी जल्दी टिकिट किसके पास से लाये ?" मैंने

खुलासा किया। थोडी देर तक सोचकर उन्होने कहा—"अग्रेजी मे बातचीत की थी या हिन्दी मे ?" मैंने कहा—"अग्रेजी मे"। बस फिर क्या था। उनकी विषाद-युक्त वाग्धारा चलने लगी—"मै जानता ही था। ओवरकोट और पतलून का रौब तो था ही और अग्रेजी मे बात की। फिर कहना ही क्या ! वह जल्दी टिकिट दे दे तो उसमे आश्चर्य की बात ही क्या है। लेकिन क्या तुमको यह खबर नही कि मेरे जैसा कोई गरीब आदमी यदि टिकिट लेने जाय तो उसे आध-आध घटे तक राह देखना पडती है और कभी-कभी तो उसकी गाडी भी छूट जाती है ? तुम्हे यह समझना चाहिए कि हम लोग, जो तीसरे दरजे मे सफर करते है, वे गरीबो के दुख और तकलीफे देखने के लिए और उनकी इन तकलीफो मे साथी बनकर उपाय ढूढने के लिए ही करते है। गरीबो की तरह यदि हम भी चले, उन्हीकी भाषा मे बोले तो वे हमारे साथ भी वैसा ही बर्ताव करेंगे जैसा कि गरीबो के साथ बिना किसी प्रकार की जवाबदेही के करते है, और ऐसा होने पर हम उन्हे भविष्य मे गरीबो के साथ अच्छी तरह बर्ताव करना सिखा सकते है।

गाधीजी को बिना तन्मयता के एक भी काम करते हुए मैंने कभी नही देखा। गोरखपुर मे एक बडी सभा थी। इतनी बडी सभा मैने कभी नही देखी। एक लाख आदमी होगे। गाधीजी से पहले मौ० शौकतअली, मुहम्मदअली या किचलू कौन व्याख्यान दे रहा था, याद नही है। शोर-गुल खूब हो रहा था। उस समय गाधीजी 'यग इडिया' के लि[ए] एक अद्भुत लेख लिख रहे थे। शोर-गुल के कारण [और] सिर्फ पाच मिनट के बाद मुझे बोलना होगा, इस ख्याल [से] भी उनकी तन्मयता कुछ भी न्यून न होने पाई थी। गाधी[जी] कहा करते है—"मैने बिना तन्मयता के एक भी काम न[हीं] किया है।" इस प्रकार जिनकी प्रत्येक हलचल विचारम[य] है, जिनका एक भी कार्य बिना उद्देश्य के नही होता, उन[के] जीवन के एक दिन के कार्यो पर भी बडे-बडे वार्तिक लि[खे] जा सकते है। मेरे कहने या लिखने के बनिस्बत तो य[ह] अच्छा है कि जो असख्य मनुष्य उनके सम्पर्क मे आये है [वे] अपने-अपने अनुभव याद रखे और उन्हे सुरक्षित करदे।

महात्मा गाधी के जीवन से जो आशा का अमर-सदे[श] प्रकट हो रहा है उसीको यदि हम न माने तो उनका जीव[न] समझा न समझा देखा न देखा ही हो जाय। जिन्हे य[ह] देखने और समझने का मौका मिला है वे बडभागी है। ऐ[से] अनेक बडभागियो के साथ इस दीन लेखक का सिर इ[स] प्रेमल ज्योति के स्मरण मे झुक जाता है और स्वभाव[तः] मुख से यह उद्गार निकल पडते है

> **ओ अकुलेर कुल, ओ अगतिर गति;**
> **ओ अनाथर नाथ, ओ पतितेर पति ,**
> **ओ नयनेर आलो, ओ रसनार मधु;**
> **ओ रतनार हार, ओ परानेर बन्धु ॥**

पूजा-गीत

उनको भी सद्बुद्धि राम दो।
जो भूले है धाम तुम्हारा,
जो भूले है नाम तुम्हारा,
उनको भी दुख मे विराम दो।
सत्य भूल उलझे माया मे,
भटक रहे केवल छाया मे,
उनको भी गति-मति प्रकाम दो।

—सोहनलाल द्विवेदी

मानव-कल्याण के संदेश-वाहक

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

अशाति और कलह से जर्जर आधुनिक मानव-समाज को शान्ति, प्रेम, सद्भाव और कल्याणकारी मानव-मूल्यो की खोज मे लगातार भटकना पड रहा है। लेकिन राष्ट्रो के आपसी स्वार्थ विवेक के स्वरो को दवाकर बैठ गए है। विश्व मे सर्वत्र कलह और घोर अशान्ति के दर्शन हो रहे हैं। परम्परागत मूल्य नष्ट हो रहे है और उनके स्थान पर नए मूल्यो की स्थापना नही हो पा रही है। मानव-मूल्यो का यह सकट ही आधुनिक काल की सबसे वडी समस्या है। इस समस्या के समाधान के लिए एक प्रबल स्वर भारत-भूमि से उठा था। विश्व-कल्याण के लिए प्रारम्भ से ही प्रयत्नशील धर्म-भूमि भारत ने पुन एक ऐसे महापुरुष को जन्म दिया था, जो ससार को विनाशकारी विग्रहो से मुक्त करने का सकल्प लेकर प्रस्तुत हुआ। यह महात्मा गाधी थे। महात्मा गाधी आधुनिक युग मे विश्व को भारत की सबसे वडी देन है। उनके कल्याणकारी स्वर आज भी वायुमण्डल मे गूज रहे है और हम इन्हे अनसुना करके व्यापक विनाश को ही आमन्त्रित कर रहे है।

गाधीवाद गाधीजी का कोई सर्वथा नवीन आविष्कार नही है। हमारे प्राचीन सनातन धर्म के सिद्धान्त ही गाधीवाद की बुनियाद हे। गाधीजी ने हिन्दु धर्म के प्राचीन सिद्धान्तो मे कोई परिवर्तन या सशोधन नही किया, बल्कि उन्हे नए सिरे से, आधुनिक समाज की आवश्यकतानुसार चुनकर एक व्यवस्थित रूप मे पेश किया। अहिसा, सत्य, प्रेम और सद्भाव ऐसे सिद्धान्त है, जो थोडे-बहुत हर धर्म मे मिल जाते है। ये शाश्वत और सनातन मूल्य है, जिनके विकल्प न है और न हो सकते है। गाधीजी ने इन मूल्यो के प्रति आम जनता की उदासीनता को दूर करने का प्रयास मात्र किया और यह कोई मामूली वात नही थी।

गाधीजी के लिए अहिसा मात्र साधन नही, साध्य थी। अहिसा मे उनका विश्वास कभी नही डिगा। कई निराशाओ और विफलताओ ने उनकी आस्था की अग्निपरीक्षा ली, जिसमे वह हमेशा खरे उतरे। ब्रिटिश दासता के विरुद्ध सघर्ष मे जब कुछ लोग गाधीजी की अहिसा की अन्तिम सफलता मे सदेह करने लगे थे तब भी गाधीजी अपने मार्ग से च्युत नही हुए थे। उनका विश्वास था कि अहिसा कभी विफल हो ही नही सकती। आज लोगो मे ऐसे अटूट विश्वास का सर्वथा अभाव है। इस विश्वास ने ही गाधीजी को महान बनाया, अन्यथा उनमे और साधारण मनुष्य मे कोई अतर नही रहता। हममे से कितने लोग ऐसे है, जो गाधीजी के प्रति भौतिक निष्ठा अभिव्यक्त करने मे तो कोई कसर बाकी नही रखते, पर व्यवहार मे अहिसा के प्रति पूर्ण आस्था रखने का दावा कर सकते है? हमारी गाधीवादी सरकार ने गाधीजी की अहिसा को कव विश्वास-योग्य समझा? जन-प्रतिरोध का दमन करने के लिए लाठियो और गोलियो का सहारा लिया और यह भुला दिया गया कि जन-असतोष दमन से नही, अहिसक मार्ग से ही शात किया जा सकता है। हम केवल कथनी मे विश्वास करते है, करनी मे नही।

लेकिन यहा यह स्मरण रहे कि गाधीजी की अहिसा कायरो के लिए नही थी। वह लाचारी का पर्याय कदापि नही थी।

इसी प्रकार सत्य के प्रति गाधीजी की निष्ठा भी अटूट थी। उन्होने कहा भी था कि "मै स्वराज्य के लिए सत्य का सौदा नही कर सकता।" सत्य उनके लिए सर्वोपरि था। भारत की स्वाधीनता उनको प्यारी थी, लेकिन सत्य उससे भी ज्यादा प्रिय था। सिद्धात बदलते रहने के लिए नही होता।

हमारे धर्म मे सत्य की अतिम विजय (सत्यमेव जयते)

पर विश्वास करने को कहा गया है। सभी प्राचीन शास्त्र और साहित्य सत्य की विजय प्रमाणित करते है। हमारी पौराणिक कथाओ मे सत्य के लिए भारी कष्ट भोगने के विवरण मिलते है और अत मे सत्य और धर्म की विजय दिखलाई जाती है। गाधीजी धर्म के मूल तत्व को समझ चुके थे।

शाति और सद्भाव परस्पर सम्बद्ध हैं। सद्भाव के बिना शाति असम्भव है। इसीलिए गाधीजी ने साम्यवाद के वर्ग-सघर्ष सिद्धात का तिरस्कार किया था। उन्होने हमेशा वर्ग-सहयोग पर बल दिया। गाधीजी का ट्रस्टी-शिप का सिद्धान्त इसीपर आधारित था। श्रमिको को उचित पारिश्रमिक मिलता रहे और उद्योगपति अपने-आपको समाज का ट्रस्टी माने, यह उनका कहना था। सामाजिक न्याय की स्थापना मे गाधीजी का क्रातिकारी योगदान था। वह निजी उद्यम के पक्ष मे थे और उद्योग क्षेत्र मे सरकारी हस्तक्षेप को हिसा के तुल्य मानते थे। इसीलिए उन्होने कन्ट्रोल और राशनिंग का विरोध किया था। कन्ट्रोल और राशनिंग लागू करने का अर्थ यह होता है कि सरकार जनता की नीयत पर सदेह करती है। यह अविश्वास, अशाति, असतोष और द्वेष को जन्म देता है। हमारी सरकार गाधीजी के इस बुनियादी सिद्धात को भूल गई है। उसे जनता की ईमानदारी मे विश्वास नही रहा हे। लोकतत्र जनता पर विश्वास का प्रतीक होता है। इसीलिए कन्ट्रोल और राशनिग अलोकतात्रिक माने जाते है। गाधीजी, इस दृष्टि से, सबसे बडे लोकतत्रवादी थे।

सहनशीलता का फल

एक फकीर थे। एक दिन वह कही जा रहे थे। रास्ते मे देखते क्या है कि एक नौजवान हाथ मे तम्बूरा लिये बैठा हे और गदे-गदे गीत गा रहा है।

फकीर वहा जाकर रुक गया। चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगा, "अल्लाताल्ला, तू सबसे बडा है। तू ही सबका परवरदिगार है। बिना तेरे इस दुनिया का पत्ता भी नही हिल सकता।"

नौजवान मस्ती मे गा रहा था। उसने फकीर को चिल्लाते देखा तो उसे बडा गुस्सा आया। उसने चीखकर कहा, "चुप हो जा, क्या बकता है?"

फकीर ने उसकी बात सुनी-अनसुनी कर दी। बोला, "हे खुदा, तू बेअकलो को अकल दे।"

नौजवान ने आव देखा, न ताव, हाथ का तम्बूरा लेकर फकीर के सिर पर दे मारा। तम्बूरा टूक-टूक हो गया। फकीर मुस्कराया और बिना एक शब्द के आगे बढ गया।

अपनी झोपडी पर आकर फकीर ने अपने शागिर्द को सब हाल सुनाया और कहा, "तू उस नौजवान के पास जा और उसे तम्बूरे की कीमत दे आ। एक थाली मे मिठाई भी। गुस्सा बहुत बुरी चीज हे। मुझे अफसोस है कि मेरी वजह से उसे इतना गुस्सा आया।"

शिष्य तम्बूरे का दाम और मिठाई लेकर वहा गया और उससे कहा, "ये चीजे फकीर साहब ने तुम्हारे लिए भेजी है।"

इतना सुनते ही नौजवान की आखें खुल गईं। वह दौडा-दौडा फकीर के पास आया और अपनी करनी के लिए माफी मागने लगा।

फकीर ने बडे प्यार से उसे सीने से लगा लिया।

उन्होंने सुप्त आत्मा को जगाया

मोरारजी देसाई

●

गांधीजी की मृत्यु के दो दशको के भीतर ही, हम देखते है, अधिकाश व्यक्ति जीवन मे आदर्शवाद के प्रति उदासीन हो गये है और उनकी शिक्षाओ को उतना महत्व नही देते, न वैसा श्रेयस्कर ही मानते है, जैसा उनके समय करते थे। जबकि कुछ लोग महसूस करते है कि हम उनके दिखाये हुए मार्ग से बिछुड गये है, दूसरो को यह भय है कि निकट भविष्य मे ही हम कही उससे बिल्कुल उल्टी दिशा मे न चलने लगे। इसलिए यह आवश्यक है कि उस आधार पर हम विचार करे, जिससे सामान्य व्यक्ति जीवन के बुनियादी मूल्यो को स्वीकार करता है। अधिकाश व्यक्ति जब भौतिक समृद्धि की ही आकाक्षा करते है, कुछ ऐसे भी होते है जो इन मूल्यो का इनके महत्व की दृष्टि से ही पालन करते है। मै उन लोगो मे से हू जो यह मानते है कि गाधीजी ने जीवन का जो उदाहरण प्रस्तुत किया तथा जो शिक्षा प्रदान की वह हमारी जीवन-पद्धति के लिए इतनी मौलिक और श्रेष्ठ थाती है कि उसकी उपेक्षा कर हम खतरा मोल लिये बगैर नही रह सकते। भारत को सुदृढ, समृद्ध और सुखी बनाने के लिए हम चाहे जो तरीका अपनाए, अपने ही हित मे, हमारे लिए अपने आदर्शो को उनके द्वारा प्रदत्त सन्देश के अनुरूप ही रखना होगा।

गाधीजी ने जो कुछ कहा या किया, वह केवल एक युग या अकेली भारतीय जनता के लिए ही नही था। उनका सन्देश तो सभी काल और सारी मानव-जाति के लिए है। इसी दृष्टिकोण से हमे गाधीजी के चमत्कार को देखना होगा। सौ साल का समय किसी राष्ट्र के इतिहास मे चाहे बहुत महत्व न रखता हो, लेकिन भारत के इतिहास मे तो पिछले सौ साल का बडा महत्व है। वह न केवल इसलिए कि इस काल मे भारतीय राष्ट्र ने प्रगति करते हुए सदियो की गुलामी से अन्ततोगत्वा मुक्ति प्राप्त कर ली, बल्कि इसलिए भी कि इस बीच गाधीजी हमारे बीच रहे और उन्होने स्वतन्त्रता के लिए इस तरह से काम किया, जिससे इस काल मे मानव-जाति की आशाओ को नया रूप और बल मिला।

गाधीजी सन् १८६९ मे पैदा हुए थे। उस समय भारत एक गरीब और शोषित देश था। भारतवासी अशक्त, विनम्र, आज्ञापालक, अन्धविश्वासी और भीरु थे। भारतीय समाज सकीर्ण स्थानीय भावनाओ मे ग्रस्त था। लोगो मे देशभक्ति का अभाव था और आपस मे एक होकर रहने की भावना बिल्कुल नही थी। सन् १८८८ मे गाधीजी ने इग्लैण्ड के लिए समुद्र-यात्रा की। उस समय विश्वविद्यालय की शिक्षा का यहा धीरे-धीरे विस्तार हो रहा था। समाज-सुधार के आन्दोलन लोकप्रिय होने लगे थे और शहरो मे राजनैतिक चेतना भी बढने लगी थी। भारतीय राष्ट्रीय महासभा (काग्रेस) की स्थापना भी १८८८ मे हो चुकी थी। दक्षिण अफ्रीका मे शर्त्तबन्द कुलीप्रथा के विरुद्ध लडाई मे सफलता प्राप्त कर १९१५ मे जब गाधीजी भारत लौटे तो यहा उन्हे काफी राजनैतिक चेतना मिली। नरम, गरम, अराजकवादी जैसे कई राजनैतिक दल भी तबतक बन चुके थे। लेकिन इसके साथ ही उन्होने यह भी देखा कि कुल मिलाकर भारतीय जनता वैसी ही भीरु और विनम्र आज्ञापालक है, भारतीय समाज भी इसी तरह विभक्त और अध-श्रद्धाग्रस्त है, वैसा ही गरीब और शोषित है तथा गाव भी पहले की तरह ही उपेक्षित और वीरान है।

गाधीजी ने अनुभव किया कि भारत की समस्या राजनैतिक या सामाजिक ही नही, बल्कि बहुमुखी है। सदियो की गुलामी से लोगो मे दासता की जो मनोवृत्ति घर कर गई है उससे उन्हे मुक्त करने के लिए उनमे साहस और आत्मसम्मान की भावना पैदा करना जरूरी है। साथ ही

उन्होने यह भी अनुभव किया कि मौजूदा स्थिति को बदलना है तो शिक्षा, समाज-सुधार, अर्थनीति और राजनीति मे ऐसे परिवर्तन करने होगे, जिससे वे इस देश की परिस्थिति के अनुकूल बने। अगले तीन दशक मे इसके लिए गाधीजी ने बराबर अपने प्रयत्न जारी रखे और ऐसा करते हुए उन्होने देश मे शात क्राति ही कर दी। स्वराज्य-प्राप्ति के लिए उस समय लोग आतकवादी तरीका अपनाए हुए थे, उसकी जगह उन्होने एक व्यावहारिक उपाय प्रस्तुत किया, जिसके फलस्वरूप सुदूरवर्ती गावो तक मे राजनैतिक चेतना फैल गई। इससे आजादी की लडाई का आधार बडा व्यापक हो गया। शिक्षा मे नया अर्थ और प्रयोजन मिला। सामाजिक जीवन अधिक स्वतन्त्र और बन्धनमुक्त हुआ। वातावरण मे नैतिकता की लहर छा गई। इस तरह उन्होने हमे धूल से उठाकर सचमुच के मनुष्य बना दिया। उस समय तक स्थिति यह थी कि स्वराज्य की आकाक्षा तो बराबर जोर पकड रही थी, पर उसे प्राप्त करने का तरीका किसीने नही बताया था। गाधीजी ने दक्षिण अफ्रीका मे असहयोग और सविनय आज्ञाभग का औजार ईजाद किया था, उसीको भारतीय राष्ट्रीय महासभा की मार्फत उन्होने स्वराज्य-प्राप्ति के शस्त्र के रूप मे राष्ट्र को प्रदान किया।

स्वराज्य की लडाई के इस काल मे गाधीजी नैतिकता और अध्यात्म की इतनी ऊचाई पर पहुचे, जिससे अधिक की कोई मानव आशा नही कर सकता। बचपन मे जहा वह एक सामान्य भीरु बालक थे वहा अब वह अपने युग के सबसे बडे आदमी बन गए। अपने मानव बन्धुओ की सेवा करते हुए उन्होने कई खोजे की। सत्य इनमे सर्वप्रथम है। 'सत्' का अर्थ परमेश्वर है, जबकि सत्य का अर्थ है, 'जिसका अस्तित्व हे।' तार्किक दृष्टि से देखे तो सत्य के सिवा कुछ है ही नही, क्योकि और सब तो अस्तित्वहीन है? सत्य ही सब प्रवृत्तियो का आधार होना चाहिए, यह शिक्षा पहले तो अपने बाल्यकाल मे उन्हे अपनी मा से मिली और उसके बाद जवानी मे गहरे चिन्तन के फलस्वरूप उन्हे यह बोध हुआ।

अहिंसा उनकी दूसरी खोज थी, जिसका अर्थ हे सभी जीवधारियो के प्रति प्रेम का भाव। गाधीजी के प्रयत्न और प्रयोग जैसे-जैसे आगे बढे, उन्होने अनुभव किया कि मनुष्यो के बीच पारस्परिक व्यवहार का अहिंसा ही एकमात्र प्रभावकारक तरीका है और मानव-सम्बन्धो की लगभग प्रत्येक समस्या का इससे समाधान हो सकता है। अहिंसा का विचार एक स्थिर विचार है और शक्ति के रूप मे यह हिंसा की शक्ति से श्रेष्ठ है। इसमे यह निहित है कि सभी मनुष्य समान है और सभीके प्रति प्रेम और सम्मान की भावना मनुष्य मे होनी चाहिए। गाधीजी ने सभी परिस्थितियो मे सत्य और अहिंसा के उपाय का सहारा लिया तथा दूसरो के प्रति घृणा और सदेह से ऊपर उठने की कोशिश की। इस तरह उनका जीवन उनके सजातीयो यानी सभी मनुष्यो के लिए जीवन के सभी क्षेत्रो मे स्फूर्ति का गहन स्रोत बन गया है।

जनसाधारण के लिए गाधीजी को समझना आसान था, क्योकि वह उन्हीकी भाषा मे बोलते थे और उन्ही की तरह बिल्कुल सादा जीवन बिताते थे। ऐसा करके ही उन्होने आजादी की लडाई मे उनका योगदान प्राप्त करने मे सफलता पाई। जनसाधारण को उन्होने जाग्रत किया, कार्यकर्त्ताओ को अपने आसपास जुटाया और नेताओ का निर्माण किया। लोगो से सीधे सम्पर्क और सीधी बातचीत के द्वारा ही उन्होने आजादी की लडाई मे इतना व्यापक एकमत कायम किया जैसा इससे पहले नही था।

यह सच है कि आजादी के लिए हमे देश के विभाजन की कीमत चुकानी पडी, उनकी इच्छा के विरुद्ध हमने देश का बटवारा मजूर किया, क्योकि हमने यह अनुभव किया कि जो स्थिति है उसमे इसके सिवा कोई चारा नही है। इसीलिए आजादी के समय वह बहुत दुखी थे। पाकिस्तान मे हिन्दुओ और सिखो पर जो अत्याचार हुए तथा भारत के कुछ भागो मे भी प्रतिशोध स्वरूप जो कुछ हुआ उसे बर्दाश्त करना उनके लिए बहुत मुश्किल था। उनको उससे हार्दिक पीडा हुई। वह चाहते थे कि अत्याचारो का हम अहिसात्मक ढग से सामना करे, लेकिन इसके लिए जितना नैतिक साहस चाहिए, उतना हममे नही था।

भारत के लिए स्वतत्रता-प्राप्ति तो उनकी सफलता का बाह्य प्रदर्शन मात्र है। उनकी वास्तविक सफलता तो इसमे है कि उन्होने हमारी सोई हुई आत्मा को फिर से जगा

दिया, हमारे हृदयो का अज्ञान दूर कर उन्हे ज्ञान से प्रकाशमान किया और हमारे अन्दर नैतिक साहस भर दिया। भौतिक प्रगति तो हम कर सकते है, लेकिन उससे अगर हमारी नैतिकता को आच आती है तो उसका कोई लाभ नही। कारण स्पष्ट है। सम्पन्न समाज तो अनेक है, पर सुखी उनमे कुछ ही मिलेगे, क्योकि भौतिक समृद्धि ही सुख नही हे। सुख तो आन्तरिक सतोष से प्राप्त होता है, जिसके लिए मनुष्य को नैतिकता पर आधारभूत और आध्यात्मिक आकाक्षा से परिपूर्ण ऐसा जीवन व्यतीत करना चाहिए जिसमे लालसाओ का सघर्ष न हो।

प्रगति का मूल्याकन गाधीजी मानव-सुख से करते थे। उन्होने न तो अधिकतम लोगो के अधिकतम हितवाले उपयोगितावादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया और न सम्पन्न समाजवाले आधुनिक विचार को, जिसमे उन्नति का एकमात्र मापदण्ड भौतिक समृद्धि ही है। वह तो ऐसी सामाजिक व्यवस्था के पक्ष मे थे, जिसमे सभीका अधिक-से-अधिक हित-साधन हो। इसीको उन्होने सर्वोदय का नाम दिया। इससे उनका मतलब ऐसे समाज से था जिसमे प्रत्येक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के समान समझा जाय, प्रत्येक को आगे बढने के समान अवसर उपलब्ध हो तथा उन्नति करने की स्वतत्रता सभीको एक समान हो। आर्थिक प्रगति के साथ-साथ सामाजिक न्याय की भी उपेक्षा न हो, ऐसे समाज की उनकी कल्पना थी। ऐन्द्रिय सुखो पर नियत्रण के लिए उन्होने कहा, क्योकि ऐसे सुखो की हमारी जानकारी मे कही कोई सीमा नही है।

गाधीजी ने दुनिया को बताया कि शारीरिक शक्ति या सैनिक बल मनुष्य की आत्मा को परास्त नही कर सकते, क्योकि आत्मा अदम्य है। भौतिकता से नैतिकता का महत्व अधिक है और स्वार्थ तथा सग्रहवृत्ति से सेवा तथा त्याग की शक्ति कही ज्यादा है। सत्य के सौन्दर्य और आत्मा के गौरव का भी उन्होने हमे भान कराया।

भौतिक उन्नति के गाधीजी विरुद्ध नही थे, न उन्होने यही कहा कि यत्रो का उपयोग किसी भी स्थिति मे नही करना चाहिए। उनकी मान्यता तो यह थी कि यत्रो से समय और श्रम की जो बचत होती है उसका लाभ मानव जाति के इस या उस हिस्से को नही, बल्कि सभीको मिलना चाहिए। आदमी यत्रो का गुलाम बन जाय और अपना व्यक्तित्व खो बैठे, यह वह नही चाहते थे। उनका कहना तो यह था कि यत्रो के लिए मनुष्य नही, बल्कि मनुष्यो के लिए यत्र होने चाहिए।

सामाजिक न्याय की उनकी मान्यता मे धन और सत्ता के एकीकरण की कोई गुजाइश नही। पर साथ ही वह यह भी जानते थे कि धन और सत्ता का समान वितरण नही हो सकता। इसीलिए उन्होने ऐसे निष्पक्ष वितरण का प्रतिपादन किया, जिसमे आर्थिक असमानताओ और राजनैतिक अयोग्यताओ का अतर कम-से-कम हो। इसके लिए उन्होने 'ट्रस्टीशिप' यानी अपनी सम्पत्ति को धरोहरस्वरूप मानने की कल्पना प्रस्तुत की, जिसके द्वारा पूजीवादी समाज को उन्होने समाजवादी समाज मे बदलने का प्रयत्न किया। ट्रस्टीशिप की उनकी कल्पना पूजीवाद की समर्थक नही है, लेकिन पूजीपतियो को कुचलने के बजाय उसमे उन्हे अपने दृष्टिकोण को सुधारने का अवसर दिया गया हे। गाधीजी चाहते थे कि पूजीपति अपनी सम्पत्ति को धरोहर की तरह रखे और अपने निजी सुख के लिए ही उसका उपयोग न कर सामाजिक हित के लिए उसे खर्च करे।

एक ओर जब यह माना जाता है कि समृद्धि मे गरीबी की गुजाइश नही है, दूसरी ओर ऐसे उदाहरणो की कमी नही कि अब जब किसीकी सफलता या असफलता का मापदण्ड उसके सम्पत्तिशाली या सम्पत्तिहीन होने से ही किया जाता हे तो लोग बस कमाई की ही फिक्र मे रहते हे और उसके लिए किसी भी तरीके को बुरा नही समझते। इस मापदण्ड से उन्नत कहे जानेवाले अनेक देशो ने निश्चय ही प्रगति की है। लेकिन सवाल यह है कि धन या सम्पत्ति से क्या मनुष्य का सुख बढा है? सचाई तो यह है कि मानवजाति को विनाश का जितना खतरा आज है उतना इससे पहले कभी नही था। आणविक शस्त्रो की ईजाद ने आज मानवजाति के सम्पूर्ण विनाश का खतरा उपस्थित है। अबाधुध यंत्रीकरण ने आर्थिक शक्ति के कुछ ही व्यक्तियो के पास केन्द्रित हो जाने की सम्भावना है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य उनके उपयोग का आर्थिक औजार मात्र रह जायगा। खतरा यह है कि मनुष्य का या तो अस्तित्व ही नही रहेगा या वह अपने मानव व्यक्तित्व को खो देगा।

मनुष्यो को सुखी बनाना है तो इन खतरो को दूर करना होगा। अतएव हम अधेरे मे भटकते नही रह सकते, रोशनी के जो भी साधन उपलब्ध हो उन्हीका उपयोग कर इस अधेरे को हमे मिटाना होगा।

भौतिक समृद्धि की वह परिसीमा होती है जब आनन्द के नये साधनो की उपलब्धि पर मनुष्य का उल्लसित या उत्तेजित होना बन्द हो जाय। पश्चिम की आज कुछ ऐसी ही स्थिति है जहा सुविधा बढाने के नये साधनो या घर-गृहस्थी के काम को और सुविधापूर्ण बनाने के नये सामान की ईजाद पर मनुष्यो मे कोई उत्तेजना नही होती। इस तरह जीवन नीरस बनता है और जीने का उत्साह क्षीण होता है। अत हमे इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि भौतिक आनन्द के ही पीछे दौडकर कही हम अपने मानव-व्यक्तित्व को न खो बैठे। पेचीदा औद्योगिक जीवन मे अनिवार्य तनावो से हमे बचना चाहिए। सुख के लिए मनुष्य को अपने अन्दर और बाहर शान्ति कायम रखनी चाहिए और वह केवल लाक्षणिक रूप मे नही, बल्कि जीवन की पद्धति के रूप मे। आधुनिक समाज के लिए आधुनिक जीवन की जटिलताओ से समन्वय करना और तालमेल बैठाना मुश्किल हो सकता है, लेकिन हमारा राष्ट्र तो अभी प्रगति के रास्ते मे है, इसलिए हमे उसी गलती का शिकार होने से बचना चाहिए। अपने भविष्य की योजना बनाते समय सुख की गाधीजी की मान्यता को हम सामने रखे तभी ऐसा सम्भव है।

गाधीजी ने कहा है कि मनुष्य को अपने आन्तरिक सन्तोप के लिए जीवन मे सत्य और अहिसा को अपनाना चाहिए। ऐसा करनेवाला व्यक्ति कोई भी ऐसा काम नही कर सकता, जो नैतिक दृष्टि से ठीक न हो, भले ही वह उसके लिए कितना ही लाभकर क्यो न हो। उनकी दृष्टि मे लक्ष्य की सिद्धि सफलता की कसौटी नही थी। लक्ष्य-सिद्धि से भी अधिक महत्व वह लक्ष्य-सिद्धि करने के लिए ग्रहण किये जानेवाले साधनो को देते थे। लेकिन दुर्भाग्य-वश यही मनोवृत्ति कायम रही कि सफलता-प्राप्ति के लिए जो भी साधन काम मे लाये जा सके वही ठीक। लक्ष्य-सिद्धि से भी उसके लिए काम लाये जानेवाले साधनो की शुद्धि का आगह करनेवाले शायद वह अकेले ही थे। उन्होने तो जीवन की शुरुआत मे ही, दक्षिण अफ्रीका की अपनी लडाई के बीच ही, साधन शुद्ध रखने की आवश्यकता को महसूस कर लिया था और उत्तरोत्तर उसपर अधिकाधिक जोर देते रहे। आजादी की हमारी लडाई मे किसी अशुद्ध साधन से काम न लिया जाय, इसपर उन्होने हमेशा आग्रह किया। शुद्ध साधनो का आग्रह चाहे तत्काल लाभकर न लगे, लेकिन सच्चा सुख तो अन्ततोगत्वा हम शुद्ध साधनो को अपना कर ही पा सकते है, अनैतिक साधनो से नैतिक लक्ष्य सिद्ध नही किये जा सकते। गाधीजी ऐसा मानते थे कि शुद्ध साधनो से हम लक्ष्य सिद्ध न कर सके तो भी उनपर जमे रहने से मनुष्य को न केवल सन्तोष प्राप्त होता है, बल्कि उसका गौरव भी बढता है। यो उन्हे इस बात का पूरा विश्वास था कि साधन शुद्ध रखने पर लक्ष्य-सिद्धि अनिवार्य है।

सभी नये लोकतन्त्रो को, जो स्वस्थ सार्वजनिक जीवन विकसित कर लोकतन्त्रीय परम्परा को सुदृढ करना चाहते हे, गाधीजी के इस सन्देश और प्रयोग से लाभ उठाना चाहिए। ऐसा करके वे ऐसी नैतिक समाज-व्यवस्था कायम कर सकते है, जिसकी नीव नैतिकता पर होगी।

गाधीजी अपने पीछे गाधीवाद का कोई निश्चित सिद्धात नही छोड गये, लेकिन उनका जीवन उनके तत्व-दर्शन का निदर्शक है और वह तत्वज्ञान जीवन के लिए ऐसा आधारभूत है कि प्रत्येक मानव-हृदय को आकर्षित करता है। यह सम्भव है कि शहरो मे रहनेवाले बुद्धि-वादी लोग उनके आर्थिक सिद्धान्त या रचनात्मक कार्य-क्रम से सहमत न हो, लेकिन उनका जीवन और तत्वज्ञान समय और स्थान की सीमाओ को लाघकर लाखो-करोडो के हृदयो मे प्रवेश पा चुका है और आम लोग उससे निश्चय ही प्रेरणा पायगे।

मेरा अपना विचार तो यह है कि उससे अच्छा कोई विकल्प ही हमारे पास नही है। आणविक शस्त्रो की ईजाद ने हमारे पृथ्वी ग्रह पर मानव-जाति के लिए विनाश का खतरा पैदा कर दिया है और सृजनात्मक अभिव्यक्ति का अवसर न रहने की भावना ने मनुष्य को व्यग्र बना दिया है। ऐसी हालत मे स्वय अपने अस्तित्व के लिए ही मनुष्य को गाधीजी की ओर देखना होगा। ●

ढाई अक्षर प्रेम के

उमाशंकर जोशी

●

गांधीजी जीवन के कलाकार थे। जीवन के शिल्पी थे। मनुष्य पूर्णता की ओर किस तरह प्रगति कर सकता है, इसका बढ़िया नमूना उनके जीवन से मिलता है। उनके जीवन में मुख्य प्रेरणा धर्म की मालूम पड़ती है। धर्म का अर्थ कोई सम्प्रदाय नहीं, बल्कि सभी धर्मों में जो आध्यात्मिक तत्व होता है वह। ऐसी आध्यात्मिक खोज गांधीजी के समग्र जीवन के साथ ओतप्रोत है।

गोलमेज परिषद् के समय किसीने सन्देश मांगा, तब गांधीजी ने कहा—"मेरे शरीर के एकाध अंग को काट दिया जाय तो मैं जिन्दा रह सकता हूं, लेकिन अगर मेरा धर्म मुझसे छीन लिया जाय तो मैं जिन्दा नहीं रह सकता।" इसमें अन्तर की प्रतीति की झंकार है।

जीवन में किस तरह जुड़ गई थी, यह इस वर्णन से स्पष्ट है। कोई इसे भ्रम कह सकता है और कोई आत्मप्रतारणा कहकर हँसी भी उड़ा सकता है, परन्तु उनका अपना अन्तर तो स्पष्ट था और इसकी पूरी गवाही देता था।

अन्तरनाद यानी अन्तरात्मा की आवाज का उन्होंने कई बार जिक्र किया है। "लौकिक बुद्धि के लिए अन्तरपट बन्द हो, फिर भी अन्दर से कोई प्रेरणा मिले, वही अन्तरात्मा की आवाज है।" यही क्षीण और अस्पष्ट आवाज उन्हें सुनाई पड़ती थी। एक बार उन्होंने यह भी कहा—"सत्य का तादृश साक्षात्कार ही अन्तरकार है।" हमारे लिए यह दीवार जितनी यथार्थ है उतनी ही ये सब वस्तुएं उनके लिए यथार्थ थीं। एक धर्म-पुरुष के रूप में इस तरह

चन्दभाई जैसो से जो कुछ मिला, उसीके फलस्वरूप यह दृढ विश्वास था ।

धर्म की उन्होने जो साधना की, उसमे सत्य को प्रमुखता दी । सत्य और अहिंसा ये दो ऐसे शब्द है, जो बहुत प्राचीन काल से हमारे यहा चले आ रहे है । गाधीजी कहते थे, "इनके सम्बन्ध मे मुझे नई बात कुछ नही कहनी, नई बात इनमे भला क्या होती है ? अगर हो तो उसे ढूढ निकालने और उसे अपनाने मे ही पुरुषार्थ है । इस सत्य की सेवा के लिए ही मैं प्रयत्नशील हू । अभी तो लगता है कि वह हिमालय की चोटी पर है, पर जो जानते है उनका घमण्ड दूर हो जाता हे । मेरा तो कभी का दूर हो चुका है ।"

सत्य की प्राप्ति का साधन उन्होने अहिसा को माना । गाधीजी ने अपनी गिनती अनेकातवादियो मे की है । एक ही मार्ग से सत्य को पहुचा जा सकता ही, ऐसी बात नही । उसतक पहुचने के तो अनेक मार्ग हैं । अहिंसा को गाधीजी एक सक्रिय और गतिशील वस्तु मानते थे । उनके मतानुसार तो वह प्रेम का अभिसरण है । अहिसा के आस-पास वैर नही रहता । वह तो कहते थे, "अहिंसा का जाग्रत लक्षण प्रेम है । अहिंसा का पालन करनेवाला किसीसे वैर कर ही नही सकता । मुझे तो स्वप्न मे भी किसीके प्रति वैर-भाव नही होता ।"

सभी धर्मो को उन्होने खुले मन से समझने का प्रयत्न किया । वैष्णव सस्कार तो उनमे जन्म से ही थे । जैनधर्म के बारे मे भी बचपन से ही ध्यान होगा । श्रवण, हरिश्चद्र आदि के नाटक देखे, तो उनके सस्कार आये । रम्भा ने 'राम' का नाम जीभ पर चढा दिया था । इग्लैण्ड मे ईसाइयो के सम्पर्क मे आये । दक्षिण अफ्रीका मे मुसलमानो और ईसाइयो के विशेष निकट आये । इसपर से हम देख सकते है कि जिस तरह मधुमक्खी सभीसे रस चूसने का प्रयत्न करती है उसी तरह उन्होने भी किया । ऐसा करते हुए उन्होने सभी धर्मो के प्रति अपने अन्दर आदर की भावना पैदा की और धीरे-धीरे सर्वधर्म-समभाव पर आ गये । टाल्स्टाय फार्म मे तो अपनी प्रार्थना मे अन्य धर्मो की प्रार्थना का भी समावेश उन्होने कर लिया था । सभी धर्मो मे कितने शाश्वत तत्व विद्यमान हैं, यह गाधीजी जैसो के जीवन से जाना जा सकता है ।

धर्म की उनकी भावना ऐसी नही थी कि सबसे पृथक् होकर जा बैठा जाय । उन्हे तो वही धर्म इष्ट था, जिसका लोक-व्यवहार करते हुए जीवन मे पालन किया जा सके । कर्म करते हुए प्रभु के दर्शन करना उनका मार्ग था । अविरत कर्म द्वारा ही प्रभु को पाया जा सकता है, ऐसा वह मानते थे । सत्य को पकड़ा तब धीरे-धीरे सत्याग्रह का शस्त्र उनके हाथ आया । वह योही उनकी जेब मे आ पडा हो, ऐसी बात नही, पूरी तरह उसके उपयुक्त हो जाने पर ही वह उनके हाथ आया ।

टाल्स्टाय को पुस्तिका भेजी तो उसमे 'आपका एक विनम्र शिष्य' लिखकर भेजी । गाधीजी मे गिडगिडाहट तो नही मिलेगी, पर विनम्रता उनके प्रत्येक वाक्य मे झलकती है । साथ ही लिखते समय आत्मगौरव का पूरा ध्यान रखते थे । टाल्स्टाय से उन्हे जो चीज मिली वह यह कि "वैकुण्ठ स्वय अपने ही हृदय मे है ।"

गाधीजी की चेतना मे शब्द सर्जनात्मक रूप मे सामने आते है । एक बार एक अग्रेजी लेख का शीर्षक उन्होने दिया 'डैथ डास' और गुजराती मे उसका अनुवाद किया 'पतग-नृत्य', जो निश्चय ही पूर्ण सार्थक था । हम कवि लोग 'इमेज' मागते है न ? यहा गाधीजी ने एक ही शब्द मे कितनी बडी 'इमेज' उपस्थित कर दी ! शब्द को उन्होने खूब कसा है । 'इडियन ओपीनियन' के बारे मे उन्होने ठीक ही लिखा था, "मैं कह सकता हू कि मैने उसमे कभी कोई अतिशयोक्ति नही की और किसीको खुश करने की दृष्टि से कभी कुछ नही लिखा ।"

सत्याग्रह के शस्त्र को भी गाधीजी ने बहुत प्रयत्नपूर्वक उन्नत किया । एक बार बा का स्वास्थ्य बिगड जाने पर बापू ने उनसे कहा, "तुम दाल और नमक खाना छोड दो ।" बा ने जवाब दिया, "ये तो तुमसे कोई कहे तो तुम भी न छोडो ।" बस, फिर क्या था, बापू को अपना प्रेम बताने का मौका मिल गया । उन्होने कहा, "चलो, तुम छोडो या नही, पर मै तो आज से ही एक वर्ष के लिए दाल और नमक छोडता हू ।" इसमे सत्याग्रह का मर्म निहित है । सत्याग्रही दूसरे को समझाने के लिए स्वय महन करता है । प्रेम का सेतु बनाने का यह तरीका है ।

उपवास के शस्त्र का उन्होने कई बार इस्तेमाल किया। उन्होने बताया है कि उसमे "दो बार इस शस्त्र का इस्तेमाल करने मे मैने अतिरेक किया। एक तो अहमदाबाद के मजदूर-आन्दोलन के समय और दूसरी बार राजकोट मे राष्ट्रीय शाला के उपवास के अवसर पर।" सच तो यह है कि उपवास जैसे शस्त्र का उपयोग तो गाधीजी जैसे ही ठीक तरह कर सकते है, क्योकि यह ऐसा शस्त्र है जिसका मूल आत्मशुद्धि मे ही है।

गाधीजी को धर्मपुरुष की कल्पना रायचन्द्रभाई से मिली और टाल्स्टाय से उन्होने सीखा कि 'वैकुण्ठ अपने ही हृदय मे है'। इनका अनुसन्धान करते हुए उन्होने अहिंसा और सत्याग्रह को पाया। तीसरे गुरु रस्किन से उन्हे 'सर्वोदय' की कल्पना मिली। हेनरी पोलक यात्रा के समय गाडी मे पढने के लिए एक किताब दे गये—'अनटू दिस लास्ट'। उस पुस्तक को पढकर गाधीजी विचारो मे ऐसे खोये कि रातभर सो न सके, मानो चारो ओर दीप जल उठे और हृदय के कपाट खुल गये। उन्हे लगा, इस पुस्तक मे जिस तरह बतलाया गया है वैसा ही जीवन-व्यवहार होना चाहिए।

बस, फिर क्या था! गाधीजी ने दरिद्रनारायण को अपनी सारी प्रवृत्ति का केन्द्र बना लिया। गाधीजी को अगर मै कवि कहू तो उसे आप मेरी निरी कवि-कल्पना न माने। उन्होने दरिद्रनारायण पर एक काव्य-कल्पना की थी—'दीड भगी की तरह...' जैसे सामान्य मनुष्य छोटी-सी झोपडी मे रहता है, तू टूटी-फूटी झोपडी मे बैठा है। शरीर पर पूरे वस्त्र भी नही है। और वह महाविनम्र न हो तो काम ही कैसे चले?" इस प्रकार हरएक मे वह परमेश्वर को देखते थे।

१९३४ मे उन्होने कहा था "हिन्दूधर्म का सार तत्व अगर कोई मुझसे पूछे तो मैं ईशावास्य उपनिषद् का प्रथम श्लोक बताऊगा।" वह सारा श्लोक ईश्वरमय है। गाधीजी को क्षण-क्षण मे ऐसी प्रतीति का अनुभव होता था। सत्य की पूजा, दरिद्रनारायण की सेवा, यह सब इस प्रतीति से ही प्रकट हुए। उन्हे व्यक्त करने के लिए सामाजिक आदर्श उन्होने 'सर्वोदय' की कल्पना मे दिया। इससे छोटा आदर्श मानव-जाति की रक्षा नही कर सकता, ऐसी उनकी मान्यता थी।

गाधीजी के साथ मुझे श्रीकृष्ण की याद आती है। सेवा मे श्रीकृष्ण बड़े पारगत थे। कसवध किया, पर स्वय गद्दी पर नही बैठे। गाधीजी ने भी किसी पद को स्वीकार नही किया। अन्त मे तो वह काग्रेस के चवन्नी-सदस्य भी नही रहे। श्रीकृष्ण १८ अक्षौहिणी सेना के बीच भी नि शस्त्र रहे थे। समाधानवृत्ति की भी उन्होने प्रतिष्ठा बढाई। एक बार जरासन्ध से श्रीकृष्ण ने कहा था, "तू राजाओ को इस तरह पकडकर कैद मे रखता है। मेरे जिन्दा रहते तू ऐसा कैसे कर सकता है? मेरे जैसा आदमी जिन्दा हो उस समय कोई ऐसा अन्याय और अत्याचार करे, यह नही हो सकता।"

गाधीजी ने भी अपनी पूर्ण विनम्रता के साथ लगभग ऐसा ही वाक्य लिखा है। जोहानिसबर्ग मे भारतीय अमुक जगह रिश्वत देकर ही रह सकते थे। उस सन्दर्भ मे गाधीजी ने लिखा था, "यह भ्रष्टाचार दूर न हो तो मेरा ट्रासवाल मे रहना व्यर्थ ही होगा।" कहने की जरूरत नही कि श्रीकृष्ण के कथन मे जो बल है, जो भाव है, वही इस वाक्य मे है।

यह बल अततोगत्वा प्रेम का ही बल है, आत्मा का बल है। अपने जीवन द्वारा गाधीजी इसका व्याकरण प्रदान कर गये है।

●

मेरी भक्तिपूर्ण खोजने मुझे 'ईश्वर सत्य है' के प्रचलित मन्त्र के बजाय 'सत्य ही ईश्वर है' का अधिक गहरा मन्त्र दिया है।

—मो० क० गांधी

वैष्णव जन

विष्णु प्रभाकर

●

(प्रारम्भिक सुमधुर भक्ति सगीत की ध्वनि के साथ-साथ वैष्णव जनवाला गीत उभरता हुआ पास आता है ।)

गायक : वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीड पराई जाणे रे,
परदु खे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे ।
सकल लोकमा सहुने वदे, निदा न करे केनी रे,
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन-धन जननी तेनी रे ।

(गीत के ये स्वर धीरे-धीरे पृष्ठभूमि मे जाते हे और सूत्रधार का गम्भीर स्वर उभरता है ।)

सूत्रधार : वैष्णव जन ईश्वर का वह दीवाना है, जो अपने प्रभु को न तो शब्द से प्राप्त करता है, न शास्त्र से । सत्य के सहारे प्रेम के मार्ग से ही उसकी खोज चलती है ।

सूत्रधार ये शब्द उस व्यक्ति है, जो आज से ९९ वर्ष पूर्व इस धरती पर पैदा हुआ था । कालान्तर मे वही महात्मा गाधी के नाम से विख्यात हुआ । उसका नाम उसके जीवनकाल मे ही एक व्यक्ति का पर्याय न रहकर वर्तमान दुखी ससार के लिए आदर्श जीवन का पर्याय बन गया था । जहा कही भी अन्याय और असत्य का बोलवाला होता था वही वह मनुष्य की पीर हरने के लिए पहुच जाता था । दक्षिण अफ्रीका हो या भारत, उसने प्राणो की चिन्ता किये बिना मनुष्यो की मुक्ति के लिए अनथक प्रयत्न किये । अज्ञान और जडता से उसने कभी हार नही मानी और इन प्रयत्नो के लिए शक्ति ग्रहण की इसी भजन से । उसकी अन्तरवाणी मानो इसी भजन मे प्रतिध्वनित होती थी । यह उसकी सच्ची मन स्थिति का प्रतीक था ।

(धीरे-धीरे 'वैष्णव जन' गान उभरता हुआ पास आता है)

गायक वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड पराई जाणे रे
परदु खे उपकार करे, तोए मन अभिमान न आणे रे

(गीत पृष्ठभूमि मे जाता है और सूत्रधार का स्वर उभरता है)

सूत्रधार . वैष्णव जन वह है, जो परदुख-भजक होता है, फिर भी निरभिमानी रहता है । गाधीजी से अधिक दूसरे के दुख-दर्द को समझनेवाला कौन है ! हम उन्हे राष्ट्रपिता कहते है । मानते है, उन्होने देश को स्वाधीन कराया, परन्तु उनका लक्ष्य था मनुष्य के दुख-दर्द को दूर करना । स्वाधीनता तो उस लक्ष्य को पाने का साधन-मात्र थी । उडीसा के प्रवास के समय वहा की दुर्दशा देखकर वह मर्माहत हो उठे थे ।

स्वर : उन्होने कहा था—कितना दारिद्रय और दैन्य है यहा । क्या किया जाय इन लोगो के लिए । जी चाहता है कि मरण की घडी मे यहा आकर इन लोगो के बीच मरू । उस समय जो मुझे यहा मिलने आयगे वे तो इन लोगो की करुण दशा देखेगे । किसी-न-किसी का तो हृदय पसीजेगा ।

सूत्रधार : और किसीका दिल पसीजा हो या न पसीजा हो उनका दिल तो पसीजा ही । उन्होने बार-बार मनुष्य का दुख-दर्द दूर करने के लिए प्राणो की बाजी लगाई । छोटे-से-छोटे व्यक्ति के लिए भी उन्होने अपनी करुणा का स्रोत बहाया । सन् १९२२ मे जब वह जेल मे थे तो उनकी सेवा के लिए एक बद्दू कैदी उनके पास रहता था । वह उनकी भाषा तक न समझता था । सरकार ने उन्हे परेशान करने के लिए ही उसे रख छोडा था । एक दिन उसको बिच्छू ने काट लिया । रोता हुआ वह गाधीजी के पास आया । तब सहज भाव से उन्होने घाव धोकर उसपर अपना मुह लगा दिया और डक खीच लिया । उस गरीब ने कभी ऐसा

प्रेम नही पाया था। वह उनका परम भक्त हो गया। यहीपर उनके एक साथी थे परचुरे शास्त्री। उन्हे कुष्ट हो गया। सबकुछ करने पर भी कोई लाभ नही हुआ। अचानक वह एक दिन आश्रम मे आ पहुचे। सवेरे का समय था। गाधीजी सैर को निकल रहे थे। शास्त्रीजी कुछ कदम की दूरी पर जाकर उनके पास रुके। गठडी जमीन पर रख दी और श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया।

स्वर · बापू बोले, तुम्हारा पत्र मुझे मिल गया था, परन्तु मैने सोचा था कि आने से पहले तुम मेरे पत्र की प्रतीक्षा करोगे।

शास्त्री : सो तो ठीक है, बापू, लेकिन वायसराय के साथ अपनी मुलाकात के बाद आपने जो वक्तव्य दिया, उसे पढकर मै सिहर उठा। दो दिन आपके पास गुजारने की अनिवार्य इच्छा हो आई। मै जानता हू, आने से पहले मुझे आपके पत्र का इन्तजार करना चाहिए था। लेकिन मै अपनेको रोक न सका। अब आपके दर्शन तो मै कर ही चुका। आपको भेट करने के लिए सूत इस गठडी मे है। अब सामने के पेडतले रात बिताकर सबेरा होते ही हरिद्वार लौट जाऊगा।

स्वर : बापू ने पूछा, भोजन हुआ कि नही।

शास्त्री · हा, दोपहर को हुआ था। उसके बाद कुछ नही खाया।

सूत्रधार : बापू ने कनू गाधी को बुलाया और शास्त्रीजी के आतिथ्य का भार उनको सौप दिया। फिर सदा की तरह सैर के लिए चल पडे। इस समय वह बच्चो के साथ खेलते, हँसी-मजाक करते या ऐसी बाते करते जिनका गम्भीर समस्याओ से कोई सम्बन्ध नही होता था। लेकिन उस दिन उनके चेहरे पर भयकर द्वन्द्व की रेखाए उभर आई। शाम की प्रार्थना के बाद भी वह चुपचाप मालिश कराकर सो गये। लेकिन अन्तर-हृदय मे सघर्ष का तुमुल नाद गूजता रहा।

स्वर : क्या परचुरे शास्त्री को वापस लौट जाने दू या आश्रम मे रहने दू। वह कोढी है और आश्रम मे दूसरे लोग भी रहते है। उनके स्वास्थ्य का दायित्व भी तो मुझपर है...लेकिन यह जो व्यक्ति मेरे द्वार पर आया है, ऐसा लगता है जैसे स्वय प्रभु ही मेरे द्वार पर आये है .शास्त्रीजी को लौटाना ऐसा ही होगा न, जैसे प्रभु को द्वार से लौटा देना नही-नही, प्रभु को लौटा देने वाला मै कौन ? वह यही रहेगे। वह वापस नही जायगे।

सूत्रधार : और परचुरे शास्त्री फिर वापस नही गये। यह था बापू के सत्य का एक और प्रयोग। प्रेम के साथ सभीको, क्षुद्र-से-क्षुद्र को भी, यहातक कि जिसे अछूत भी न छूयेगा ऐसे व्यक्ति को भी छाती से लगा लेने-वाली अहिसा की अभिव्यक्ति। स्वाधीनता-सग्राम के गम्भीर क्षणो मे भी शास्त्रीजी के कोढ के घाव उनके नेत्रो के सामने घूमते रहते थे। वह रोज अपने हाथो से उन घावो को साफ करते और शरीर की मालिश करते। एक बार वर्धा मे काग्रेस कार्यकारिणी समिति की एक बहुत ही महत्वपूर्ण बैठक हो रही थी। बापू बीच मे उठे।

स्वर : उन्होने कहा—मुझे बहुत जरूरी काम से सेवाग्राम जाना है।

सूत्रधार : यह सुनकर जवाहरलाल कुछ खीझकर बोले—

जवाहरलाल क्या स्वराज्य से बढकर जरूरी काम सेवा-ग्राम मे है ?

स्वर : बापू ने कहा—हा, मेरे लिए वह स्वराज्य से बढ-कर है।

सूत्रधार : सन् १९४७ मे देश स्वतन्त्र हो गया। लेकिन अग-भग हो जाने के बाद ही। लाखो शरणार्थी घरो से उखडकर इधर-से-उधर भागे। बापू का दिल टूट गया। भारत आनेवाले शरणार्थियो से वह प्रतिदिन दो से चार बजेतक मिलते थे। पर आनवालो का कोई अन्त नही था। बापू थककर चूर-चूर हो जाते थे। कैसे-कैसे सवाल करते थे वे लोग

(स्वर उभरते है)

स्वर : बापू, मुझे नौकरी चाहिए...बापू, मुझे मकान नही मिला...बापू, मेरे घर मे चोरी हो गई, कोई सुनता नही. .बापू मेरी बिल्टी नही छूटती, माल सड रहा है. .बापू मेरा बच्चा खो गया.... .बापू मेरा परिवार कत्ल हो गया...

(स्वर एक दूसरे मे उलझते है और उनके ऊपर 'राम' 'राम' का स्वर छा जाता है ।)

स्वर : बापू कराह उठते, पुकारते—हे राम, हे राम, मै क्या करू । मेज पर कागजों का ढेर लगा है । कब उत्तर दू ? कब सोऊ ?

चादीवाला : तो मुलाकाते अब बन्द कर दू ।

स्वर : बापू कहते, नही मैं यहा इन लोगो के लिए ही तो पडा हू । इन्हे मेरे पास आकर कुछ भी सन्तोष मिल सके तो अच्छा है ।

(गीत फिर उभरता है)

गायक : वैष्णव जन तो तेने कहीए, जे पीड पराई जाणे रे,
सकल लोक मा सहुने वन्दे, निन्दा न करे केनी रे ।
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे ।
वैष्णव जन तो...

(गीत पृष्ठभूमि मे जाता है। सूत्रधार का स्वर उभरता है)

सूत्रधार जो सबकी वन्दना करता है अर्थात् जो सबके सामने नम्रता से झुकता है वही वैष्णव जन है ।

स्वर : गाधीजी के लिए नम्रता का अर्थ था अहम्भाव का आत्यान्तिक क्षय । अहिसा की भावना लाजमी तौर पर विनम्रता की ओर ले जाती है । विनम्रता जल्दी-से-जल्दी सफलता पा लेने का गुर है । गाधीजी ने जीवनभर इसी अहम्भाव से मुक्ति पाने का प्रयोग किया । श्रीकृष्ण ने पाण्डवो के यज्ञ मे अपने लिए अतिथियो के चरण धोने का काम मागा था । बापू ने आश्रम मे बरतन माजे, पानी भरा, मैला साफ करने तक से परहेज न किया । लाला लाजपतराय आये है, उन्हे खाना खिलाना है । कुत्ते परेशान कर रहे है, बापू खडे हुए कुत्तो को भगा रहे है । हकीम अजमलखा साहब खाने पर बैठे हुए है । बा पका रही है और वह ला-लाकर परोस रहे है । खा चुकते है तो हाथ धुलाते है । रात को हकीमसाहब को रतौधी आती है । इसलिए जाते समय आगे बढकर उनके जूते उठा लाते है और उनके पैरो के पास लाकर रख देते हे । नोआखाली मे अकेले घूम रहे हे । उन सकरी पगडडियो पर जहा-तहा थूक, मलमूत्र पडा दिखाई देता है । वह नगे पैर चलते हे और चलते-चलते आस-पास के सूखे पत्ते उठाकर अपने हाथो से मैला साफ करने लगते हे ।

सूत्रधार : और गाधीजी जीवनभर गन्दे को साफ ही बनाते रहे, शब्द से नही कर्म से । जो कर्म करता है वही वैष्णव जन है । वह किसीकी निन्दा नही करता । 'निन्दा न करे केनी रे ।' एक दिन सूत कातने के बाद वह उसे लपेटे पर लपेटने जा रहे थे कि उन्हे किसी जरूरी काम से बाहर जाना पडा । जाते समय अपने स्टेनो श्री सुबैय्या से बोले—सूत लपेटे पर उतार लेना, तार गिन लेना और प्रार्थना के समय से पहले मुझे बता देना । नियम यह था कि प्रार्थना शुरू करने से पहले सबकी हाजिरी ली जाती थी । उसी समय प्रत्येक व्यक्ति अपने कते हुए तारो की सख्या भी बता देता था । सूची मे सबसे पहला नाम गाधीजी का था । हाजिरी लेनेवाले ने पुकारा . 'गाधीजी ।'

स्वर गाधीजी ने कहा—'ओम ।'

सूत्रधार तभी याद आया कि सूत के तारो की सख्या तो सुबैय्या ने बताई ही नही । उन्होने उसकी ओर देखा, सुबैय्या चुप, गाधीजी भी चुप । हाजिरी आगे बढी । प्रार्थना शुरू हुई, समाप्त भी हो गई । बापू ने बातचीत शुरू की । तब उनके चेहरे पर गहरी वेदना उभर आई थी । दर्दभरे स्वर मे वह बोले—

स्वर मैने आज भाई सुबैय्या से कहा था कि मेरा सूत उतार लेना और मुझे तारो की सख्या बता देना, लेकिन मेरी बडी भूल थी । मुझे अपना काम आप ही करना चाहिए था । मैने नही किया । भाई सुबैय्या का इसमे कोई दोष नही । मेरा ही दोष हे । मैने क्यो अपना काम उनके भरोसे छोड दिया । मुझसे यह प्रमाद क्यो हुआ । सत्य के साधक को ऐसे प्रमाद से बचना चाहिए । आज की इस भूल से मैने एक बहुत बडा पाठ सीखा । अब मै फिर ऐसी भूल कभी नही करूगा ।

सूत्रधार : गाधीजी मानते थे कि कमी तो कही मुझमे ही है, जिसके कारण दूसरो से अपराध हुआ । मुझे उनकी निन्दा करने का कोई अधिकार नही । [वैष्णव जन

किसीकी निन्दा नही करता । वैष्णव जन का एक और गुण है—

(पृष्ठभूमि मे गायक का स्वर पास आता है)

गायक वाछ काछ मन निश्चल राखे, धन-धन जननी तेनी रे ।

सूत्रधार : जो वाचा दृढ रखता है, जो आचार दृढ रखता है, जो मन दृढ रखता है, उसकी जननी को धन्य है । वैष्णव जन न तो अशान्त हो सकता और न अस्थिर । वह सत्य को देख लेता है और फिर निश्चल हो जाता है । भयकर-से-भयकर सकट मे भी डगमगाता नही, क्योकि वह सत्य का सघर्ष है और सत्य का सघर्ष कठोर और लम्बा होता है । अफ्रीका मे सत्याग्रह के समय उनके साथी केलनवैक जेब मे पिस्तौल रखकर उनके साथ चलते थे । एक दिन उन्होने देख लिया । बोले

स्वर : चलो अव तो मै पूरा निश्चित हो गया । मेरी रक्षा का सारा भार परमेश्वर से आपने ले लिया । जवतक आप मौजूद है, मुझे अपनेको सुरक्षित मानना चाहिए ।

सूत्रधार सुनकर वेचारे केलनवैक पानी-पानी हो आये । उन्होने उसी क्षण पिस्तौल फेक दी । लेकिन बापू की निश्चलता की परीक्षा तो उस दिन हुई जिस दिन असहयोग आन्दोलन के प्रथम चरण मे अकस्मात् एक दिन चौरी चौरा मे भयानक दुर्घटना घटित हो गई । अहिसक होने के सवध मे देशवासियो के प्रति उनका विश्वास हिल गया ।

तब यह बात सारी दुनिया के आगे निष्कपट भाव से प्रगट करने मे उन्हे लेशमात्र भी दुविधा न हुई । अपनी भूल बारम्वार स्वीकार करके राजशक्ति के साथ शीघ्र होनेवाले तीव्र सघर्ष की सम्भावनाओ को उन्होने क्षणभर मे अपने हाथ से रोक दिया । केवल महात्माजी ही ऐसी स्थिति मे सत्याग्रह स्थगित कर सकते थे, दुनिया मे और कोई नही ।

सूत्रधार : लेकिन वैष्णव जन के लिए केवल इतना ही तो काफी नही है । नरसी मेहता आगे कहते है :

(गायक का स्वर उभरता है)

गायक : समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी पर-स्त्री जेने मात रे, जिह्वा थकी असत्य न बोले, पर-धन नव-झाले हाथ रे ।

स्वर : वैष्णव जन वह है जो सम-दृष्टि होता है, जो तृष्णा-रहित होता है । जो एक पत्नी-व्रत पालता है, सत्य-व्रत पालता है, यानी कभी असत्य नही बोलता और अस्तेय पालता है, यानी दूसरे के पैसे को कभी नही छूता ।

सूत्रधार : जिस व्यक्ति ने अस्पृश्यता का कलक धोने के लिए बार-बार अपने प्राणो की वाजी लगाई, वह सम-दृष्टि नही तो और क्या है । उन्होने कहा—

स्वर : गीता मे भी यह कहा गया है समदर्शी के लिए ब्राह्मण, श्वान, अन्त्यज सब एक जैसे है । नरसैया भी कहता है कि वैष्णव जन मे सम-दृष्टि होनी चाहिए । वैष्णव जन अन्त्यज को सर्वथा अस्पृश्य मानते हुए उसके प्रति समदर्शी होने का दावा नही कर सकता । यदि मेरा पुनर्जन्म हो तो मै अछूत होकर जन्मना चाहूगा, ताकि मै उनके दुख-दर्द मे और उनके अपमान मे भाग ले सकू और अपने-आपको तथा उनको उस दयनीय अवस्था से छुडाने का यत्न कर सकू ।

सूत्रधार : उनकी इस अदम्य इच्छा-शक्ति और दुर्दमनीय प्रयत्नो के कारण ही तो स्वाधीन भारत ने युग-युग की इस लानत को कलम की एक नोक से एक क्षण मे समाप्त कर दिया । जो सत्य का उपासक है, उसके लिए अपने एक-एक शब्द का अर्थ होता है और वह उस अर्थ को जीना जानता है । एक व्यक्ति ने आश्रम मे राष्ट्रीय शाला का मकान बनवाने के लिए उन्हे चालीस हजार रुपये दिये, लेकिन इससे पहले कि मकान बन सकता, नगर मे इन्फ्लुएन्जा आ गया । रोज सौ-सौ, दो-दोसौ आदमी मरने लगे । नगर मे हाहाकार मच गया । तव बापू ने रुपये लानेवाले व्यक्ति से कहा—

स्वर इस साल तो मकान नही बन सकता, इसलिए सोमालालभाई ने जो रुपये दिये है, वे उन्हे वापस कर दो ।

व्यक्ति : लेकिन उन्होने तो पैसे वापस नही मागे ।

स्वर : वापू बोले, तो भी क्या हुआ, जिस काम के लिए उन्होने पैसे दिये वह तो अभी हो नही रहा, फिर

क्यो यह पैसे सभाले जाय। हम किसीके पैसे सभालकर रखने के लिए यहा थोडे ही वैठे है।

सूत्रधार . ऐसा ही व्यक्ति तो वैष्णव जन हो सकता हे और वही हो सकता है सत्य का उपासक। बापू के लिए सत्य सर्वोपरि था। सत्य ही उनके लिए भक्ति और मरकर जीने का मन्त्र था। इसी सत्य को उन्होने अपने जीवन मे समा लिया। जव वह अफ्रीका मे थे तव वहा एक व्यक्ति ने अपने पडौसी का खून कर डाला, फिर अपनी रक्षा के लिए वह बैरिस्टर गाधी की शरण मे आया। वह जानता था कि सत्य-निष्ठ गाधी उसकी वकालत करेंगे तो वह छूट जायगा। गाधीजी ने उसके मुकदमे का अध्ययन किया। उन्हे विश्वास हो गया कि इसने सचमुच खून किया है। तुरन्त वोले—

स्वर : मैं तुम्हारा वचाव नही कर सकता। तुमने खून किया है।

व्यक्ति · वह तो मैंने किया है। इसीलिए तो आपकी शरण मे आया हू। फीस के रूप मे आपको एक हजार पौण्ड दूगा।

स्वर . वापू ने हँसकर कहा, मै पैसे के लिए वकालत नही करता, सत्य के लिए करता हू।

सूत्रधार और गाधीजी ने वह मुकदमा नही लडा। उस व्यक्ति ने एक हजार पौण्ड देकर तीन वकीलो को खडा किया। उन वकीलो ने दाव-पेच लगाकर उसे छुडा भी लिया। खुशी मे वह फूला हुआ वह गाधीजी के पास आया।

व्यक्ति . आप समझते थे कि आपके सिवाय दूसरा कोई मुझे वचा नही सकता। देखिए मै आपके सामने छूटकर आ गया या नही।

स्वर गाधीजी वोले, भाई, क्या आप जानते है, आपको अपने छुटकारे के लिए कितनी वडी कीमत चुकानी पडी है?

व्यक्ति : आप एक हजार पौण्ड की वात कहते है। मैं इससे भी अधिक खर्च कर सकता था।

स्वर · गावीजी वोले, मैं पैसे की वात नही करता। आपने सच्चाई और ईमानदारी का खून किया। यह आपने कोई मामूली कीमत चुकाई है?

सूत्रधार · वचपन से ही वह सत्य के उपासक रहे थे। उन्होने अपना सोने का कडा तोडकर वेचा था। जवतक उन्होने पिता के सामने जाकर उस अपराध को स्वीकार नही कर लिया तवतक उन्हे चैन नही पडी। जो सत्य का इतना वडा उपासक हो सकता है, वह क्या कभी इस तरह के धन को छू सकता है।

स्वर : उन्होने कहा, अगर मैं किसी ऐसी चीज पर कब्जा कर वैठू जो मेरे भाई के लिए जरूरी है, तो उतने अश मे मै चोर सावित होता हू।

सूत्रधार . जिस समय वह अफ्रीका से वापस लौटे तो वहा के भारतवासियो ने उन्हे तरह-तरह के मूल्यवान उपहार भेट किये। उनमे सोने-चादी और हीरे-जवाहरात की अनेक चीजे थी। उस रात वह सो नही सके। एक प्रश्न उनके मन मे घुमडता रहा।

स्वर : क्या मुझे यह सारे उपहार अपने पास रखने चाहिए? क्या इन्हे अपनी चीज समझकर अपने निज के उपयोग के लिए उनको अपने पास रखने से मेरी सेवा-शक्ति वढेगी? क्या सार्वजनिक सेवा का कोई पुरस्कार अथवा उपहार लेना सेवक के लिए श्रेयस्कर होगा? (म्यूजिक अप)

सूत्रधार सारी रात एक तूफान उनके अन्तर मे घुमडता रहा। भोर होते ही उन्होने पत्नी और बच्चो को समझाया और निश्चय किया कि उपहार मे मिली चीजे जिनकी ओर से मिली है उन्हीकी सेवा के काम मे लगनी चाहिए। तव कही जाकर उनका मन शान्त हुआ। उस युग मे सार्वजनिक धन के प्रति ऐसी निस्पृहता रखनेवाले कहा थे। उन्होने अपने आचरण द्वारा एक नया मानदण्ड सार्वजनिक सेवको के सामने रखा। सन् १९२९ की बात है। आश्रम मे कोठार का काम उनके एक भतीजे देखते थे। उनके हिसाव मे कुछ गडवडी पाई गई। उन्होने असत्य का आचरण किया। वापू विकल हो उठे। भतीजे के अपराध स्वीकार कर लेने पर भी करुण विपाद की गहरी छाया ने उन्हे ग्रस लिया। वार-वार कहने लगे—

स्वर : यह मेरे ही किसी दोष का प्रतिबिम्ब है। दोषी मै हू।

सूत्रधार : इसी समय किसीने उन्हे बताया।

स्वर १ : बापू, आश्रम मे आनेवाले एक अतिथि ने माता कस्तूरबा को चार रुपये भेट किये थे। यह रकम उन्होंने तुरन्त आश्रम के दफ्तर मे जमा कराई।

स्वर २ : नही-नही, बाद मे याद दिलाने पर जमा करा दिये थे, भाई!

सूत्रधार : लेकिन बापू को इससे सन्तोष नही हुआ। उन्होने बा को दोषी माना। उनसे वचन लिया कि अगर फिर ऐसा हुआ तो वह आश्रम छोड देगी। लेकिन फिर भी क्या मह शान्त हो सके। तीन बजे रात तक मथन चलता रहा। फिर वह कलम लेकर लिखने बैठ गए। उस रात उन्होने जो लेख लिखा, "मेरा दुख मेरी शर्म" वह ऐतिहासिक लेख है। उन्होने अपनी पत्नी और अपने भतीजे के दोषो की चर्चा करते हुए अपना हृदय जनता के सामने उडेल दिया।

स्वर मै अपने पापो को देखने और उन्हे दूर करने के लिए हमेशा तैयार रहता हू। इस कारण ऐसे-ऐसे दोषो को देखते हुए भी मै यह आशा रखकर जी रहा हू कि आश्रम अपने नाम की योग्यता को अभी भी सिद्ध करेगा और फिर से मन्दिर मिटकर आश्रम बनेगा। इसी कारण अभी तो मै यही विचार रखता हू। जैसे-जैसे कमजोरिया प्रकट होती जाय, वैसे-वैसे मैं उन्हे जाहिर करता जाऊ और मन्दिर को निभाता जाऊ। अपनी इसी पापी अपूर्ण सस्था के द्वारा मै प्रभु से मिलने की आशा रखता हू। इस सस्था को मै अच्छी-से-अच्छी कृति मानता हू। मैं कहता रहता हूं कि यह सस्था मुझे मापने का गज है। इन पापो के प्रकट हो जाने पर भी मेरी इस कल्पना मे कोई फेरफार नही हुआ।

सूत्रधार : इस लेख को पढकर सरोजिनी नायडू तिलमिला उठी थी। उन्होने कहा था—

सरोजिनी नायडू : बापू ने कस्तूर बा पर जो आरोप लगाये है, उनसे मेरे हृदय पर गहरी चोट लगी है। मैं इसे कस्तूर बा का ही नही सारी नारी-जाति का अपमान मानती हू।

स्वर : बापू बोले, सरोजिनीदेवी, आज की यह घडी इस तरह नाराज होने की नही है, बल्कि खुशी से नाचने की है। तुम यह समझ लो कि भगवान ने हमपर बडी कृपा की। अगर वह मुझसे यह लेख न लिखवाता और आश्रम मे जो दोष प्रगट हुए है, उन्हे दबाकर बैठ जाता तो यह आश्रम आश्रम न रहता, नरकधाम बन जाता और इसमे रहनेवाले हम सब अन्दर-ही-अन्दर सडने लगते। मै तो मानता हू कि मुझसे लेख लिखवाकर भगवान ने हम सबको उबार लिया है। फूल की तरह हलका बना दिया है।

सूत्रधार : वैष्णव जन अपराध-स्वीकृति मे ही अपराध-निवृत्ति मानता है। बापू ने बार-बार अपनो के दोषो को अपने दोष मानकर पश्चात्ताप किया। मोह-माया उन्हे कभी नही व्यापी (गायक का स्वर उभरता है)

गायक : मोह माया व्यापै नही जेने, दृढ वैराग्य जेना मनमा रे, राम नाम शु ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमा रे। (स्वर पृष्ठभूमि मे जाते है और सूत्रधार का स्वर उभरता है)

सूत्रधार : वैष्णव वह है जो मायातीत होता है। जो वीत-राग होता है, जो रामनाम मे तल्लीन होता है। उसके रोम-रोम मे सारे तीर्थ समाए हुए है। वह परम पवित्र है। बापू आध्र प्रान्त मे हरिजन-यात्रा पर थे। सभा मे अपार भीड थी। भाषण पूरा होते ही एक नवयुवक मच की ओर लपका। स्वय-सेवको ने उसे रोका।

स्वयं-सेवक : ठहरो-ठहरो, तुम किधर जा रहे हो।

युवक : मुझे महात्माजी के पास जाने दो। मुझे उन्हे एक भेट देनी है।

स्वयं-सेवक : तब इधर से आओ। वह देखो, वह रहे बापू। बापूजी, युवक कुछ भेट लेकर आया है।

युवक : बापूजी मै एक चित्रकार हू। यह मेरी कला का नमूना एक चित्र है। मुझ गरीब की यह भेट स्वीकार कीजिए।

स्वर : बापू बोले—मैं इस चित्र को कहा ले जाऊगा ? मेरा न घर, न बार। मै इसे कहा लगाऊगा ? यह सारा

बोझ बढाकर मैं क्या करूगा ? मुझे तो लगता है कि इस देह का भी भार न हो तो कितना अच्छा। इस-लिए यह चित्र तुम अपने पास ही रखो।

सूत्रधार : बापू को वह चित्र अच्छा लगा। पर अच्छा लगने से ही तो कोई चीज अपने पास नही रखी जा सकती।

सूत्रधार : वैष्णव जन मनुष्य का दास बन सकता है, परन्तु मन का नही। ऐसे कितने ही अवसर आये, जब उन्होने मन को गुलामी मे बाधनेवाले फन्दो को कठोरता से तोड फेका। नोआखली-यात्रा के अवसर पर सतीश-बाबू ने उनके लिए एक चलती-फिरती झौपडी बनाई।

स्वर . बापू बोले, देखो सतीशबाबू ने मेरे महल के लिए कितनी मेहनत की। उन्होने मुझपर कितना प्रेम बरसाया। लेकिन इतने बडे प्रेम का मै अकेले ही कैसे उपयोग करू। इसलिए मैने निश्चय कर लिया है कि यही उसका एक छोटा-सा दवाखाना बनवा दू। मै तो इधर-उधर जहा भी जगह मिलेगी, वही आराम से पडा रहूगा और यदि कही न मिले तो इतने झाड तो है ही। वे हमे कहा मना करते है। वही आराम से पडे रहेगे। जैसे रामजी को निभाना होगा निभाएगा।

सूत्रधार : जिसने मोह-माया को जीत लिया है राम ही तो उसे निभाते है। बचपन मे दाई ने कहा था, डर लगे तो राम का नाम लेना। जीवन के अन्तिम क्षण तक वह अपने राम मे ही डूबे रहे।

स्वर उन्होने कहा, मै ससार मे यदि व्यभिचारी होने से बचा हू तो रामनाम की बदौलत। मैने दावे तो बडे-बडे किये है, परन्तु यदि मेरे पास राम-नाम न होता तो स्त्रियो को बहन कहने लायक न रहा होता। जब-जब मुझपर विकट प्रसग आये, मैंने रामनाम लिया है और मैं बच गया हू।

सूत्रधार . ऐसा ही एक विकट प्रसग राजकोट आन्दोलन के समय आया था। उनकी प्रार्थना-सभा मे अपार भीड थी। इस जन-बल से राज्य के अधिकारी घबरा उठे। उन्होने भाडे के बदमाशो की एक टोली को उस भीड पर टूट पडने का काम सौंपा। प्रार्थना समाप्त हो जाने पर बापू सदा की तरह मोटर की ओर चले। परन्तु भाडे के बदमाशो ने स्वय-सेवको की कतार तोडकर उन्हे घेर लिया। काकासाहब कालेलकर के पुत्र बाल कालेलकर उनके साथ थे। उन्होने देखा बापू के प्राण खतरे से खाली नही है। वह उस हुल्लड मे घुस पडे। भीड टोलियो मे बटकर हाथा-पाई कर रही थी। सहसा बापू का शरीर थरथर कापने लगा। क्या वह डर रहे थे। नही, वह वातावरण मे व्याप्त हिसा की प्रतिक्रिया थी। वह अस्वस्थ थे। किसी भी क्षण गिर सकते थे। लेकिन उन्होने आखे मूद ली और परम श्रद्धा के साथ 'रामनाम' का जप करने लगे। (वातावरण मे उत्तेजना है, पर धीरे-धीरे 'राम नाम' का उठता हुआ दृढ स्वर उसपर छा जाता है।)

सूत्रधार कई क्षण तक यही स्वर गूजता रहा। जैसे सारा विश्व इसी एक शब्द से भर उठा हो। जब बापूजी ने आखे खोली तो वातावरण बदल चुका था। एक जादुई शक्ति वहा व्याप्त थी।

स्वर : उन्होने कहा, सब स्वय-सेवक और आश्रमवासी तुरन्त यहा से चले जाय। मुझे इनकी दया पर छोड दे। मै आज मोटर मे भी नही बैठूगा। पैदल चलकर घर आऊगा। और तुम सुनो भाई, यदि तुम मुझसे बात करना चाहते हो तो अभी कर सकते हो और यदि तुम्हारा विचार कुछ और है तो वह बता दो।

सूत्रधार . बापू के स्वर कान मे पडते ही गुडो की हिसा मोम की तरह पिघल गई। सरदार हाथ जोडकर उनके आगे खडा हो गया। बोला—

सरदार : मुझे माफ कर दो, बापूजी। मुझे आपसे क्या बहस करनी है ? आप अपना हाथ मेरे कन्धे पर रखिए, जहा भी आप चलने को फरमाए, मै आपको सुरक्षित पहुचा दू।

सूत्रधार : और उस शाम बापू अपना एक हाथ गुण्डो के सरदार के कधे पर रखकर अपने डेरे पर लौटे। जो भक्षक बनकर आया था वही रक्षक बनकर रह गया। ऐसी थी उनके रामनाम की शक्ति। प्रार्थना की शक्ति, आत्म-विश्वास और निर्भीकता की ही शक्ति है। वही सबसे बडा तीर्थ है। उस तीर्थ की यात्रा केवल वैष्णव जन ही कर सकता है। (गायक के स्वर उभरते है)

गायक : वण लोभी ने कपट-रहित छे काम क्रोध निवार्या रे,
भणे नरसैंयो तेनु दरसन करता कुल एकतेर तार्या रे।

स्वर वैष्णव वह है जो लोभ-रहित होता है, कपट-रहित होता है, काम-रहित होता है, क्रोध-रहित होता है। ऐसे वैष्णव जन का दर्शन करने से ७१ पीढिया तर जाती है।

सूत्रधार : बापू का सारा जीवन स्फटिक मणि के समान था। जो बाहर, वही भीतर। तभी तो हिन्दू विश्वविद्यालय काशी मे ४ फरवरी १९१६ को बोलते हुए वायसराय और राजा-महाराजा की उपस्थिति मे उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा—

स्वर : कल महाराजा ने भारत की गरीबी का जिक्र किया था। अन्य वक्ताओ ने भी उसपर खूब जोर दिया। परन्तु जिस मण्डल मे वायसराय ने शिलान्यास किया, वहा हमने क्या देखा। निश्चय ही एक बडा भारी भडकदार तमाशा और रत्नाभूषणो की एक प्रदर्शिनी जो पेरिस से आनेवाले बडे-से-बडे जौहरी की आखो के लिए भी तृप्ति का भव्य दृश्य बनी हुई थी। बहुमूल्य वस्त्राभूपणो से सजे-सजाए इन रईसो के साथ मैं करोडो गरीबो की तुलना करता हू। मुझे इन रईसो से यह कहने की आन्तरिक इच्छा होती है—जबतक आप लोग इन आभूपणो को बिल्कुल न उतार देगे और इन्हे भारत के अन्य देशवासियो की अमानत के रूप मे नही रखेंगे, तबतक भारत का निस्तार नही।

(तीव्र उत्तेजना 'वाह-वाह' और 'नही-नही' के स्वर 'गाधी बोले जाओ', 'गाधी बैठ जाओ' के स्वर आपस मे टकराते है। फिर सबकुछ पृष्ठभूमि मे जाता है)

सूत्रधार : सभा भग हो गई। लेकिन उस दिन भारत ने उस व्यक्ति का स्वर सुना, जो छल-कपट से रहित था। ज्ञानी कह सकते है कि वह विवेकशील नही था, पर वह वैष्णव जन निश्चय ही था।

सूत्रधार : बापू अपने सिरजनहार के प्रति सदा सच्चे रहे। अन्तिम क्षण मे भी जब हत्यारे की गोली उनके वक्ष के पार हो रही थी, तब भी उनके मुख से निकला, 'हे राम अर्थात्, हे मेरे सिरजनहार मै तो तेरी ही शरण मे हू। तू जैसे चाहे रख।' चरम आत्म-सयम और अनुद्विगता के मामले मे सुकरात के बाद ससार मे बापू के समान और कोई नही पैदा हुआ। उनकी अजेय स्थिरता और अविचलता को देखकर यह अच्छी तरह समझ मे आ जाता है कि हत्यारे ने उन्हे गोली क्यो मारी थी। वही उनका परम सत्य था, वही उनकी परम उपलब्धि थी। यह उपलब्धि जो चरम-मुक्ति और चरम निव्वान ही है, वैष्णव-जन को ही प्राप्त हो सकती है। उस वैष्णव जन के दर्शन से ७१ पीढिया तो क्या मन्वन्तर तर जाते है, क्योकि वही तो शुद्ध हृदयवाला है। और केवल शुद्ध हृदयवाला ही ईश्वर और मनुष्य से प्रेम कर सकता है। इसके लिए इस भावना से वढकर मूल्यवान और कुछ नही। हमने किसी दूसरे के दुख मे हिस्सा वटाया। अहकार-रहित, भला करने के अभिमान से शून्य, पूर्ण दयालुता ही धर्म का सर्वोच्च रूप है। ईश्वर ने अपने दीवानो को अजीब-अजीब वेशो मे दुनिया को जाचने के लिए भेज दिया और कह दिया जाओ तुम ऐसे ज्ञान का प्रचार करो जो समय से पूर्व हो। सब दुख आखे खोल-कर सहो और परिवर्तन का मार्ग साफ करो। ईश्वर के ये दीवाने वैष्णव जन होते है।

(पृष्ठभूमि मे गायक का स्वर पास आता हे)

मनोविकार हमारे सच्चे शत्रु है, यह समझकर उनसे नित्य युद्ध करते रहे।
—मो० क० गांधी

बापू और 'वैष्णव जन'

कमलनयन बजाज

गाधीजी के जीवन पर भगवद्भक्त नरसी मेहता के 'वैष्णव जन' भजन का गहरा प्रभाव था। किसी भी गभीर स्थिति पर या मार्मिक अवसर पर जब बापूजी को गहरा चिंतन-मनन करना होता या व्यापक विचारो से मुक्त होना होता तो वे 'वैष्णव जन' भजन मे तल्लीन हो जाया करते थे। इसी तरह कभी जेल जाने के मौके पर या किसी स्वजन आश्रमवासी का वियोग हो जाता या विदेश जाना होता अथवा विवाह आदि का कोई धार्मिक प्रसग उपस्थित होता तब, या आनन्द-उल्लास का और कोई अवसर आ जाता उस समय बापू विशेषतया नरसी मेहता के इसी भजन को गाते और गवाया करते थे।

"वैष्णव जन" यह शब्द 'विष्णु के जन' से बना है। इसमे कवि ने वैष्णव जन कैसा हो, उसको इस प्रकार कहा है

१ परदुखकातरता, २ निरभिमानता, ३ विनम्रता, ४ किसीकी निन्दा न करना, ५ मन, वचन और कर्म की दृढता, ६ सम-दृष्टि, ७ तृष्णा का त्याग, ८ एकपत्नी-व्रत ९ सत्यनिष्ठा, १० अस्तेय, ११ मोह-माया से मुक्ति, १२ वीतरागता, १३ रामनाम की महिमा, १४ पवित्रता, १५ कपटरहितता तथा १६ काम, क्रोध और लोभ का निवारण।

ये सारे लक्षण वैष्णव-जन पर जितने लागू होते है, उतने ही किसी सच्चे इसान, देश के नागरिक या यो कहिये, मानव-प्रेमीजनो पर भी लागू होते है।

अर्जुन जैसे विद्वान, ज्ञानी के लिए भगवान कृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय मे स्थितप्रज्ञ के लक्षणो का वर्णन किया है। उन्हीको नरसी मेहता ने सामान्य जनो के लिए 'वैष्णव जन' भजन मे सरलता से समझाया है। वे मूलत स्थितप्रज्ञ के लक्षणो के अनुरूप ही हे। दोनो के शब्दो मे अन्तर है, भावार्थ मे नही। तत्वत दोनो एक रूप ही हे।

'रघुपति राघव राजा राम' की धुन मे साक्षात् भगवान को ही पतितपावन कहा है। गाधीजी के शब्दो मे दरिद्र ही नारायण है। उसकी सेवा करना, उसीका चिंतन करना, दरिद्रनारायण की ही सेवा-पूजा करना है। ऐसा ऐक्यभाव होने पर भक्त और भगवान मे अन्तर नही रह जाता। इसका सुन्दर उदाहरण है राम और हनुमान का। हनुमान ने राम से भिन्न अपना अस्तित्व रखा ही नही, बल्कि वह अपने-आप शून्यवत् हो गया। वह राम मे लीन ही नही, सपूर्णत समर्पित हो गया। इस तरह राममय हुआ, स्वय राम ही हो गया। अत रामायण काल के पात्रो मे राम के अलावा हनुमान को ही वरदान देने की शक्ति है, अन्य किसीको नही। राम की मूर्ति को प्राण प्रतिष्ठा करनी पडती है, लेकिन हनुमान की मूर्ति तो जहा भी पत्थर को जरा सिंदूर लगाया तैयार हो जाती है।

'रघुपति राघव राजा राम' की धुन का द्वितीय चरण है—

'पतित पावन सीताराम'। इसमे हरिजनोद्धार और वैष्णव जन की महिमा दोनो का गुणगान आ जाता है। इसीसे बापू को यह धुन इतनी अधिक प्रिय हुई होगी। अब तो यह गाधी-स्मृति का पवित्र प्रतीक बन गई है।

ये सारे लक्षण बापू ने अपने जीवन मे आत्मसात् किये थे। प्रारभ मे उन्होने इन लक्षणो का निरतर ध्यान ही नही, जप भी किया हो, ऐसा प्रतीत होता हे। बापू का जप करने का और प्रार्थना करने का तरीका मौन ही था। इसी तरह उन्होने जीवन-साधना की और भक्ति उगाई।

बापू के जीवन मे ऐसे कई प्रसग आये होगे, जबकि निर्णय लेते समय वैष्णवजन के इन उदाहरणो द्वारा उन्हे सीधा-सच्चा मार्ग-दर्शन मिला होगा और निर्णय लेने मे

सुविधा हुई होगी। इस प्रकार के दृष्टातो से बुद्धि मे स्पष्टता, निर्णय मे दृढता, लक्ष्य मे निष्ठा और जीवन मे सरलता स्वाभाविक रूप से आ जाती है।

देश के राष्ट्रीय एव सामाजिक जीवन मे, विशेषकर बापू के आश्रम-जीवन मे ऐसी अनेक घटनाए है, जबकि राष्ट्रीय नेताओ से, समाज-सेवियो से और आश्रमवासियो से उनके वैयक्तिक और सामूहिक जीवन मे भूले हुई। उनको ढाढस देते हुए और जीवन मे दुबारा वैसी भूल न हो, इस ओर ध्यान आकर्षित करते हुए बापू वैष्णव जन के लक्षणो का केवल उदाहरण ही नही देते थे, बल्कि सामनेवाले व्यक्ति के जीवन पर उनका प्रभाव पड सके, इसके लिए उनका सूक्ष्म विश्लेषण भी करते थे और तदनुकूल वातावरण बनाने के लिए इस भजन को अच्छी तरह गवाते भी थे। मुझे ध्यान है कि विवाहो के अवसर पर खासतौर से बापूजी इस भजन का पाठ कराते और नवदम्पति को वैष्णव जन के लक्षणो के सबध मे समय के अनुरूप उपदेश भी देते थे। एक बार किसी बडे नेता के द्वारा कुछ भूल हुई। वह सवाल बापू के सामने आया। बापू और उनके बीच क्या चर्चा हुई, यह तो वे ही जाने, परन्तु उस दिन प्रार्थना मे बापू ने 'वैष्णव जन तो तेने कहिये' यह भजन गवाया। उसके बाद, मेरा ख्याल है कि बापू को उन्हे कुछ खास समझाना पडा हो, ऐसा आभास नही हुआ। बापू के सान्निध्य मे यह भजन सुनने से ही उनका हृदय भर आया और हल्का भी हुआ। प्रार्थना मे शामिल हुए हम लोगो को भी स्पष्टता से इसका अनुभव हुआ।

बापू को अपनी माताजी से परम्परागत रामनाम लेने के सस्कार मिले थे। वह आदतन सहज स्वभाव से ही रामनाम लेते थे। फिर भी उनका स्वाभाविक जीवन जितना राम के अनुरूप था, उससे कृष्ण के अनुरूप अधिक था। राम ने सब प्रकार के स्वकर्म किये, लेकिन प्रवचन नही दिये। राम की कृति बोलती है, राम नही बोलता। वह न किसीको समझाते है, न उपदेश देते है। वह आदर्श पुरुष हुए, इसीलिए उन्हे मर्यादा पुरुषोत्तम कहा गया है।

कृष्ण ने भी कर्म किये। पर वह उनका स्वभाव-धर्म था। कृष्ण नाम ही 'कृ' धातु पर से बना है। 'कृ' से कृषि बनी और कृषि पर से कृष्ण और कृष्ण पर से किसान बना। उसने सबकुछ किया, सब तरह का सेवाधर्म निभाया, सब शास्त्रो मे पारगत हुआ, जीवन की सब कलाओ से वह पूरी तरह अवगत था, वह सर्वज्ञ था, अर्थात् सारी विधाओ मे निष्णात था, ज्ञानी था। आवश्यकता खडी होने पर कृष्ण ने सब तरह के काम किये। युद्ध मे लडे भी और यदि कोई दूसरा लडनेवाला आ गया तो हथियार डाल दिये। वह मोल, तोल, पचायत और जरूरत पडने पर सधि भी कराते थे। यू भी जहा कही भेद मतभेद खडे हो जाते, वहा दोनो पक्षो के लोगो का स्वधर्म क्या है, यह वह समझते थे। वह तत्वज्ञानी थे और उपदेशक भी। बापू का जीवन भी वैसा ही था, बल्कि मृत्यु भी कृष्ण के अनुरूप रही। कृष्ण बाण से मारे गये तो बापू बन्दूक की गोली से। फिर भी बापू ने राम और कृष्ण मे फरक नही किया। फरक है भी कहा।

कृष्ण विष्णु का अवतार है। कृष्ण के अनुरूप होना ही विष्णु-जन—वैष्णव जन—होना है। वही बापू का रूप था। धार्मिक प्रवृत्ति के होते हुए भी राजनीति मे वह प्रवृत्त हुए और धर्माधारित राजनीति को ही उन्होने अपनाया। इसीसे उनके स्वराज्य-प्राप्ति आन्दोलनो ने भी सत्याग्रह का स्वरूप धारण किया तथा सत्य के प्रयोग और सत्य की उपासना करते हुए बापू के जीवन मे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो एकाकार हो गईं और वह सही माने मे वैष्णव जन सिद्ध हुए।

भगवान विष्णु जगत का पालनकर्ता है। फिर भी वह न कुछ करता है, न बोलता ही है। गीता के शब्दो मे वह अकर्ता होते हुए भी सबकुछ करता है। अकर्मा होते हुए भी सब कर्म करता है। अत वह विकर्मा भी है। इसी तरह कर्मरत कृष्ण का अन्तिम जीवन भी शेषशायी विष्णु के अनुरूप ही होता गया है। बापू भी कर्मयोगी थे और 'गीता' जीवन मे उनकी प्रेरणा-स्रोत रही। फिर भी उसका जो अनुवाद बापू ने किया उसका नाम उन्होने 'अनासक्तियोग' रक्खा। ऐसी कर्मनिर्लिप्तता बापू की भी थी। बापू के ऐसे वैष्णव स्वरूप का चिन्तन करते हुए मुझे पू० काकाजी के जीवन का एक मार्मिक प्रसग याद आ रहा है।

पू० पिताजी स्व० जमनालालजी बजाज, जिन्हे हम सब काकाजी कहते थे, उनकी ऐसी आदत थी कि वह अपने गुण-दोषो का लेखा-जोखा एक कुशल व्यापारी की तरह किया करते थे। अपने दोषो और कमियो का पूरा हिसाब वह रखते और यह विचार भी जागरूकता से करते रहते कि उनके दोषो की मात्रा कुछ कम हुई या नही ? प्रति वर्ष अपने जन्मदिन पर इसका पूरा हिसाब वह लगाते थे। इसमे बापू, विनोबा, माताजी, कुछ विशिष्ट मित्र, साथी-सहयोगी, हम बच्चे और निजी सेवक-सेविकाए तक शामिल रहते। उनसे वह चर्चा करके यह मालूम करते रहते थे कि अपने दोषो मे सुधार हुआ या नही ? यदि कुछ हुआ तो किस तरह का, कितना और कैसे ?

इसी तरह आत्म-परीक्षण करते हुए काकाजी को एक बार ऐसा लगा कि उनमे दोष की मात्रा कुछ बढी हे। इससे वह बहुत ही बेचैन और व्यथित हो गये। जब उनका जन्म-दिन आया तो उनसे मिलने और बधाई देने के लिए वर्धा की विभिन्न सस्थाओ के छोटे-बडे स्त्री-पुरुष सभी एकत्र हुए। महिलाश्रम की बालिकाओ ने 'जमनालालजी होवे चिरायुजी।' यह भजन बहुत ही मधुर भावनापूर्ण स्वरो मे गाया। वातावरण श्रद्धामय बन गया। उससे काकाजी का हृदय अधिक भारी हुआ। उपस्थित स्वजनो के सामने उन्होने आत्म-परीक्षण के साररूप अपनी आतरिक व्यथा को स्पष्ट करते हुए कहा कि "यदि पूज्य बापू और विनोबा जैसे सत-साधु महापुरुषो का आशीर्वाद और सहवास प्राप्त होते हुए एव इष्टमित्रो, स्वजनो और सज्जनो के साथ रहते हुए भी अपने दोषो पर वह काबू नही कर पाते और अपनी जीवन-साधना का विकास ठीक नही हो सकता, तो यह समाज-सेवा और देश सेवा मे लगे रहना व्यर्थ है, क्योकि जब स्वय अपना जीवन ही उन्नत नही हो सकता तो समाज व देश की सेवा भी अच्छी तरह से हो नही सकती। वह केवल बाह्य आडबररूप और भ्रममात्र होगी। ऐसी अवस्था मे जीने से भी क्या लाभ ? और आत्म-हत्या करना तो कायरता है, पाप है। अपना यह धर्म-सकट रूप आतरिक मथन उन्होने गहरी वेदना के साथ स्वजनो के समक्ष रखा। खुशी और उल्लास का वह मगल प्रसग करुणाजनक बन गया। लोग व्याकुल होकर द्रवित हो गये। कुछ तो रो पडे। श्रद्धेय बापूजी को बहुत बुरा लगा। इतना ही नही, उन्हे यह सब बडा नागवार गुजरा। उन्होने मुझसे तो कहा ही, पूज्य काकाजी को भी उलाहना दिया कि उन्हे यह सबके सामने कहने की क्या जरूरत थी ? पूज्य काकाजी ने सरलता से इतना ही कहा कि "मेरा तो दिल कुछ हल्का हुआ हे।"

अपनी इस व्याख्या को पूज्य बापू तथा कुछ अन्य लोगो के सामने भी काकाजी ने रक्खा था। इस सिलसिले मे बापू ने और जो कुछ भी चर्चा की हो, एक बात काकाजी से उन्होने खास तौर पर कहा कि जमनालाल ! तुम तो वैष्णव जन हो। अपने दोषो का ही चिन्तन न करो, अपने गुणो का चिन्तन भी वाछनीय है। तुम्हारे मे अनेक गुण है। उनका भी चिन्तन करना और विकास करना आवश्यक है। जो थोडे दोष है, उनका ध्यान रहे, उनसे सजग रहो, इतना ही काफी है। निराशा को छोडो। तुम्हे जीवन मे बहुत-कुछ करना है। इत्यादि .

इन्ही चर्चाओ के परिणाम-स्वरूप अन्य सब कार्यो से निवृत्त होकर काकाजी अत मे गो-सेवा के पवित्र काम मे तन्मय हुए और उसी मे उन्होने अपना जीवन समर्पण कर दिया।

जब मानव का हृदय द्रवित होकर इन लक्षणो से ओत-प्रोत होता है तो उसका ध्यान समाज के उन लोगो की ओर अपने-आप दौडने लगता है, जो बहुत ही गरीब दीन-दुखी और दरिद्र होते हे, जो समाज के स्तर पर सबसे नीचे की श्रेणी मे पडे है, जिनका कोई सहारा नही, जिनको कोई आशा नही, जिनको भगवान के भरोसे का भी आभास नही, जो रस्किन के शब्दो मे 'अन्टू दिस लास्ट' यानी समाज के एकदम अत मे निम्नतम स्तर पर पडे है। ऐसे व्यक्तियो की ओर देखकर वैष्णव जन का द्रवित होना उतना ही सरल-स्वाभाविक है, जितना निचाई की ओर पानी का प्रवाहित होना। वही उसका स्वभाव हो जाता है, स्वधर्म ही।

इन्ही भावनाओ मे से बापू के मन मे दीन-दुखियो की सेवा उपजी और उसीमे से दरिद्रनारायण की उपमा सूझी या उसी दरिद्र-दुखी समाज की सेवा को उन्होने नारायण

की पूजा समझा। इसीलिए दरिद्र को उन्होने दरिद्रनारायण के रूप मे ग्रहण किया।

भारतीय और विशेषकर हिन्दू समाज मे वर्ण-व्यवस्था के कारण शूद्रवर्ग भी था। वह आर्थिक दृष्टि से तो पीडित था ही, उसमे भी जो सामाजिक दृष्टि से घृणित, जो स्पृश्य होने के भी योग्य नही—ऐसा सेवक वर्ग अस्पृश्य—अछूत समझा गया। सामाजिक अन्याय के कारण इससे मानवता का जो पतन हुआ, हिन्दू धर्म तथा समाज के लिए वह कलक बन गया। उसके निवारणार्थ और उस अपमानित मानव की सामाजिक प्रतिष्ठा एव वैयक्तिक स्वाभिमान को जागृत करने के लिए बापू ने उसको 'हरिजन' नाम दिया। दूसरे शब्दो मे वही वैष्णव जन हुआ। बापू के हरिजन और नरसी मेहता के वैष्णव जन मे कोई अतर नही।

चूकि समाज मे हरिजनो को जो स्थान बापू दिलवाना चाहते थे, वह हम नही दे पाये, इसीलिए 'हरिजन' शब्द उतना गौरवान्वित नही हो पाया, लेकिन बापू के मन मे, उनकी कल्पना मे, उनके इरादो मे, उस सम्बन्ध मे किसी प्रकार का कोई अतर नही था।

सामाजिक विषमता और अन्याय को दूर करने के लिए बापू ने अपनी सेवा का लक्ष्य हरिजन-सेवा द्वारा निर्धारित किया। उन्हे आर्थिक विषमता के कारण अन्याय और अभाव की जो कमी दिखाई दी, उसकी पूर्ति के लिए रचनात्मक कार्यो द्वारा चर्खे को केन्द्रित करके खादी को सम्पूर्णता का रूप दिया और क्रियात्मक एव रचनात्मक आन्दोलनो द्वारा अतिम का उदय करने अर्थात् अत्योदय करने मे वह जुट गए। भारत के दूर-दूर के ऐसे क्षेत्रो मे बापू पहुचे, जहा इन्सान के पास न रहने को झोपडी थी, न पहनने को कपडे, न खाने को अन्न। ऐसे नि सहाय को उन्होने उठाया, जिलाया, पर उसको पुष्ट कर सके, उसके पहले ही भगवान उन्हे उठा ले गया।

वह हमारी नजरो से ओझल हो गये है, पर उनका प्रभाव आज सारी दुनिया पर फैल रहा है। मानव असमजस मे, कष्ट मे और क्लेश मे है। बापू निहार रहे है। कोई वैष्णव जन जागेगा, मानवता उभरेगी और तभी मानव का कल्याण और विश्वशाति होगी।

पराई चोट की अनुभूति

नामदेव नाम के एक बडे सन्त थे। उनके दिल मे बडी दया थी। एक दिन उनकी मा ने कहा, "बेटा, दवा के लिए थोडी-सी ढाक की छाल ले आ।"

नामदेव गये और थोडी देर मे छाल लेकर आ गये।

इस बात को कई दिन बीत गये। एक दिन नामदेव की मा ने देखा कि उसके बेटे की धोती मे खून लगा है। उसने पूछा, "क्यो रे, यह खून कहा से आया ?"

नामदेव चुप।

मा ने फिर कहा, "अरे, बोलता क्यो नही !"

नामदेव ने धीरे से मुह खोला, बोले, "मा, उस दिन तुमने ढाक की छाल मगवाई थी न ! मैंने जब पेड को काटा तो मुझे लगा कि यह पेड तो बोलता नही है, देखे काटने पर इसको कैसा लगता होगा। सो मैने अपनी टाग छील डाली।"

मा का दिल उमड आया। उसकी आखो से टपटप आसू गिरने लगे।

उनका जीवन प्रार्थनामय था

बालकोबा भावे

●

गांधीजी के जीवन मे प्रार्थना का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान था। इतना ही नही, उनका सारा जीवन ही प्रार्थनामय था, ऐसा कह सकते है। उनके जीवन की अतरबाह्य सारी क्रियाए भीतर ईश्वर को साक्षी रखकर, ईश्वर के स्मरण के साथ, निरतर होती रहती थी। अखण्ड ईश्वर-स्मरण के सम्बन्ध मे उनसे प्रश्न पूछने पर उन्होने मुझे जवाब दिया था—"जाग्रत ऐसा एक क्षण नही, जबकि ईश्वर मुझमे है और वह सबकुछ देख रहा है, इसका भान मुझे न हो। यह भान बुद्धि को है और अभ्यास से हुआ है।" भक्त हमेशा ईश्वर के सामने हाथ जोडे हुआ रहता हे, वैसे ही गाधीजी हमेशा ईश्वर के सामने झुके हुए रहते थे। वह लिखने बैठते तब उन्हे ऐसा नही लगता था कि वह लिख रहे है, किन्तु वह अद्वितीय परमात्मा उनसे लिखवा रहा है, यह भावना उनके मन मे सतत जाग्रत रहती थी। उनके भीतर ऐसी अलौकिक स्थिति होने के कारण उन्होने दक्षिण अफ्रीका से सन् १९१५ मे हिन्दुस्तान लौटने के बाद अहमदाबाद के पास कोचरब मे सत्याग्रह-आश्रम की स्थापना की, तबसे लेकर १९४८ तक यानी अतिम क्षण तक उन्होने सुबह-शाम ईश्वर की प्रार्थना मे कभी व्यवधान नही पडने दिया। ईश्वर-प्रार्थना की इसी निष्ठा के कारण शायद प्रार्थना के समय ही ईश्वर ने उन्हे उठा लिया।

उनके जीवन मे सात दिन से लेकर २१ दिन तक उपवास करने के अनेक प्रसग आये। आत्मशुद्धि के लिए ही वह उपवास करते थे। आश्रम मे किसीकी नैतिक भूल या पतन हुआ, तो वह उसमे अपनी ही आत्मशुद्धि की कमी देखते थे, इसलिए ऐसे अवसर पर आत्मशुद्धि की दृष्टि से प्रायश्चित्त के रूप मे औरो की भूल या पतन के लिए वह स्वय उपवास करते थे। उपवास यानी उनके मतानुसार ईश्वर की प्रार्थना। इसलिए उपवास-काल मे ईश्वर की प्रार्थना वह भीतर से बराबर किया करते थे। उस समय तो वह अपनेको ईश्वर के बहुत ही निकट पाते थे। उपवास के अवसर पर ईश्वर के ध्यान या प्रार्थना मे तल्लीन होना आसान बात नही है। उपवास मे शरीर दिन-ब दिन कमजोर, क्षीण, होने से मन भी कमजोर पड जाता है। इसलिए उपवास के दिनो मे ईश्वर का स्मरण तीव्रता से रहना बहुत ही कठिन है। लेकिन गाधीजी उस काल मे ईश्वर की प्रार्थना अतर मे करते हुए अपनेको ईश्वर के बहुत निकट पाते थे, यानी अनुभव करते थे।

सन् १९२४ की बात है। दिल्ली मे वह २१ दिन का उपवास कर रहे थे। सुबह-शाम की प्रार्थना मे भजन बोलने के लिए मै उनके पास गया था। पहले तो वह मुहम्मद अली, शौकत अली के मकान मे रहते थे, लेकिन वह मकान छोटा होने से वहा से सिविल लाइन्स के एक बडे मकान मे रहने गये। वहा उनका उपवास चल रहा था। मै जहा रहता था, वह मकान मुहम्मद अली के मकान से चार फर्लांग दूर था, किन्तु सिविल लाइन्स का मकान दो-तीन मील पर था। एक दिन शाम को प्रार्थना से कुछ पहले जोर से बारिस शुरू हुई। वह चलती रही। प्रार्थना का समय होने आया। बरसात मे भी मुझे उनके पास जाना था, वह मेरा कर्तव्य था। किन्तु पानी पडने के कारण मुझे कुछ आलस्य-सा अनुभव हुआ और मै नही गया। दूसरे दिन सुबह की प्रार्थना मे गया तो मुझे देखते ही उन्होने कहा, "कल तुमने मुझे फसा दिया न? तुम्हारे लिए मैंने १५ मिनिट तक राह देखी, लेकिन जब तुम नही आये तो महादेवभाई से प्रार्थना शुरू करने को कहा। लेकिन तुमको तो, चाहे जितनी भी बारिस हो, प्रार्थना के लिए दौडकर आना चाहिए था।" यह सुनकर मै शर्मिंदा हुआ, गलती कबूल की और प्रार्थना का महत्व भी इस प्रसग से ज्यादा

ध्यान मे आया तथा कर्तव्य-निष्ठा का भी बोध हुआ। १९१५ से लेकर मृत्यु तक, प्रवास मे भी, सुबह-शाम की प्रार्थना उन्होने कभी नही छोडी।

प्रार्थना मे ईश्वर-स्मरण मे मन से भाव पैदा होकर आखो से अश्रु निकलते है या नही, इस सम्बन्ध मे मैने उनसे प्रश्न पूछा था। उन्होने इस प्रकार जवाब दिया—"प्रार्थना मे कभी-कभी ईश्वर के स्मरण से आसू आते है। लेकिन उसमे कोई विशेषता मानने की जरूरत नही।" आखिर के वाक्य से उनमे निरहकारता का उत्कर्ष कितना हुआ था, वह स्पष्ट हो जाता है।

विशेष प्रसग पर जब वह उपवास करते थे, तब उपवास का अर्थ उनके लिए प्रार्थना ही होती थी। इस सम्बन्ध मे उन्होने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है—"प्रार्थना करते समय आखो से जबकि हम कुछ नही देखते, कानो से कुछ नही सुनते, इद्रियो से कुछ व्यापार नही करते, तब खाने की क्रिया भी उस समय हम न कर सके तो इसमे आश्चर्य की बात क्या है? जो मनुष्य प्रार्थना मे ही तन्मय हो जाता है, उससे दूसरी कोई क्रिया हो, यह सम्भव नही। लेकिन एक समय ऐसा आ सकता है, जबकि वह केवल प्रार्थनामय होकर ही रहता है। इसके माने है ईश्वर-साक्षात्कार। इस स्थिति मे तो वह खाते-पीते, सब प्रवृत्तिया करते हुए प्रार्थनामय ही रहता है। उसकी प्रवृत्ति मात्र एक महायज्ञ है। वह स्वय शून्य बनकर जीवन बिताता है। इसीको सतो ने 'सहज समाधि' कहा है।"

व्यक्तिगत पत्रो मे प्रार्थना के सम्बन्ध मे वह इस प्रकार लिखते है

"प्रार्थना की उपयोगिता के सम्बन्ध मे मुझे तनिक भी शका नही है। प्रार्थना मे तुम अशुद्ध विचारो से मुक्त रहते हो, वह कोई कम उपयोगिता नही है। लेकिन यह तो पहली सीढी है। प्रार्थना के समय अर्थ मे ही तल्लीन रहना चाहिए, ऐसा कोई नियम नही है। हम प्रार्थनामय हो जाते है, तब अर्थ का भान नही रहेगा। शुद्धतम स्थिति मे अर्थ के परे पहुचते है, तब सिर्फ ईश्वर का ही भान रहता है। भाषा तो रुकावट जैसी हो जाती है। यह स्थिति अवर्णनीय है। प्रार्थना का उद्देश्य एकतान होना है। व्यक्ति समाज मे डूब जाता है और समाज ईश्वर मे लीन हो जाता है। ओम् के उच्चारण मे या रामनाम मे जो अर्थ है, वही प्रार्थना के श्लोक इत्यादि मे है। ऐसा समझकर जो रोजाना प्रार्थना मे श्लोक आदि बोलता है, वह आखिर मे परम शाति को प्राप्त कर लेता है, इसमे तनिक भी शका नही है।

"जिसे समाज प्रिय है, उसे सामाजिक प्रार्थना मे नफरत पैदा नही होनी चाहिए। जो ईश्वरमय हो जाता है, वह सारा जगत ईश्वरमय देखता है। इस स्थिति को पहुचने के लिए प्रार्थना पहली सीढी है, ऐसा मानना होगा। हबशियो से लेकर यूरोप के ख्रिस्ती, अरब के इस्लामी और भारत के हिन्दू, प्रार्थना के बिना नही रह सके है। गिरजाघर, मस्जिद, मदिर जमीदोस्त हो जाय तो समाज भी जमीदोस्त हो जायगा।

"ईश्वर के पास तो चौबीसो घण्टे स्वर्गीय गायन चलता रहता है। उसकी तो सिर्फ हम कल्पना ही कर सकते है। उस गायन मे शामिल होने के लिए सामाजिक प्रार्थना एक अल्प प्रयत्न है।

"प्रार्थना आखिर मे श्रद्धा का विषय है। श्रद्धा की भावना से प्रार्थना मे बैठकर हम तन्मय हो जाय तो प्रार्थना हुई, फिर चाहे जिस भाषा मे प्रार्थना होती रहे। सामूहिक प्रार्थना भी दुनिया मे प्रचलित है। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय मे भावुक लोग घण्टो तक मूक होकर बैठते है और प्रार्थना मे ध्यानस्थ हो सकते है।"

जो जाग्रत रहते है और प्रार्थना करते है उनके लिए ईश्वर बडे काम और बडी जिम्मेदारी जुटा देता है।

—मो० क० गांधी

परदुख भंजक

मनु गाधी

वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड पराई जाणे रे।
परदु खे उपकार करे, तोये मन अभिमान न आणे रे।

वापू नियमो और सिद्धान्तो के पालन मे जितने कडे थे, उतने ही परदुखभजन और करुणा से ओतप्रोत थे। दूसरो के दु ख उनसे देखे ही नही जाते थे।

पूज्य कस्तूरवा की वीमारी आगाखा महल मे वढ रही थी। १९४४ का फरवरी महीना पूज्य कस्तूरवा के जीवन के लिए वडा नाजुक बन गया था। ऐसे समय भारत का कौन ऐसा डाक्टर, हकीम या वैद्य होगा, जो कस्तूरवा की सेवा का अवसर मिले तो उसका उपयोग करने से चूके ?

अखवारो मे कस्तूरवा के स्वास्थ्य के वुलेटिन रोज निकलते थे। उसपर से प्रसिद्ध वैद्यराज पडित शिव शर्मा ने वापू से प्रार्थना की कि वह पूज्य कस्तूरवा की सेवा करना चाहते है।

दूसरो ने तो कस्तूरवा के जीवन की आशा छोड दी थी, इसलिए वापू ने कहा कि पडित शिव शर्मा को प्रयोग करने दिया जाय और वह सेवा करना चाहते है तो करे। दूसरी ओर वैद्यराज ने सरकार को भी अपना इरादा वताकर उससे इजाजत ले ली थी। सरकार ने इजाजत तो दे दी, पर उसकी कडी आज्ञा थी कि रात को उन्हे आगाखा महल मे नही रहने दिया जायगा। साथ ही यह शर्त भी थी कि अन्दर की कोई वात वाहर नही आनी चाहिए।

जनवरी-फरवरी की कडाके की सर्दी। शिव शर्मा की किस समय जरूरत पड जाय, यह कहा नही जा सकता। ऐसी हालत मे इसके सिवा कोई चारा नही था कि रात-भर वह वाहर मोटर मे सोते। दो दिन तो इस तरह चला। रात मे वा को जरूरत पडे तो सवसे पहले एक सिपाही को उठाना पडे, वह ऊपर जाकर चावी के लिए कटेलीसाहव को उठाये, वह जमादार को जगाये, जमादार फाटक के चौकीदार को जगाये, फाटक का चौकीदार गोरे सार्जेण्ट को जगाये, तव कही ये सव दरवाजे खुले और इस सारी प्रक्रिया के वाद पडित शिव शर्मा आवे। इस तरह आठ-दस जनो की नीद मे खलल पडे तब जाकर वा को दवा मिले। रात मे एक-दो वार ऐसा करना पडता। वापू को भला यह कैसे वर्दाश्त होता ? वह तो 'ऐसो को उदार जग माही, विनु सेवा जो द्रवे दीन पर' थे, जवकि यहा वा की सेवा के लिए इतने लोगो को व्यर्थ के सरकारी कानून-कायदो की खातिर हैरान होना पडता था। उन्हे यह विल्कुल अच्छा नही लगा। वा को तो इस सवकी कोई खवर ही नही थी, खवर पडती तो उन्हे भी यह वात विल्कुल पसन्द नही होती। दूसरो को इस तरह तकलीफ देकर अपनी सेवा वह कभी नही कराती। जवतक अपना सारा काम स्वय कर सकती थी, तवतक वह मुझसे पीने का पानी तक नही मागती थी। आप ही उठकर पीती। उनसे ऐसा न होता तभी मुझसे कहती। इसलिए तीसरी रात जव इस तरह दस-वारह जनो को उठाना पडा तो रात के दो वजे पूज्य वा की खटिया पर वैठकर वापू ने सरकार को पत्र लिखा—

"मैं जानता हू कि ऐसी स्थिति वचाने का उपाय जरूर है, जिसमे मेरी पत्नी के लिए सारी रात विना काम इतने आदमियो को जागते रहना पडे, और वह भी एक ही रात के लिए हो, ऐसी वात नही, वल्कि अनिश्चित काल के लिए। इसलिए मेरे लिए यह असह्य है। यो तो सुशील I वहन और गिल्डरसाहव डाक्टर है ही, परन्तु देशी चिकित्सा दूसरी तरह की होने से ये लोग मदद नही कर सकते। इस कारण वीमार और जिसकी दवा चल

रही है उन दोनो के साथ शायद अनजाने ही अन्याय हो। अत बीमार की भलाई के लिए जबतक वैद्यजी का इलाज चले तबतक उन्हे रात-दिन यही रहने दिया जाय और सरकार अगर ऐसा न कर सके तो बीमार को पैरोल पर रिहा कर दे। सरकार अगर ऐसा भी न कर सके और बीमार के पति की हैसियत से ये मागे मैं सरकार से न मनवा सकू तो मेरी माग है कि सरकार मुझे यहा से अपनी पसन्द की किसी दूसरी जगह भेज दे। बीमार को जो वेदना हो रही है, उसका मुझे एक असहाय दर्शक न बनाया जाय।

"यह पत्र रात के दो बजे बीमार के बिछौने के पास बैठकर लिख रहा हू। वह तो इस समय जीवन और मृत्यु के बीच उलझ रही है। अत जो कल (१७ फरवरी की) रात तक वैद्यजी के बारे मे सतोषजनक उत्तर नही मिला तो मै इलाज बन्द करा दूगा।"

कहने की आवश्यकता नही कि इस पत्र के बाद वैद्य-राज को रात-दिन बा के पास रहने की अनुमति मिल गई और आठ-दस आदमियो को जो रोज-रोज जागना पडता था वह बन्द हुआ। वे लोग तो यद्यपि बहुत ही प्रेम के साथ बा और बापू की किसी भी तरह की सेवा के लिए तैयार ही रहते और ऐसा सिर्फ अपने कर्त्तव्य के पालन या नौकरी की दृष्टि से नही करते, बल्कि भक्तिभाव से ऐसी सेवा को अपना सौभाग्य समझते। लेकिन बापू तो 'बापू' थे न!

× × ×

कलकत्ता मे साम्प्रदायिक उपद्रवो का दावानल सुलग रहा था, जो ऐसा भयकर था कि उसकी ज्वालाओ से मनुष्य की शक्ति कब राक्षसी रूप ले लेगी, इसका सभी को अदेशा और भय था। बापू को इससे बडी वेदना थी। कलकत्ता मे यह आग फूट निकले तो हिन्दुस्तान के गौरव को ऐसा कलक लगे, जिसका ठिकाना नही और इस परिस्थिति को बापू के सिवा कोई काबू मे नही रख सकता था, इसलिए बापू वहा जाकर बैठे थे। बापू सौदपुर-आश्रम मे ठहरे हुए थे और उस समय के बगाल के मुख्य मत्री श्री सुहरावर्दी उन्हीसे मिलने आये हुए थे।

सुहरावर्दीसाहब के साथ फजलुल हक रहमान और उनके मन्त्रिमण्डल के मत्री भी आये थे। सुहरावर्दी साहब ने बापू से कहा, "अब तो शान्ति स्थापित हो गई है और हमारी सरकार मे कोई गैरइसाफी नही रही है।" वह बोल तो इस तरह रहे थे, पर अमल बिल्कुल खराब था। इसलिए मन मे तो बहुत बुरा लगा।

बापू ने तुरन्त जवाब दिया, "आपका दिमाग तो बडा तेज है। जीभ मे तो हड्डी है ही कहा?"

सुहरावर्दी साहब बोले—"साहब, हम नया निजाम कायम करना चाहते है, जिसमे एक कौम दूसरी कौम पर जुल्म न कर सके।"

बापू ने कहा, भविष्य मे ऐसा करना चाहते है, पर आप जानते नही कि भविष्य तो वर्तमान की घटनाओ के ऊपर ही अवलम्बित है? वर्तमान की हालत कितनी खराब है? कलकत्ता को भविष्य मे आदर्श नमूना बनाना चाहते है, पर उसकी स्थिति आज तो बिल्कुल उलटी है, उसका क्या हो? इसलिए अगर आपको अपनी इच्छा पूरी करनी है तो अभी जहा उपद्रव हो रहे है वहा जाय, कोई आपको काट डाले तो कट जाय, पर अपने भाइयो को समझावे। ऐसा आप एक दिन तो क्या, एक घण्टे भी करे तो सचमुच ही कलकत्ता और कलकत्ता के मुख्य मत्री भारत के दीप-स्तम्भ बन जायगे।"

मैं तो यह वार्तालाप सुनती और लिखती भर रही। मन मे लगा कि बापू भी पूरे बनिये है। प्रधान मत्री की खूब चापलूसी की और खूब खरी-खरी सुनाई। उनके लिए चाय और नाश्ता लाने को मुझसे कहा। उनके चाय-नाश्ते के लिए मैं दो रकाबी ज्यादा जानबूझकर लाई। वह चाय-नाश्ता कर रहे थे उसी समय जवाहरलालजी की तरफ से दिल्ली बुलाने का तार आया। इस तरह बापू को दिल्ली जाने की इच्छा मिली। इधर उन्होने जो दो रकाबी नाश्ता मैं ज्यादा लाई थी उसे भी चाय की बूदे टपकाकर खराब कर दिया। यह सब भला बापू की नजर से कैसे बच सकता था? आखिर तो राष्ट्रपिता की पदवी थी न? सबकुछ देखकर उन्होने मुझसे कहा, "जल्दी ही फिर दिल्ली जाना है। हम तो मुसाफिर ठहरे। ईश्वर ने दुनिया की मुसा-फिरी के लिए ही हमे पैदा किया है। सारे देश की हमे यात्रा करनी है, क्योकि स्थिरता का अभी कोई ठिकाना

नही हैं। स्थिरता तो तभी आयगी जब या तो मै मर जाऊ या हिन्दुस्तानी समझ जाय। मुझे मालूम है कि स्वराज्य-प्राप्ति मुझे आसान लगती थी, पर स्वराज्य को सम्हालना मुश्किल। यहा की सारी स्थिति गडबड है। कसौटी का वक्त तो यही है। सबके त्याग की परीक्षा तो अभी होनी हैं। कुछ न होने पर तो स्वभावत सादा जीवन विताना पडता है, पर ऐसा व्यवहार बहुत कठिन है कि प्राप्त होने पर भी उसे अपना न समझ परमेश्वर का समझा जाए। हमारी प्रार्थना मे पहला ही श्लोक यह है :

ईशावास्यमिद सर्व यत्किच्च जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुजीथा मा गृध· कस्यस्विदद्धनम्॥

"इस श्लोक का पाठ करनेवाले को सर्वप्रथम तो अपने पास जो कुछ हो उसे ईश्वरार्पण करके उसमे से अपने लिए आवश्यक हो उतना ही लेकर अपने काम मे लाना चाहिए। तू दो रकाबी नाश्ता ज्यादा लाई है न ? अपने रोज के व्यवहार मे भी चाहिए, इससे ज्यादा काम मे लाना पाप है। जिस तरह दूसरे की चीज लेने पर हमे चोर कहा जाता है, उसी तरह यहा भी सब चीज का स्वामित्व ईश्वर का ही है और उसमे से जरूरत से ज्यादा ले तो हम ईश्वर के अपराधी बनेगे। इस तरह करने पर ही सच्चे त्याग को समझ सकेगे।

त्याग न टके रे वैराग्य विना करीये कोटी उपाय जी
अंतर ऊडी इच्छा रहे ते केय करी तजाय जी
वेशलीधो वैराग्य नो, रही गयो दूर जी
ऊपर वेश अच्छो बन्यो, माही मोह भरपूर जी
काम क्रोध मोह लोभनी, ज्या लगी भूख न जाय जी
संग प्रसंगे पांगरे, जोग भोग नो थाय जी
उष्ण राते अवनि विषे बीजा नव दिसे बहार जी
घन वरस्ये वन पागरे, इद्रिय विषय आकार जी
चमक देखी ने लोह बले, इद्रिय विषय-सजोग जी
अणभेटये रे अभाव छे, भेट्ये भोगवशे भोग जी
उपर तेज ने अतर भजे, एम न सरे अतर जी
वणस्यो रे वर्णाश्रम थकी, अते करशे अनरथ जी
भ्रष्ट थमो जोग भोग थी, जेम बगडयु दूधजी
गयु दूध मही माखण थकी, आये थयु रे अशुद्ध जी
पलमा जोगी ने भोगी, पलमा-पलमा गृही ने त्यागी जी
निष्कुलानन्द ए नर तणे वणसमज्यो वैराग्य जी।[1]

ऐसा ही यह भी है।"

---

१ निष्कुलानन्द का भजन।

त्याग की कोई हद नही है। ज्यो-ज्यो हमारा त्याग बढेगा, त्यो-त्यो आत्मा के दर्शन हम अधिक करेंगे। मन की गति परिग्रह छोडने की तरफ होगी और शरीर की शक्ति के अनुसार हम त्याग करेंगे, तो अपरिग्रह-व्रत का पालन हुआ माना जायगा।

—मो० क० गाधी

सत्यदर्शी 'वैष्णव जन'

मदालसा नारायण

●

हिरण्मयेनपात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं,
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।
(ईशावास्योपनिषद्)

प्रच्छन्न मुख है सत्य का स्वर्णावरण मोहक विषद,
आवरण करदो दूर वह दर्शन विमल पाऊ वरद ।
हे देव पूषन् आपसे अनुरोध है यह साधना,
मैं सत्य-धर्म उपासनार्थ करू विनय-आराधना ।

ईशावास्योपनिषद् का यह एक प्रसिद्ध मन्त्र है । पूज्य गाधीजी के जीवन-चरित्र का विचार करते हुए मन मे सहज रूप से यही प्रार्थना जाग उठती है । बापूजी ने अपनी जीवन-कथा का नाम 'सत्य के प्रयोग' अथवा 'आत्मकथा' रक्खा है । उनके अन्तिम प्रकरण 'पूर्णाहुति' मे स्वय बापूजी के अपने वचनो द्वारा जो विचार व्यक्त हुए है, उनमे उनके जीवन का स्वरूप और उनकी निष्ठा दोनो अपने-आप प्रकाशित हो उठते है । अत उनके कुछ चुने हुए भाव-विचार विशेषरूप से चिन्तनीय है । बापू ने लिखा है—

"सत्य से भिन्न कोई परमेश्वर है, ऐसा मैने कभी अनुभव नही किया । हजारो सूर्यो को इकट्ठा करने से भी जिस सत्यरूपी सूर्य के तेज का पूरा माप नही निकल सकता, ऐसे सूर्य की केवल एक किरण के दर्शन के समान सत्य की मेरी झाकी है ।"

... ...

"आजतक के अपने प्रयोगो के अन्त मे मैं इतना तो अवश्य कह सकता हू कि सत्य का सम्पूर्ण दर्शन, सम्पूर्ण अहिसा के बिना असम्भव है । ऐसे व्यापक सत्यनारायण के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए जीव-मात्र के प्रति आत्मवत् प्रेम की परम आवश्यकता है । उसके लिए आत्मशुद्धि आवश्यक है ।"

.. ..

"बिना आत्म-शुद्धि के जीव-मात्र के साथ ऐक्य सध ही नही सकता । आत्म-शुद्धि के बिना अहिंसा-धर्म का पालन सर्वथा असम्भव है । अशुद्ध आत्मा परमात्मा के दर्शन करने मे असमर्थ है, अतएव जीवन-मार्ग के सभी क्षेत्रो मे शुद्धि की आवश्यकता है । यह शुद्धि साध्य है, क्योकि व्यष्टि और समष्टि, व्यक्ति और समाज के बीच ऐसा निकट का सम्बन्ध है कि एक की शुद्धि अनेको की शुद्धि के बराबर हो जाती है और व्यक्तिगत प्रयत्न—साधना की शक्ति तो सत्यनारायण ने सबको जन्म से ही दी है ।"

... .. .

"सेवाधर्मो परम गहनो योगिनामप्यगम्यः" अर्थात् सेवा-धर्म परम गहन है । यह योगियो के लिए भी अगम्य है । अत सेवा का जीवन बितानेवाले को नम्र बनना होगा । जो व्यक्ति दूसरो के लिए अपना जीवन समर्पण करता है, उसका अपना कुछ भी नही रह जाता है । नम्रता का अर्थ अकर्मण्यता नही है, बल्कि सच्ची नम्रता तो मानवता की सेवा मे लगातार कठिन काम करने मे है ।"

... ...

"सेवा तभी सम्भव है, जबकि हमारे हृदय मे प्रेम या अहिसा हो । सच्चा प्रेम तो समुद्र की तरह असीम है । अन्त करण मे उत्पन्न होकर क्रमश बढता हुआ वह चारो ओर फैलता जाता है और सभी सीमाओ का अतिक्रमण करके यह सारे ससार को समेट लेता है ।"

... ...

"फिर यह सेवा तभी सम्भव है, जब मनुष्य अपनी रोटी के लिए स्वय श्रम करे, जिसे कि गीता मे 'यज्ञ' कहा है । किसी भी मनुष्य को—पुरुष या स्त्री को—जीवित रहने का अधिकार तभी होता है, जबकि वह सेवा के लिए शरीर-श्रम करे ।"

गाधीजी के ये वचन गहरे अनुभवो से भरे हुए है। इन सबमे एक ऐसा क्रमबद्ध सिलसिला है कि इनको पढते हुए बापूजी के जीवन-प्रवाह का स्वरूप स्वयमेव प्रकट होता चला जाता है। सत्यरूपी सूर्य-किरण के दर्शन से लेकर सेवा-धर्म की गहनता तक का अनोखा जीवन-पथ आलोकित हो उठता है, जहा एक ओर सूर्योदयरूप भगवान सत्यनारायण के दर्शनो के प्रकाश एव दूसरी ओर सर्वोदय-रूप सेवामय यज्ञ कर्म की उपासना का अलौकिक आनन्द लहरा उठता है।

गीता के तीसरे अध्याय मे भगवान कृष्ण ने अर्जुन को यज्ञ का अर्थ इस तरह समझाया है

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भव· ।
यज्ञाद्भवन्ति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भव· ॥
कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगत ब्रह्म नित्य यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

'अन्न' से उत्पन्न होते जीव सब,
यह अन्न 'वर्षा' से उपजता है सदा,
बरसात नियमित 'यज्ञ' से होती यहा,
शुभकर्म करने से प्रकट है 'यज्ञ' नित
उस कर्म का उद्भव हुआ उस 'ब्रह्म' से,
वह ब्रह्म सबमे व्याप्त 'अक्षर' से प्रकट।
होता प्रतिष्ठित 'यज्ञ' मे है ब्रह्म वह।

यह समझाकर आगे कहते है

तस्मादसक्त· सतत कार्य कर्म समाचर
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुष· ।

कर्तव्य कर्म करो निरन्तर इसलिए,
नि सग होकर जब करे नर कर्म निज।
आचरण जो आसक्ति तजकर ही करे,
पाता वही है परमपद पुरुषार्थ से।

'यज्ञ' का इतना महत्व बता दिया हे। लोकमान्य तिलक बडे धार्मिक और मार्मिक राजपुरुष थे। "स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है।" यह उनका दावा था। इसीको सिद्ध करने के लिए उनको भी छ साल जेल मे बिताने पडे थे, उस समय उन्होने गीता का गहरा चिन्तन किया और 'गीता-रहस्य' नाम का ग्रन्थ तैयार हो गया। उसमे तिलक महाराज ने गीता के तत्वज्ञान का प्रतिपादन 'कर्मयोग' के रूप मे किया है। इसी तरह बापूजी ने भी यरवदा-जेल मे गीता का हिन्दी अनुवाद किया, जो 'अनासक्ति योग' के रूप मे प्रकाशित है। इन ग्रन्थो से ऐसा प्रतीत होता है कि इन सभी सिद्ध-साधको का लक्ष्य 'सर्व भूतहितेरता' होकर रहने का ही है। इन्होने अपने आचार-विचारो से ही यह प्रमाणित कर दिया है :

सर्वे न सुखिन सन्तु, सर्वे सन्तु निरामया
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखमाप्नुयात् ।

सब हो सुखी हम सब निरामय स्वस्थ हो,
दर्शन करे 'मगल' सदा देखे सभी।
जन जीव हम इस जगत मे जागृत रहे,
कोई न दुख न भोगे यहा प्राणी कभी।

रस्किन की एक छोटी-सी पुस्तिका है – 'अनटू दिस लास्ट'। इसका गाधीजी के मन पर बडा गहरा असर हुआ था, इतना कि वह धीरे-धीरे उसी दिशा मे अपने सत्य के प्रयोगो को सिद्ध करने लगे और उस किताब का हिन्दी अनुवाद भी बापूजी ने स्वय 'सर्वोदय' के नाम से किया।

यह सब लिखते हुए गाधीजी के साथ-साथ उनके कई श्रद्धेय साथी और सुप्रसिद्ध स्नेही-जनो का पावन-स्मरण हो रहा है। इनमे सर्वप्रथम पूज्य माता कस्तूरबा, रस्किन, टाल्स्टाय, हेनरी पोलक, सी एफ एण्ड्रूज और श्री गुरुदेव के नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन सब सज्जनो का मनोभाव सदा कल्याणकारी सर्वोदय स्वरूप का ही रहा है। बापू ने लिखा है

"जो सच्ची स्वतत्रता है, जो कि पाने योग्य है, वह आत्म-समर्पण से मिल सकती हे। इस प्रकार मनुष्य जब अपने-आपको खो देता है, तभी वह सर्वजन की सेवा मे अपने-आपको पा लेता है। तब वह एक नया मनुष्य बन जाता है, जो ईश्वर की सृष्टि की सेवा मे अपने-आपको गवाते हुए भी नही थकता है।"

राष्ट्रपिता बापूजी के इन अनुभव-भरे वचनो से मनुष्य के मन मे नित्य नवजीवन जाग्रत होता है। जैसे सूर्योदय के दर्शन से सृष्टि मे नित-नये जीवन-तत्वो की वृष्टि होती है, उसी तरह महापुरुषो के पवित्र स्मरण से हमे नित नया आनद और उत्साह प्राप्त होता है। भगवान बुद्ध ने हमे

'वहुजन हिताय वहुजन सुखाय' की प्रेरणा दी थी। उससे आगे वढकर बापूजी ने हमे 'सर्वजन सुखाय सर्वजन हिताय' यह जीवन-मत्र प्रदान किया और साथ ही दृढ विश्वास-पूर्वक यह भी कहा कि "मेरा जीवन ही मेरा सदेश है" यह गहरे अध्ययन-चिंतन की बात है और बापू के इस सदेश के अनुसार उनका समग्र जीवन ही प्रत्यक्ष मे जीवन-साहित्य रूप है।

ऐसे राष्ट्रपिता के पुण्य-स्मरण से मानव 'सर्वोदय' का स्पष्ट दर्शन पाते है और धीरे-धीरे अपने-आप 'सर्वभूतहिते रता' हो जाते हैं। तभी वे 'वैष्णव जन' कहलाते है।

सबसे बड़ा धनी

एक आदमी था। बहुत ही दीन और फटेहाल। चेहरे पर हवाइया उड रही थी। उसे हैरान देखकर किसी दूसरे आदमी ने पूछा, "क्यो भाई, क्या बात है ? इतने परेशान क्यो दिखाई दे रहे हो ?"

वह बोला, "बात यह है कि मै बहुत ही गरीब हू। मेरे पास कुछ भी नही है।"

"कुछ भी नही है !" दूसरे ने अचरज से कहा, "तुम सच नही बोल रहे हो।"

पहले की वेबसी और गहरी हो गई। बोला, "मै आपसे सच कहता हू। विना बात किसको हैरान होना अच्छा लगता है ?"

"ठीक। तो तुम एक काम करो। तुम्हारे पास दो कान है। एक कान काटकर मुझे दे दो। मै तुम्हे एक हजार रुपया दे दूगा। बोलो, तैयार हो ?"

"नही, मैं अपना कान नही दे सकता।"

"अच्छा, तो अपनी दो आखो मे से एक आख दे दो और यह लो पाच हजार रुपये।"

"जी, नही। मैं आख भी नही दे सकता।"

"तो लाओ एक हाथ दे दो और यह लो दस हजार रुपये।"

"जी, नही, यह भी नही होने का।"

"इसके मानी यह हुए कि तुम्हारे पास एक दूने दो, अर्थात् दो हजार से ज्यादा के कान हैं, पाच दूने दस, दस हजार से ज्यादा की आखे हैं और दस दूने बीस, बीस हजार से ज्यादा के हाथ है। मैं और चीजो को छोडे देता हू। सिर्फ कान, आख और हाथ ही तुम्हारे दो, दस और बीस यानी बत्तीस हाजार से ज्यादा के हो गये तो पूरा शरीर तो जाने कितने का होगा।"

पहला चुप।

दूसरे ने कहा, "भैया, तुम नही जानते कि तुम्हारे पास कितनी बडी दौलत है। जिसके पास अच्छी-अच्छी बाते सुनने के लिए दो कान हो, अच्छी-अच्छी चीजे देखने के लिए दो आखे हो और अच्छे-अच्छे काम करने के लिए दो हाथ हो, उससे वढकर धनी और कौन हो सकता है !"

मानवता को नया दिशा-बोध देनेवाले

मुनिश्री विद्यानन्द

गांधीजी किसी एक लेख के विषय नही, न उनका किसी एक व्याख्यान मे वर्णन किया जा सकता है, न किसी एक पुस्तक मे उनको समाहित किया जा सकता है। उन्होने एक युग को प्रभावित किया है, एक राष्ट्र को सजीवनौषधि पिलाई है, मानवता को नवीन दिशाबोध दिया है। उनका जीवन नवीनताओ का सर्जक तथा प्राचीनता का पुनरुद्धारक कहा जा सकता है।

गाधीजी के कृतित्व को 'गाधी-दर्शन' कहा जाता है। उनका यह दर्शन उनके बहुमुखी जीवन का व्यवहार-सूत्र है। आश्रम-पद्धति, चर्खा, स्वदेशी वस्तुओ का व्यवहार, सेवा, निरभिमानता, समता, अपरिग्रह इत्यादि ऐसे अनेक अछूते क्षेत्रो मे उन्होने सफल परिणाम उपस्थित करनेवाले प्रयोग किये।

वह अपने भोजन मे नीम के पत्तों की चटनी लेते थे। यह उनके अस्वादव्रत का अग था। अस्वाद का दूरगामी अर्थ जिह्वास्वाद-निरोध मात्र नही है। जीवन के सारे विषय कपाय स्वाद पर आलम्बित है। स्वाद की इच्छा भोगोपभोगो के मूल मे होती है। स्वाद जीतनेवाला इन्द्रिय-जयी होता है। गाधीजी इस कटुता का सेवन कर कटुता की तीक्ष्णता को पहचानते थे। अहिसा-सेवी के लिए कटुता को जानना तथा पचाना आवश्यक है। कटुता को जानने-वाला ही दूसरो पर तीक्ष्ण प्रयोग नही करता। अहिसा की सिद्धि के लिए वह न केवल नीम के कटुत्व को पचाते थे, अपितु राजनीति मे भी उसका प्रतिक्षण चर्वण करते हुए भी, अस्वादव्रत को स्मरण रखते थे, क्योकि राजनीति को स्वादपूर्वक ग्रहण करने का अर्थ लोलुपता का पर्याय है, तृष्णा का विस्तार है, यह वह पहचानते थे। उन्होने राज-नीति को भी अस्वाद से निर्लिप्त भाव से भोगा।

ईश्वरवाद उनका आत्मबल था। इसे वह रामधुन के रूप मे उपस्थित करते थे। अनासक्तियोग उनकी कार्यपद्धति थी। काम करना, परन्तु उसमे आसक्त नही होना, क्योकि आसक्त होने मे सुख-दुख रूप फलो मे फसना पडेगा। इस प्रकार वह अपने-आपमे तटस्थ कार्यकर्ता थे। कार्य करते भी थे, परन्तु उससे लगाव नही रखते थे। इसीसे उन्हे सफलता मिली। आज लोग प्राय. कार्य तो नही करते, परन्तु इसका फल चाहते है।

वह अहिसक थे, परन्तु राष्ट्र के नाम दुर्वलता का सन्देश उन्होने कभी नही दिया, क्योकि अहिसा शब्द हिसा से विरति सिखाता है, कायरता नही।

राष्ट्र ने उनके सूत्रयज्ञ को हृदय से समर्थन नही दिया। चर्खा केवल सूत्रयज्ञ ही नही, स्वावलम्बन की आधारभूमि है, परन्तु यह भी सत्य है कि इसे मिलो की स्पर्धा मे जीवित नही रक्खा जा सकता। टेरेलीन की होड मे खादी के मोटे तार ग्रामीण से प्रतीत होते है। हा, यह सत्य है कि ग्रामीण ही नागरिको के लिए जीवन उत्पन्न करते है। यदि गाधीजी के स्वदेशी व्यवहार को विस्मृत नही किया जाता तो आज राष्ट्र ऋणभोक्ता न होकर धनिक होता। गाधीजी अपनी सदा की वेशभूषा मे गोलमेज परिषद् तक हो आये, परन्तु हमारी ही लोकसभा मे हम अपनी राष्ट्रीय वेशभूषा धारण करते लजाते है। वह कागज की एक कतरन, पिनसुई तक काम मे ले लेते थे, वेस्टेज से भी वेस्ट एज निकाल लेते थे और आज उनके अनुगामी वेस्ट एज को वेस्टेज बनाने मे अहोभागी हो रहे है।

गाधीजी उस भारत के प्रतिनिधि थे, जो हमारे गावो मे बसा है, इसीलिए ग्रामीणवत् सादा जीवन उन्हे प्रिय था। परन्तु आज ऋण लेकर जो लाखो की कोठियो मे कारो मे बसे हुए हैं, वे भारतमाता ग्रामवासिनी के किस कोटि के प्रतिनिधि है, कहा नही जा सकता।

गांधीजी और रायचन्दभाई

ब्रजकिशोर जैन

"मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव डालनेवाले तीन आधुनिक महापुरुष है—रायचन्दभाई ने अपने जीवन ससर्ग से, टाल्स्टाय ने **'वैकुण्ठ तुम्हारे हृदय मे है'** नामक पुस्तक द्वारा तथा रस्किन ने **'अन्टू दिस लास्ट'** नामक पुस्तक से मुझे आश्चर्यचकित कर दिया है।"

—महात्मा गाधी

महर्षि टाल्स्टाय और जॉन रस्किन से तो अधिकाश पाठक परिचित है, क्योकि ये दोनो ही ख्यातिलब्ध साहित्यकार थे, पर रायचन्दभाई को कम लोग ही जानते है। लेकिन अपने सजीव सम्पर्क और प्रगाढ परिचय द्वारा उन्होने गाधीजी को कितना प्रभावित किया था उसका उल्लेख बापू ने अपने कई व्याख्यानो और लेखो मे किया था। अपनी 'आत्मकथा' मे तो बापू ने 'रायचन्दभाई' शीर्षक से एक पृथक अध्याय ही लिखा है।

रायचन्दभाई के साथ अपनी प्रथम भेट का वर्णन बापू ने निम्न शब्दो मे किया है

"रायचन्दभाई के साथ मेरी सर्वप्रथम भेट सन् १८९१ के जुलाई मास मे उस समय हुई जिस दिन मै विलायत से लौटकर वम्बई पहुचा था। इन दिनो समुद्र मे तूफान आया करता है, इस कारण जहाज देरी से पहुचा। मै डाक्टर-वैरिस्टर और रगून के प्रसिद्ध जौहरी श्री प्राणजीवन मेहता के यहा उतरा। रायचन्दभाई उनके वडे भाई के जामाता थे। डाक्टरसाहव ने ही मेरा उनसे परिचय कराया। उनके वडे भाई जौहरी रेवाशकर जगजीवनदास से भी उसी दिन जान-पहचान हुई। डाक्टरसाहव ने रायचन्दभाई का 'कवि' कहकर परिचय कराया और कहा—'कवि होते हुए भी आप हमारे साथ व्यापार मे है, आप ज्ञानी है और शतावधानी भी है।' किसीने मुझे सूचना दी कि मै उन्हे कुछ शब्द सुनाऊं और वे शब्द चाहे जिस भाषा के क्यो न हो, जिस क्रम से मैं कहूगा, उसी क्रम से वह दुहरा जायगे। मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ। मै तो उस समय जवान और विलायत से लौटा था। मुझे भाषा-ज्ञान का भी अभिमान था। विलायत की हवा भी कुछ कम न लगी थी। उन दिनो विलायत से आया मानो आकाश से उतरा। मैंने अपना समस्त ज्ञान उलट दिया और अलग-अलग भाषाओ के शब्द पहले तो मैने लिख लिये—क्योकि मुझे यह क्रम कहा याद रहनेवाला था? बाद मे उन शब्दो को मै बाच गया। उसी क्रम से रायचन्दभाई ने धीरे-धीरे एक के बाद एक सब शब्द कह सुनाए। मै सतुष्ट हुआ, चकित हुआ और कवि की स्मरण-शक्ति के विषय मे मेरा उच्च विचार हुआ। विलायत की हवा कम पडने के लिए यह सुन्दर अनुभव हुआ कहा जा सकता है।

"कवि को अग्रेजी का ज्ञान कुछ भी न था। उस समय उनकी उम्र पच्चीस वर्ष से अधिक न थी। गुजराती पाठशाला मे भी उन्होने थोडा ही अभ्यास किया था। फिर भी इतनी शक्ति, इतना ज्ञान और आस-पास मे उनका इतना मान! मैं मोहित हुआ। स्मरणशक्ति पाठशाला मे नही विकती, और ज्ञान भी पाठशाला के बाहर, यदि इच्छा हो, जिज्ञासा हो तो मिलता है। मान पाने के लिए विलायत अथवा कही भी नही जाना पडता, परन्तु गुण को मान चाहिए तो मिलता है—यह पदार्थ पाठ मुझे वम्बई उतरते ही मिला।"

रायचन्दभाई का वास्तविक नाम 'राजचन्द्र' था। पर वापू उन्हे 'रायचन्दभाई' अथवा 'कवि' कहकर ही सम्बोधित करते थे। इनका जन्म सम्वत् १९२४ कार्तिक सुदी पूर्णिमा के दिन मोरवी राज्य (गुजरात) के अन्तर्गत ववाणीया ग्राम मे हुआ था। इनके पिता रवजीभाई पचाण दशा श्रीमाली वैश्य थे।

उनकी सात वर्ष की वाल्यावस्था विल्कुल खेल-कूद मे वीती। सात वर्ष से ग्यारह वर्ष तक का समय शिक्षा प्राप्त करने मे व्यतीत हुआ। वाल्यकाल मे भी इनकी स्मरणशक्ति इतनी तीव्र थी कि उन्हे अपना पाठ केवल एक बार ही याद करना पडता था, पर अभ्यास करने मे वह वडे प्रमादी, वाते वनाने मे सवसे आगे, खिलाडी और अत्यन्त विनोद-प्रिय वालक थे। गुजराती भाषा की पाठमाला मे रायचन्दजी ने ईश्वर के जगतकर्तृत्व के विषय मे पढा था, इससे उनके मन मे यह धारणा दृढ हो गई थी कि ससार का कोई भी पदार्थ विना वनाए नही वन सकता। इस कारण उन्हे जैन लोगो से स्वाभाविक जुगुप्सा रहा करती थी। जैन लोगो के प्रतिक्रमण-सूत्र इत्यादि ग्रन्थ पढे तो इनमे उनकी प्रीति और वढ गई। यह तो हम पहले ही कह चुके है कि रायचन्दभाई विशेप पढे-लिखे न थे और न उन्होने सस्कृत, प्राकृत आदि का कुछ अभ्यास ही किया था, किन्तु फिर भी वे जैन आगमो के जानकार और मर्मज्ञ वन गये।

रायचन्दभाई की अद्‌भुत स्मरणशक्ति का परिचय तो पाठक वापू के साथ उनकी प्रथम भेट के वर्णन मे ही पा चुके है। अपनी वाल्यावस्था से ही उन्होने अवधान-प्रयोग प्रारम्भ कर दिये थे और धीरे-धीरे शतावधान तक पहुच गए थे। उन्नीस वर्ष की आयु मे उन्होने वम्वई की एक सार्वजनिक सभा मे सौ अवधानो के प्रयोग वताकर वडे-वडे लोगो को आश्चर्यचकित कर दिया था। शतावधान मे वह शतरज खेलते जाना, माला के दाने गिनते जाना, जोड, वाकी, गुणा, भाग करते जाना, सोलह भाषाओ के पृथक-पृथक क्रम से उल्टे-सीधे नम्बरो के साथ अक्षरो को याद रखकर वाक्य वनाते जाना, दो कोष्ठो मे लिखे हुए उल्टे-सीधे अक्षरो से कविता करते जाना, आठ भिन्न-भिन्न समस्याओ की पूर्ति करना इत्यादि सौ कामो को एक ही साथ कर देते थे। विशेपता यह थी कि वह इन सव कामो के पूर्ण होने तक विना लिखे अथवा विना फिर से पूछे ही सव काम कर डालते थे।

उन्नीस वर्ष की आयु मे श्री रेवाशकर जगजीवनदास मेहता के वडे भाई पोपटलाल की पुत्री झवकवाई के साथ रायचन्दभाई का विवाह हुआ। उन्होने इस प्रकार गृहस्थ आश्रम मे पदार्पण तो किया, परन्तु स्त्री आदि पदार्थ उन्हे आकर्षित न कर सके। रायचन्दभाई की मान्यता थी कि 'कुटुम्व रूपी काजल की कोठरी मे निवास करने से ससार वढता है। उसका कितना भी सुधार करो तो भी एकान्तवास से जितना ससार क्षय होता है, उसका शताश भी उस काजल के घर मे रहने से नही हो सकता क्योकि वह कपाय का निमित्त है।'[1]

गृहस्थाश्रम और स्त्री के प्रति इस उदासीनता के वावजूद रायचन्दभाई स्त्री को हेय अथवा तुच्छ नही समझते थे। एक पत्र मे उन्होने लिखा है, "स्त्री मे कोई दोप नही। दोष तो अपनी आत्मा मे है। स्त्री को सदाचारी ज्ञान देना चाहिए। उसे एक सत्सगी समझना चाहिए।"

रायचन्दभाई ने यह मान्यता असत्य सिद्ध कर दी थी कि धर्मकुशल व्यक्ति व्यापारकुशल नही हो सकता। बाईस वर्ष की आयु मे ही उन्होने श्री रेवाशकर जगजीवनदास के साथ बम्वई मे व्यापार किया था। आरम्भ मे दोनो ने मिलकर कपडा, किराना, अनाज वगैरह वाहर भेजने की आढत का काम शुरू किया तथा वाद मे चलकर वडौदा के श्री माणिकलाल, घेलाभाई और सूरत के नगीनचन्द्र आदि के साथ मोतियो का व्यापार किया।

रायचन्दभाई व्यापार मे अत्यन्त कुशल थे। स्वय उनके साझीदार माणिकलाल घेलाभाई के हृदय मे उनकी व्यापारिक कुशलता के प्रति वडा सम्मान था। एक स्थान पर उन्होने लिखा है

"रायचन्दभाई के साथ मेरा लगभग पन्द्रह वर्ष का परिचय था और सात-आठ वर्ष तो उनके साथ मेरा साझीदार के रूप मे सम्वन्ध रहा। ससार का अनुभव है कि अत्यधिक परिचय से परस्पर का महत्व कम हो जाता हे। परन्तु रायचन्दभाई की दशा ऐसी आत्ममय थी कि उनके प्रति मेरा भक्तिभाव दिन-प्रति-दिन बढता ही गया। व्यापारियो का अनुभव है कि व्यापार के काम ऐसे होते है कि वहुत वार साझीदारो मे मतभेद हो जाता है और अनेक वार पारस्परिक हितो मे वाधा भी पैदा हो जाती है। पर रायचन्दजी के साथ मेरी साझेदारी का जितने वर्ष सम्वन्ध रहा, उसमे उनके प्रति किंचित मात्र भी सम्मान कम होने

१ रायचन्दभाई की डायरी से।

का कोई कारण नही मिला। परस्पर व्यवहार मे कभी भी कोई मतभेद उत्पन्न नही हुए। इसका कारण यही था कि उनकी उच्च आत्मदर्शी की मेरे ऊपर गहरी छाप पडी थी।"

गाधीजी 'आत्मकथा' मे लिखते है

"एक ओर जहा मै ईसाई धर्म को ग्रहण न कर सका वहा दूसरी ओर हिन्दूधर्म की सम्पूर्णता अथवा सर्वोपरिता का निश्चय भी मै इस समय तक न कर सका था। हिन्दूधर्म की त्रुटिया मेरी आखो के सामने घूमा करती थी। अस्पृश्यता आदि हिन्दू धर्म का अग हो तो वह मुझे सडा हुआ अथवा प्रक्षिप्त मालूम हुआ। अनेक सम्प्रदायो और जाति-पाति का अस्तित्व मेरी समझ मे न आया। वेद ही ईश्वर-प्रणीत है! इसका क्या अर्थ? वेद यदि ईश्वर-प्रणीत है तो फिर 'कुरान' और 'बाइविल' क्यो नही?"

गाधीजी ने आगे लिखा है—"उस समय एक ओर तो ईसाई मित्र मुझपर असर डालने का प्रयत्न कर रहे थे, दूसरी ओर मुसलमान मित्र इस्लाम धर्म का अध्ययन करने के लिए ललचा रहे थे।" ऐसी परिस्थिति मे रायचन्दभाई ने ही महात्माजी की शकाओ का समाधान किया। महात्माजी ने आगे लिखा है, "अपनी धार्मिक शकाओ के बारे मे मैंने लन्दन के अग्रेज मित्रो से पत्र-व्यवहार किया। उनके आगे मैने अपनी शकाए रक्खी तथा हिन्दुस्तान मे भी जिनपर मुझे कुछ आस्था थी उनसे पत्र-व्यवहार किया। उनमे रायचन्दभाई प्रमुख थे। उनसे मेरा अच्छा सम्बन्ध हो चुका था और उनके प्रति मेरे हृदय मे सम्मान भी था। इसलिए मुझे उनसे जो कुछ मिल सकता था, उसे प्राप्त करने का मैंने निश्चय किया। इसका परिणाम अच्छा निकला। सभीके उत्तर आये। परन्तु रामचन्दभाई के पत्र से मुझे जो शान्ति मिली, वह अन्य किसी पत्र से न मिल सकी। जिस बात की मुझे आवश्यकता थी वह हिन्दूधर्म मे मिल सकती है, रायचन्दभाई के पत्र से मुझे ऐसा विश्वास होगया। उन्होने लिखा था—"धीरज रखो और हिन्दूधर्म का गहरा अध्ययन करो।" उनके एक वाक्य का भावार्थ यह था "हिन्दूधर्म मे जो सूक्ष्म और गूढ विचार है, जो आत्मा का निरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्म मे नही। निष्पक्ष होकर विचार करते हुए मै भी इसी परिणाम पर पहुचा हू।" महात्माजी आगे लिखते है, "अपनी वर्तमान स्थिति के लिए मै रायचन्दभाई का अत्यन्त ऋणी हू। मेरे इस कथन से ही पाठकगण अनुमान लगा सकते है कि मेरे हृदय मे उनके प्रति कितना अधिक सम्मान होना चाहिए।"

रायचन्दभाई ससार के नाना मतमतान्तरो से बहुत दुखी थे। जन-समुदाय की वृत्तिया, विषय, कषाय और छल-कपट आदि देखकर वह अत्यन्त उद्विग्न हो जाते थे। उनकी आखो मे आसू आ जाते थे। वह बहुत बार कहा करते थे—"चारो ओर से कोई बर्छिया भोक दे तो वह मै सह सकता हू, परन्तु जगत् मे जो झूठ, पाखण्ड और अत्याचार चल रहा है, धर्म के नाम पर जो अधर्म हो रहा है, उसकी बर्छी सहन नही हो सकती।"

एक ओर तो रायचन्दभाई ससार-ताप से दुखी थे और दूसरी ओर उन्हे व्यापार मे काफी श्रम करना पडता था। इससे उनका स्वास्थ्य दिन-प्रति-दिन बिगडता ही गया। स्वास्थ्य-लाभ के लिए उन्हे धरमपुर, अहमदाबाद, बढवाण कैम्प और राजकोट ले जाया गया। विविध प्रकार के उपचार किये गए, परन्तु सब निष्फल रहे। चैत्र वदी ५ मगलवार, सम्वत् १९५७ को केवल तेतीस वर्ष की अल्पायु मे ही रायचन्दभाई इस नश्वर शरीर को त्याग कर ससार से विदा होगये।

यद्यपि गाधीजी और रायचन्दभाई आज सशरीर उपस्थित नही है, परन्तु परोक्ष रूप से वे हमारे लिए बहुत कुछ छोड गए है। उनके सात्त्विक साहित्य मे स्थान-स्थान पर हमे उनकी आभाओ का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है, जो हमे सदैव प्रेरणा देता रहेगा।

हेतु शुभ होगा तो आत्मा कलुषित न होगी।

—मो० क० गांधी

गांधीजी की कठोर कसौटी

शोभालाल गुप्त

देश मे अनेक लोग सार्वजनिक हित के नाम पर सार्वजनिक सस्थाए चलाते है। उनमे कोई बुराई होती है, तो उसे छुपाने की कोशिश की जाती है, इस भय से कि बुराई प्रकट हो गई तो सस्था की वदनामी होगी और सार्वजनिक हित को नुकसान पहुचेगा।

गाधीजी इसके विपरीत थे। उन्होने सावरमती मे सत्याग्रह-आश्रम चलाया। जव यह आश्रम उनकी कसौटी पर खरा नही उतरा तो उसका नाम वदलकर उद्योग-मदिर कर दिया। उन्होने इतने से ही सन्तोप नही किया। पहले तो जो बुराइया ज्ञात हुई, उनकी जानकारी आश्रमवासियो को दी और उसके वाद 'नवजीवन' के द्वारा उन्हे सारी दुनिया के सामने रख दिया।

एक वार तो गाधीजी के एक निकट सम्वन्धी चोरी करते हुए पकडे गये। उन्हे गाधीजी ने अपने पुत्र के समान पाला था और वचपन से अपने पास रखा था। उन्होने चोरी की वात स्वय कवूल नही की। आश्रम के मन्त्री ने उसे पकडा। चोरी करनेवाले को इसपर वडा पछतावा हुआ। वह खुशी से आश्रम छोडकर चले गये। उन्होने जो चोरिया की थी, वे न कुछ, थोडे-से पैसो और छोटी, हल्की चीजो की थी। इससे आश्रम को कोई आर्थिक नुकसान नही हुआ। उन्होने अपनी पहले की कमाई से दस हजार रुपया वचाया था। वह उन्होने गाधीजी के कहने से आश्रम को दे दिया। आश्रम मे अपरिग्रह का व्रत पालन किया जाता था। कोई निजी सम्पत्ति नही रख सकता था। इसलिए कर्तव्य-पालन की दृष्टि मे उन्होने अपनी निजी सम्पत्ति आश्रम को दे दी। उनके जैसे आदमी ने छोटी-छोटी चोरिया क्यो की, इसका कारण गाधीजी भी न समझ पाये, लेकिन उनकी बुराई को गाधीजी ने छिपाया नही, सवके सामने रख दिया।

गाधीजी ने अपनी पत्नी कस्तूर वा को भी माफ नही किया। उनकी दुर्वलता को भी सर्वसाधारण के सामने प्रकट कर दिया। कस्तूर वा ने गाधीजी के जीवन के वडे-वडे परिवर्तनो मे साथ दिया। उनका जीवन पवित्र था। उन्होने असामान्य त्याग किया था। गाधीजी के त्याग के रास्ते मे उन्होने कोई रुकावट नही डाली। गाधीजी ने व्रह्मचर्य का व्रत लिया तो उसे निभाने मे आगे होकर मदद दी। उन्होने द्रव्य का त्याग किया, किन्तु उसका मोह सर्वथा न छोड पाई। कस्तूर वा ने एक साल या उससे कुछ साल पहले से अलग-अलग लोगो से अलग-अलग मौको पर मिले सौ-दोसौ रुपये इकट्ठे कर रखे थे। गाधीजी ने नियम यह वना रखा था कि यदि कोई कस्तूर वा को उनके निज के उपयोग के लिए कुछ दे जाय तो भी वह रकम उनको अपने पास नही रखनी चाहिए। इसलिए कस्तूर वा के पास इकट्ठी हुई रकम को चोरी की रकम माना गया। आश्रम मे चोर आये। उन्हे कुछ नही मिला। किन्तु कस्तूर वा की राशि का पता चल गया। कस्तूर वा ने पश्चात्ताप किया। किन्तु उसके वाद भी एक भाई उन्हे चार रुपये भेट कर गये तो उन्होने आश्रम मे जमा नही कराये। किसी तरह इसका पता चला तो आश्रम के व्यवस्थापक डरते-डरते कस्तूर वा के पास गये। कस्तूर वा ने चारो रुपये उनको दे दिये और वचन दिया कि भविष्य मे वह ऐसा नही करेगी। कस्तूर वा ने यह भी कहा कि अगर भविष्य मे ऐसी गलती होगी तो वह गाधीजी और आश्रम को छोड देगी। गाधीजी ने लिखा कि अव कस्तूर वा आश्रम मे निर्दोप की भाति रहेगी और अगर लोग निभा लेगे तो मौके-वे-मौके उनके साथ प्रवास मे भी रह सकेगी। कितने कठोर थे गाधीजी अपनी सह-धर्मिणी पत्नी के प्रति, जिसने जीवन मे उनके लिए वडे-से-वडा त्याग किया था,

आश्रम मे एक विधवा बहन रहती थी। उनके साथ आश्रमवासी एक नौजवान का, जो कुआरे थे, सम्बन्ध हो गया। आश्रम मे ब्रह्मचर्य-पालन का आग्रह था। उसका भग हुआ। गाधीजी ने इस बडी बुराई को भी प्रकट करने मे सकोच नही किया।

गाधीजी को इन तथा ऐसी ही अन्य घटनाओ पर गहरी वेदना हुई। उन्होने इन घटनाओ की जिम्मेदारी अपने सिर पर ओढ ली और अपनी खूब प्रताडना की। 'नवजीवन' मे उन्होने अपनी व्यथा का ऐसा मर्मस्पर्शी वर्णन किया है कि जिसकी दूसरी मिसाल नही मिल सकती। सत्य का कोई सच्चा आग्रही और पावन व्यक्ति ही ऐसे उद्गार प्रकट कर सकता है। उन्होने लिखा

"मित्र और अनजान-अपरिचित भोले पाठक मन्दिर का और मेरा त्याग करे तो दुहेरी भलाई हो। मै छूटू, वे छूटे, मेरा बोझ हल्का हो। लेकिन दुनिया की कठिन पहेलिया इस तरह सहज ही नही सुलझ सकती। इस पहेली को हल करने का एक तरीका तो यह है कि मन्दिर मे रहनेवाले पवित्र स्त्री-पुरुष मुझे छोड दे। दूसरे, अगर मन्दिर मे रहने-वाले तमाम नापाक नर-नारी भाग जाय तो भी, मेरे विचार मे, सुन्दर परिणाम निकले। मै भाग जाऊ, यह तो और भी अच्छा है, सोने मे सुगन्ध है, लेकिन इनमे से कोई एक भी बात अभी सम्भव नही।

"पाठक, कृपाकर इन बातो पर विश्वास करे। यह समझना चाहिए कि ये पाप मेरे पापो की प्रतिमाए—प्रतिमूर्तिया है। ऊपर जो कुछ मैने लिखा है, वह इस उद्धत विचार से नही लिखा कि 'मै अच्छा हू, मेरे साथी खराब है' मुझे पक्का विश्वास है कि मेरे हृदय की गह-राई मे छिपी हुई अनेक कमजोरिया ही इस तरह फोडो के रूप मे फूट पडती है। मैने कभी सम्पूर्णता का दावा नही किया है। आश्रम मे जो पाप होते है, वे मेरे पापो की झाई-प्रतिध्वनि है। मै तो यही कह सकता हू कि मै अपने पापो को नही जानता। अनन्त विचार-जगत् मे कितने पाप करके मै आसपास की हवा को गन्दी करता होऊगा, कौन जानता हे ? 'महात्मा' पद मुझे हमेशा शूल के समान चुभा है, आज तो मै उसे अपने लिए एक गाली समझ रहा हू। लेकिन मै कहा जाऊ, क्या करू ? निकल भागू ? आत्महत्या करू ? भूखो मरू ? आश्रम मे गड जाऊ ? सार्वजनिक काम के लिए अथवा अपने पेट के लिए एक भी कौडी लेने से इनकार करू ? कोई बात इनमे से ऐसी नही, जिसे अभी करने की इच्छा हो, हिम्मत भी नही है।

"मै इतना आशावादी हू कि दूसरे भले ही मेरी बात न माने, लेकिन अगर अकेले मन्दिर मे रहनेवाले ही मन, वचन और काया से मेरा कहना कबूल करे तो भी मै अपनी कल्पना का स्वराज्य पाने की आशा रखता हू। मै अपने पापो को देखने और उन्हे दूर करने के लिए हमेशा तैयार रहता हू। इस कारण ऐसे-ऐसे दोषो को देखते हुए भी मै यह आशा रखकर जी रहा हू कि आश्रम अपने नाम की योग्यता अभी भी सिद्ध करेगा और फिर से मन्दिर मिटकर आश्रम बनेगा। इसी कारण अभी तो मै यही विचार रखता हू कि जैसे-जैसे कमजोरिया प्रकट होती जाय, वैसे-वैसे उन्हे जाहिर करता जाऊ और मन्दिर को निभाता, चलाता रहू।

"इस पापी, अपूर्ण सस्था के द्वारा मै प्रभु से मिलने की आशा रखता हू। इस सस्था को मै अपनी अच्छी-से-अच्छी कृति मानता हू। मै कहता रहता हू कि यह सस्था मुझे मापने का गज है। इन पापो के प्रकट हो जाने पर भी मेरी इस कल्पना मे कोई फेरफार नही हुआ है। हो सकता है, यह मेरा निरा भ्रम हो, सयानेपन के बदले पागलपन हो। ऐसी दशा मे

रजत सीप महुं भास जिमि जथा भानुकर वारि।
जदपि मृषा तिहुंकाल सोइ भ्रम न सकई कोउ टारि॥

अर्थात् "सीप मे चादी का और सूर्य के ताप मे जल का भ्रम होना सर्वथा झूठ है, फिर भी अज्ञानी आदमी को वह सच्चा ही मालूम होता है। इस भ्रम को सिवा ज्ञान के और कोई नही मिटा सकता।"

जो सार्वजनिक सस्थाए चलाते है या सार्वजनिक काम करते है, वे इससे क्या सीख सकते है ? उन्हे सीखना चाहिए कि अपनी या अपने साथियो की निर्मलता सर्वोपरि है और उसकी हर कीमत पर रक्षा की जानी चाहिए। उसके बिना सार्वजनिक जीवन विकसित और समृद्ध नही हो सकता।

मौलाना की दुआ

पुरासु बालकृष्णन

बकरीद को सवेरा हुआ।

मौलाना गैज ने उच्च स्वर मे अजान दी।

यद्यपि उनकी आयु ७० को पार कर चुकी थी, परन्तु उनकी वाणी मे अभी भी स्पष्टता व ओज था। वह उसी स्वर से अजान दे सकते थे, जिस स्वर से वह मुअज्जिन के रूप मे देते थे। उनकी आत्मा की पवित्रता से उनका शरीर स्वस्थ था और उसमे चमक भी थी।

मैं और मेरी पत्नी उनके साथ उनके घर मे ईद मना रहे थे। हम कुछ दिन के लिए आये थे। जब उनकी पत्नी, पुत्र, पुत्री, दामाद, पौत्र, पौत्री, मेरी पत्नी व मैने अजान सुनी तो हम उनके चारो ओर एकत्र हो गये। जब नमाज समाप्त हो गई तो मैने उनसे पूछा "जनाब, जब आप मुअज्जिन थे, तो दूसरे लोगो को नमाज पढने के लिए मस्जिद मे इकट्ठा करते थे, परन्तु अब बकरीद को भी मस्जिद मे नही जाते। क्या बात है ?"

गैज ने मुस्कराते हुए कहा, "मेरे अजीज, यह उन दिनो की बात है।"

"क्या वे दिन बदल गए है ?" उनके पुत्र ने पूछा।

"दिन नही बदले, परन्तु मनुष्य बदल गये है।"

"हा, वे अवश्य बदल गये है," उनकी नवविवाहित पौत्री ने कहा, "दादा, आप बूढे हो गये है। अब आप उतना काम नही कर सकते। आपके शरीर मे उतनी ताकत भी नही रही।"

वृद्ध ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "मेरे अजीजो, मैं नही कहता हू कि तुम लोग मस्जिद मत जाओ। परन्तु अगर तुम्हारे दिल मे सच्ची मोहब्बत है, जिसमे मनुष्यो के प्रति समान दृष्टि हे तो मस्जिद जाने की आवश्यकता नही। सच्चा प्रेम ही ईश्वर की वास्तविक पूजा है।"

"क्या आपके हृदय मे ऐसा प्रेम उत्पन्न हो गया हे ?" उनके पुत्र ने कुछ अशिष्ट ढग से पूछा।

"मै तुम्हारे प्रश्न का उत्तर कैसे दे सकता हू ?" उन्होने कहा, "अगर ऐसा प्रेम उत्पन्न भी हो गया तो वह अल्लाह का है। वही हमे प्रेम देता है। मैं तो उस प्रेम को पाने का प्रयास कर रहा हू।" उनके ये वाक्य सुनकर थोडी देर मौन छा गया।

वृद्ध ने मेरी ओर मुडकर कहा, "सज्जाद, तुमने परिवर्तन का कारण पूछा है। मैं उसे बताऊगा। खुदा ने कृपा करके एक बार मेरे हृदय मे अपने सर्वव्यापी प्रेम की धारा बहाई थी। यह नजात के रेगिस्तान की बात है। उस समय मेरी उम्र ४० वर्ष की थी।

"छ दिन तक हम तपते हुए रेगिस्तान मे चलते रहे। एक-एक दिन युग की तरह प्रतीत होता था। चारो ओर रेत-ही-रेत थी, जो लोहे की तरह तप जाती थी। ऊपर से सूर्य की गर्मी भी भयानक थी। हम लोग दो भट्टियो के बीच मे थे, जो साक्षात नर्क हो रहा था। हम कुछ ही हरी भूमि देखने व जल के लिए तडप रहे थे। हमारे उस्ताद ने कहा कि अल्लाह से दुआ मागो कि वह हमे मरने से बचा ले।

"मैने दुआ मागी, 'हे अल्लाह हमारे शरीर जल के प्यासे है और हमारी आत्मा तुम्हे पाने को आतुर है। हमे जल व हरियाली की ओर ले चलो, जहा हम मौत से बच जाय।'

"हम दिन-भर चलते रहे, परन्तु जल नही मिला। अल्लाह ने हमारी दुआ कबूल नही की। दूसरे दिन मैने फिर दुआ की, 'हे रहीम अल्लाह हम गर्मी व प्यास से मर रहे है। तुम्हारे बेटे तुम्हे पुकार रहे है। हमे तुमपर ईमान है। हम भयानक रेगिस्तान मे तुम्हारे रहमो करम पर है।

"दूसरे दिन भी अल्लाह ने हमारी दुआ कबूल नही की। तीसरे दिन भी हमने दुआ मागी, परन्तु रेगिस्तान खत्म नही हुआ। चौथा दिन आया। हम मायूस हो चुके थे। लेकिन जबतक हमारे गले मे जरा भी नमी थी, हमने अल्लाह का नाम पुकारना नही छोडा। हमने कहा, 'हे खुदा, तूने पैगम्बर को भेजा। हम उसीके बन्दे है। हमारे गुनाहो को माफ कर दे और इस जलती हुई रेत से बचा ले।

"हमारे मुह और हृदय मे अल्लाह का नाम था, परन्तु दूर-दूर तक फैले रेगिस्तान का छोर नही मिल रहा था। पाचवे दिन सूरज जब तपने लगा तो हमारी अन्तिम आशा भी टूट गई। हम निराश हो गये। हमे मौत की छाया दिखाई देने लगी। हमने पुकारा, 'हे अल्लाह, क्या हमे इस रेगिस्तान मे मारना चाहता है। तेरी इच्छा ही बलवती है। हम लाचार है।'

"उसके बाद हमने दुआ मागनी बन्द कर दी। पाचवा दिन भी पूरा हुआ। छठा दिन शुरू हुआ।

"छठे दिन मौत छायामात्र नही रही, बल्कि सामने दिखाई दी। हमारे रास्ते मे बहुत-सी अस्थिया बिखरी पडी थी। कुछ दूर चलने पर अस्थियो के ढेर-के-ढेर दिखाई पडे। इस प्रकार हमे मौत के दर्शन हुए। क्या वे अस्थिया हमारी ही तरह के यात्रियो की थी, जो रेगिस्तान मे मर गये थे ? एक ओर मौत थी, दूसरी ओर रेगिस्तान की लू चल रही थी।

"मैने अस्थियो को देखा। वे मनुष्य से बडे आकार के जानवरो की थी। वे ऊटो की हड्डिया थी, जो रेगिस्तान की गरमी से झुलस गए थे और मरने के बाद उनका शरीर जलता रहा। बडा भयानक दृश्य था। कोई-कोई ढाचे समूचे ऊट के थे। हमने कल्पना की कि ऊट गिर गया होगा। फिर चलते-चलते उसकी अस्थिया ही रह गई। ये अस्थिया गर्मी मे जलते-जलते सफेद हो गई थी।

"क्या हमारा अन्त भी इसी प्रकार होगा ? क्या हम भी इसी भाति जल जायगे ? ऐसी कल्पना कर हम काप उठे। उन अस्थियो को देखकर हमे मौत नजर आगे लगी। हमने अपने ऊटो की ओर देखा, जो हमे ले जा रहे थे। इससे पहले हमे उनका ध्यान भी नही आया था। क्या हमारे ऊट भी उन्हीकी तरह मौत के मुह मे चले जायगे ? क्या हम भी उन्हीकी तरह मर जायगे ? क्या हम व ऊट एक ही प्रकार मृत्यु का आलिंगन करेगे ?

"इन मूक पशुओ के विषय मे मैने उससे पहले जरा भी नही सोचा था। वे चुपचाप भूखे-प्यासे व थके हुए हमे ले जा रहे थे। उनके पेट भीतर को चले गये थे, उनकी आखे डूब गई थी, उनकी नाक पानी के बिना सूख गई थी। इस प्रकार वे भी धीरे-धीरे हमारी तरह मृत्यु की ओर बढ रहे थे।

"मुझे एक नया विचार आया। हम मृत्यु मे एक-दूसरे के साथी है। मृत्यु का समान बन्धन हममे एकता स्थापित कर रहा था। हम जीवन मे भी साथी थे, परन्तु इसका अनुभव मुझे तभी हुआ जब मृत्यु की निकटता ने मेरी आखो के आगे से पर्दा हटा दिया था।

"हम उन मूक पशुओ पर सवार थे। हमने उनके बारे मे कभी नही सोचा। हम अपनेको ही दुखी मानकर दुआए माग रहे थे। हमने उनके लिए दुआ नही मागी। हम कितने स्वार्थी थे। ये मूक पशु हमारे सहयोगी व प्रकृति के जीव थे, जो प्रकृति की इच्छानुसार चलते थे।

"यकायक मेरे हृदय मे उन मूक पशुओ के लिए दया का भाव उमड आया। वे कितने प्यारे है, नारी की तरह। मृत्यु से पूर्व हमे उनके लिए भी दुआ मागनी चाहिए। 'हे अल्लाह, तेरे द्वारा भेजे गये हमारे मददगार व पथ-प्रदर्शक इन मूक वाणीरहित सहयोगी पशुओ के लिए भी हम दुआ मागते है। हमारी दुआ को सुन और उसे कबूल कर।'

सूरज से दोपहर की तपती धूप आ रही थी। "हिम्मत रखो," हमारे नेता ने पुकारा और नखलिस्तान की ओर इशारा करते हुए कहा, "देखो, हम बच गये। अल्लाह ने हमारी दुआए कबूल कर ली।" तभी एक जलमिश्रित शीतल पवन का झोका आया। उसका स्पर्श फूलो के गुच्छे की तरह प्रतीत हुआ।"

जब गैंज ने अपनी कहानी समाप्त की तो थोडी देर के लिए जनसमूह मे सन्नाटा छा गया।

●

जीवन की अखण्डता और गांधीजी

उपाध्याय श्री अमर मुनि

●

गांधीजी अहिसा और सत्य के एक निर्मल प्रतीक थे। भारत की और विश्व की राजनीति को नया मोड देनेवाले युगद्रष्टा पुरुष थे। उन्होने राजनीति के केन्द्र को वदला, राजनीति की दिशा को बदला। यह गाधीजी के जीवन की सवसे वडी उपलब्धि थी।

राजनीति एक अलग केन्द्र पर खडी थी, धर्म एक अलग केन्द्र पर। राजनीति का मूलाधार घृणा, द्वेष एव विरोध होता है। विश्वासघात और धोखा उसकी परिभाषा मे आता है। धर्म का मूलाधार इससे भिन्न है। प्रेम, मैत्री, सत्य और ईमानदारी—यह धर्म का आधार हे। धर्म और राजनीति को अतीत मे कभी अलग-अलग टुकडो मे बाट दिया गया था, अलग-अलग दिशाओ मे उन्हे राम एव रावण की तरह एक दूसरे के विरोध मे खडा कर दिया गया था। यह मान लिया गया था कि राजनीति मे प्रेम का कोई अर्थ नही, सत्य के कोई माने नही। वैर, घृणा, प्रतिशोध, धोखा—वस यही राजनीति का स्वरूप हे।

गाधीजी ने इस भेद को तोडा। उन्होने इस व्यापक भ्रान्ति का निराकरण किया—घृणा, नफरत और धोखा कोई नीति नही हो सकती है। धर्म-नीति और राजनीति कोई परस्पर विरुद्ध दो चीजे नही है, मुख्य जो है, वह नीति है। नीति प्रेम सिखाती है, मैत्री और सत्य की शिक्षा देती है। जो नफरत और मूलोच्छेद की बात करती है, जो प्रतिस्पर्धा और द्वेष की आग लगाती है, वह नीति नही, अनीति है। फिर भले ही वह कोई भी नीति हो।

जीवन के इस नीति-सम्बन्धी द्वैध पर, घातक विभेद पर, एक गहरा प्रहार किया था गाधीजी ने। जीवन के इन टुकडो को जोडने का प्रयत्न किया उन्होने।

जीवन मे धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका है तो राजनीति की भी अपनी एक प्रतिष्ठा है। व्यक्ति समाज मे रहकर न धर्म से विमुख होकर जी सकता है और न राजनीति से अनपेक्ष रहकर। "कोउ नृप होउ हमहु का हानी" का दर्शन समाज का जीवन-दर्शन नही हो सकता। धर्म व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करता है, उसके आदर्श और सकल्पो को उदात्त वनाता है, और राजनीति भी उसके जीवन को प्रतिक्षण प्रभावित करती है, जीवन की हर करवट पर राजनीति की छाया पडती है, आदर्शों और सकल्पो को साकार वनाने मे उसका अनुदान अपरिहार्य है। यह वात आज की नही, प्राचीन काल मे भी इतनी ही सत्य थी, जितनी कि आज है। इसीलिए तो 'यथा राजा तथा प्रजा' का सूत्र चला।

व्यक्ति को जब राजनीति और धर्म-नीति दोनो भूमिकाओ को समान रूप से निभाते जाना है, तो यह कैसे सम्भव है कि उस भूमिका मे इतना बडा द्वैध, इतनी वडी खाई पडी रहे कि छलाग लगाकर भी पार न की जा सके। धर्म-मदिर मे जो व्यक्ति जाता है वही व्यक्ति राज ससद मे भी जाता है। फिर यह क्या है कि वह धर्मनीति मे गया तो सफेद चादर ओढ ली, देवता बन गया, भक्ति और प्रेम की चौपाइया पढने लगा और राजनीति मे गया तो काली चादर ओढ ली, अधिकार और नफरत की हुकार करने लगा। यह द्वैध क्यो? इतनी बडी खाई क्यो है जीवन मे?

इतिहास पढने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अहिसा धर्म का अग माना गया है, सत्य और प्रेम, धर्म का रूप माना गया है। और छल, फरेब, धोखा, हिंसा यह राजनीति मानी गई। धर्मनीति को क्रियाकाण्ड के एक छोटे-से दायरे मे बद कर दिया गया और वहा व्यक्ति ने अपने-अपने ऊपर एक से एक बढकर कठोर अकुश लगाये। किन्तु दूसरी ओर जीवन के व्यापक क्षेत्र मे राजनीति की आड लेकर वही व्यक्ति अधिकाधिक निरकुश होता

रहा। इतना निरकुश होता गया कि मानव बस बाहर के आकार मे ही मानव रह गया, अन्दर मे दानव बन गया —इस प्रकार एक ही व्यक्ति दोनो गद्दियो पर अलग-अलग मुखौटे लगाकर बैठता रहा।

गाधीजी ने इतिहास के इस अनिष्ट प्रवाह को रोक दिया, इस खाई को पाटने का प्रयत्न किया। उन्होने धर्म और राजनीति को अलग-अलग खेमो से उठाकर एक ही जगह प्रतिष्ठित किया—नीति मे। नीति न धर्म से अलग हो सकती है, न राजनीति से। नीति व्यक्ति और समाज का आधार है। व्यक्ति गलत कार्य करता है, नो सुधर सकता है, परन्तु यदि आदर्श गलत हुआ तो व्यक्ति गुमराह होता रहेगा, भटकता और बिगडता रहेगा। घृणा असत्य और द्वेष कभी किसी समाज का उच्च आदर्श नही हो सकता। व्यक्ति यदि बुराई करता है तो उससे द्वेष करने की आवश्यकता नही, व्यक्ति अगर दुराचारी है, तो उससे घृणा करने की आवश्यकता नही है। उसकी बुराई को मिटाइए, उसकी आदत को सुधारिए।

आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने भी यही सन्देश दिया था—व्यक्ति पाप करता है तो उसके पाप को मिटाइए, व्यक्ति को नही। पापी से घृणा मत करिए, पाप से घृणा करिए। यदि पापी से घृणा करने की पद्धति चली तो समाज मे पापी कौन नही है ? फिर पिता पुत्र से घृणा करेगा, माता पुत्री से नफरत करेगी। पत्नी पति से और पति पत्नी से नफरत करेगा—फिर समाज का जीवन, घृणा और नफरत की जलती हुई भट्टी के सिवा और क्या रहेगा ? जहा सब एक दूसरे से नफरत, द्वेप और धोखा करते रहेगे, वहा कौन कैसे सुख से जी सकेगा ? इसलिए भगवान महावीर ने कहा—घृणा पापी से नही, पाप से करो।

पच्चीस शताब्दी बाद यही सिद्धान्त गाधीजी के जीवन मे प्रतिध्वनित हुआ। उन्होने कहा, "तुम सघर्ष कर सकते हो, युद्ध कर सकते हो, पर व्यक्ति से नही, व्यक्ति की बुराइयो से।" अग्रेजो से गाधीजी ने सघर्ष किया, किस नीति के आधार पर। वह कहते थे, "अग्रेज भी मेरे मित्र है, वन्धु है, मै एक अग्रेज की भी उसी हृदय से रक्षा करूगा, जिस हृदय से अपने एक निकट के मित्र की।" राजनीति मे यह बिल्कुल नई बात थी। उन्होने कहा, "मेरा अग्रेजो से कोई द्वेष नही है, मुझे उनसे कोई घृणा नही है।" आप पूछेगे कि फिर सघर्प किस बात का ? सघर्ष था नीति का, सिद्धान्त का। अग्रेजो की गलत नीतियो का। उन्होने सिद्धान्त की लडाई लडी और सिद्धान्त से लडी। आप कल्पना कर सकते है कि यदि ब्रिटिश साम्राज्य से गाधीजी की लडाई शस्त्रो से और सेना से होती, तो क्या कभी वह विजयी बन सकते ? यह लडाई यदि दोसौ वर्ष भी चलती तो शायद उसका फैसला गाधीजी के पक्ष मे नही हो पाता। किन्तु उन्होने लडाई का बिल्कुल नया तरीका निकाला, और यह वह तरीका था, जो पच्चीससौ वर्ष पूर्व बुद्ध और महावीर ने आध्यात्मिक सिद्धान्त के रूप मे व्यक्त किया था। गाधीजी ने उसका प्रयोग व्यवहार क्षेत्र मे किया, व्यक्ति से आगे वढकर सामाजिक भूमिका मे किया, अटल विश्वास और धैर्य के साथ। उन प्राचीन उदात्त आदर्शो की व्याख्या की उन्होने वर्तमान के जीवन-दर्शन से। गाधी वाङ्मय पढते-पढते वहुत बार मुझे लगता है कि यह महाश्रमण महावीर बोल रहे है, गौतम बुद्ध की वाणी प्रतिध्वनित हो रही है। गाधीजी ने सुन्दर अतीत को सुन्दर वर्तमान मे अवतरित कर दिखाया।

मै दिल्ली मे एक बार क्रिप्स-मिशन के समय गाधीजी से मिला। वह बहुत व्यस्त थे। बहुत थोडे समय के लिए हमारी वार्ता का कार्यक्रम था। पर जब बातचीत चली तो लगभग दो घन्टे तक बैठे रहे। वार्ता की गहराई मे उतरते रहे, फलत समय की गति का न उन्हे पता रहा, न मुझे ही। अपनी कार्य-पद्धति के प्रसग मे उन्होने कहा, "मै जो कर रहा हू वह आप ही लोगो का काम है। मै सबसे प्रेम करता हू, अपने विरोधी के प्रति मुझे घृणा नही। वस्तुत मेरा कोई विरोधी है ही नही। एक दूसरे के मन को न समझने का ही यह सब द्वन्द्व है। मै अन्दर मे देखता हू। अत मेरे लिए जो काटे विछाता है, उसके लिए भी मेरा मन फूल विछाता है। यह आप सन्तो की ही पद्धति है न ? और बस यह आपकी पद्धति ही मेरी पद्धति है।" और खिलखिलाकर अन्त मे कहा, "क्यो ठीक है न ? और इस वात मे आपका ही काम कर रहा हू।"

भारतीय सन्त-परम्परा का आदर्श यही रहा है कि—वह किसीको विरोधी और दुश्मन मानती नही, यदि कोई उनसे विरोध और शत्रुता रखता भी है तो वे उसके लिए भी प्रेम एव स्नेह की वर्षा करते है। काटा बोनेवाले के लिए भी वे फूल बिछाते है

"जो तोकू काँटा बुवै, ताहि बोय तू फूल"

बुराई करनेवाले की भी भलाई करना—यही साधुता का लक्षण है—

मै देखता हू कि आज आदमी खण्ड-खण्ड होकर जी रहा है। मुझे तो ऐसा लगता है कि वह अपने लिए नही, बल्कि दूसरो के लिए जी रहा है। घर मे मैले-कुचैले गन्दे कपडे रखनेवाली स्त्री जब बाहर जाती है तो पाचसौ रुपये की साडी पहनकर निकलती है, इसका क्या मतलब है ? अगर स्वच्छता कोई चीज है और वह अच्छी लगती है, तो वह घर मे भी रहनी चाहिए। आदमी कपडा पहनता है तो अपनी रुचि के आधार पर वस्त्रो का चुनाव करता है। घर हमेशा गन्दा रहता है, समय पर ठीक तरह झाडू भी नही लगती। पर जब कोई महमान घर आने वाला होता है तो सफाई-पुताई होती है, कुछ खास तरह का खाना बनता है। मतलब यह है कि आदमी दूसरो के लिए कपडे पहनता है, दूसरो के लिए सफाई करता है और दूसरो के लिए ही खाना बनाता है। घर मे वाणी बोलता है तो जहर का टुकडा। मगर मित्रो के बीच बैठकर बडी मीठी अमृत-सी वाणी बोलता है। स्थिति यह है कि वह जीवन को होली का खेल समझ रहा है, फलत होली के दिनो मे बच्चो की तरह अलग-अलग मुखौटो मे अपनेको जन-समाज के समक्ष उपस्थिति कर रहा है।

गाधीजी ने जीवन के इन अलग-अलग टुकडो को जोडकर सीने का प्रयत्न किया था। उन्होने कहा, 'यदि तुम्हे स्वच्छता प्रिय है, तो केवल बाहर मे ही नही, घर मे भी रखो। यदि मधुर वाणी को श्रेष्ठ मानते हो, तो उसका प्रयोग बाहर मे ही क्यो घर मे क्यो नही करते ? धर्म और राजनीति को, समाज और परिवार को अलग-अलग खण्डो मे मत बाटो, यदि कोई नीति, मर्यादा और सस्कृति हो सकती है तो वह जैसी मदिर और मस्जिद मे होगी, सभा और समाज मे होगी, वैसी ही घर और परिवार मे भी होगी।' भारतीय तत्व-चिन्तन का यह सूत्र उनके जीवन मे उतरा था

जहां अन्तो तहा वहि,
जहा वहि तहा अन्तो।

जैसा विचार और आचार भीतर मे हे, वैसा ही बाहर मे और जैसा बाहर मे वैसा ही भीतर मे।

गाधीजी हमारे बीच से चले गए। पर मैं नही मानता कि भारत मे गाधीजी की मृत्यु हो गई ? गाधी की सस्कृति, गाधी का चिन्तन, गाधी का दर्शन भारतीय सस्कृति हे, भारत के चिन्तन और दर्शन की अजस्र धारा है, वह कभी सूख नही सकनी। हा, इतना जरूर हुआ है कि गाधीजी का जीवन-वृत्त लेकर जो चले थे, वे आज अपने दर्शन और आदर्श के लिए प्रभावशाली सिद्ध नही हो रहे है। गाधीजी के नाम पर भी आज मिलावट चल पडी है, गाधीजी की एकरूपता का दर्शन—गाधीजी के नाम पर ही बहुरूपता के सुन्दर आवरणो के साथ प्रस्तुत हो रहा है। आज राष्ट्र का जीवन खण्ड-खण्ड हो रहा है, नेता और जनता का जीवन दर्शन आज विश्रृखलित हो गया हे। सिद्धात और आदर्श-निष्ठा के स्थान पर सिर्फ सभ्यता, औपचारिकता और दिखावा—जीवन का क्रम बन गया है। गाधीजी ने जिस राजनीति को धर्म से सस्कारित करने का प्रयत्न किया था, वह राजनीति धर्म से बिछुड गई हे और जीवन को एक राजनीति का खेल बनाकर उसके टुकडे-टुकडे कर दिये है। गाधीजी की आज आवश्यकता है, उतनी कि जितनी गाधीजी के समय मे भी नही थी। और इसीलिए आवश्यकता है कि हमारे जीवन का दृष्टिकोण, जीवन का रूप जो खण्ड-खण्ड मे विभक्त हो रहा है, उसे अखण्ड रूप मे उपस्थित करने का आवाहन करे, प्रेरणा जगाए और मार्गदर्शन प्रस्तुत करे।

'अपकारिषु य साधु स साधु रितिमे मति'—सन्त के हृदय मे सगम जैसे दुष्टो के प्रति भी दया, करुणा और प्रेम छलकता रहा है। विरोधी को विनोद-पूर्वक विजय करना—यह सन्तो की पद्धति रही हे। गाधीजी ने इसी पद्धति को शासन-पद्धति के साथ भी जोडा। यति और भूपति के अन्तर को मिटाकर उन्होने जीवन मे यह दिखाया कि वस्तुत· यति ही भूपति बन सकता है। यह सत-पद्धति

ही राष्ट्र की जीवन-पद्धति बन सकती है।

मै गाधीजी का एक सस्मरण पढ रहा था। उन्होने लिखा है कि मेरा एक प्रशसक है और एक आलोचक भी है। आलोचक मेरी बुराई करता है, प्रशसक उसे सहन नही कर पाता। वह उसके प्रतिकार मे सघर्ष करने पर उतारू हो जाता है, वह भिड पडता है और वातावरण मे अशान्ति पैदा करता है। इस प्रसग मे मुझसे कोई यह पूछे कि—मै इन दोनो मे से पुष्प-माला पहनाऊ तो किसको पहनाऊ? आलोचक को पहनाना यह एक सामान्य जन-व्यवहार के विपरीत बात होगी। किन्तु प्रशसक को भी कैसे पहनाई जा सकती है? जो मेरी प्रशसा के लिए सिद्धान्त को छोड बैठता है, वह मेरा प्रशसक कहा रहा? मैने कहा है, 'आलोचक के प्रति भी प्रेम रखना चाहिए, कोई निन्दा का जहर उगलता है तब भी तुम बदले मे सद्भाव का अमृत ही बरसाओ।' मेरा यह सिद्धान्त है और जो मेरे इस सिद्धान्त का पालन नही करता, वह मेरा अनुयायी नही, उसे कैसे माला पहना सकता हू? प्रशसक होकर भी मेरा अनुयायी कहा रहा? अब यदि तुम कहो कि माला पहनानी ही है, तो मै आलोचक को ही माला पहनाऊगा, क्योकि मुझे आलोचक से भी घृणा नही, मै उसे प्रेम ही करता हू।

मैने यह पढा तो लगा कि यह कौन बोल रहे है? गाधीजी या महावीर? गाधीजी या बुद्ध? जीवन की इस महान् ऊचाई पर भगवान महावीर और तथागत बुद्ध की वाणी का नाद मुखरित हो रहा है कि नही? व्यक्ति तो एक माध्यम होता है। जो अखण्ड और अनन्त सत्य की प्रतिध्वनि है, वह कभी किसी भी माध्यम से ध्वनित हो सकती है। गाधी और महावीर मे, गाधी और बुद्ध मे सत्य की इस अखण्डतानुभूति का, ऐक्यानुभूति का दर्शन किया जा सकता है।

मैने यह देखा है कि गाधीजी के जीवन मे सत्य की अखण्ड निष्ठा झलक रही है। उनका जीवन-दर्शन सत्य की प्रतिध्वनि था। जीवन के बाहर-भीतर के द्वैध को तोडकर उन्होने जीवन मे एकरूपता का आदर्श उपस्थित किया है।

मनुष्य स्वभावत अलग-अलग खण्डो मे विभक्त हो गया है। वह घर मे कुछ रहता है और बाहर मे कुछ। भगवान के सामने कुछ और रहता है और शैतान के सामने कुछ और। अलग-अलग मुखौटे लगाने की उसकी आदत हो गई है। कभी प्रेम का मुखौटा लगाकर भक्त बन जाता है तो कभी घृणा का मुखौटा लगाकर शैतान।

एक बहन जो बडी सुशील और प्रतिष्ठित घर की है, एक बार अपने पति की शिकायत करने लगी—"महाराज, सब लोग कहते है कि वह बडे शान्त है, प्रेमी स्वभाव के है, पर पता नही क्या बात होती है, जब घर मे आते है तो बडा विकराल रूप लिये आते है, घर के नौकर कापने लग जाते है, बच्चे भय खाते रहते है, घर का वातावरण बडा मनहूस-सा बन जाता है। भय और आतक छाया रहता है। बाहर का उनका शान्त रूप पता नही कहा गायब हो जाता है।"

मैं समझता हू कि मनुष्य के जीवन का यह द्वैत है। मनुष्य स्वय जैसा है, घर मे उसी असली रूप मे आता है। बाहर मे वह मित्रो के बीच मे रहता है, समाज के सामने रहता है, सभ्यता और शिष्टता के कुछ बन्धन होते है, अत वहा वह अपनी असली रूप छिपाकर रहता है, प्रेम और शान्ति का मुखौटा डालकर चलता है, देवता बन जाता है। घर मे इस मुखौटे को लिये कहातक रहेगा? घर मे सभ्यता और शिष्टता का लिहाज नही रहता। अत वह मुखौटा उतर जाता है और मनुष्य अपने असली रूप मे आ जाता है। आदमी की असलियत का पता मित्रो व समाज के बीच मे नही लगता। घर मे उसका कैसा रूप है, क्या मुखौटा है, बस उसीपर से उसकी सही पहचान होती है।

●

आदर्श-रहित मनुष्य पतवार-रहित जहाज के समान है।

—मो० क० गांधी

सच्चे वैष्णव जन

लक्ष्मीनारायण भारतीय

●

वैष्णव पथ भागवत्, पचरात्र, नारायण, ऐकातिक, वासुदेव, सात्वत आदि सम्बोधनो से पहचाना जाता है और महाभारत ने इसे 'लोक-धर्म' की सज्ञा दी है

सप्तभिरुद्गीर्णं लोकधर्म मनुत्तयम् ।

(शान्तिपर्व ३३५-२९)

इसे लोक-प्रतिष्ठा सन्तो के कारण मिली है। भगवान के प्रति अनन्य भक्ति, वह भी माधुर्य-भाव से, इसकी विशेषता है, तथापि जाति-पाति, लिंग-भेद आदि को इसमे स्थान नही है, क्योकि जहा आराधक भगवान का परम भक्त हो गया, तो भक्त की कोई जाति आदि नही होती। 'गीता' एव 'भागवत' ने यही कहा है कि शूद्र, पाप योनि आदि सबकुछ छोडकर वह परम गति को प्राप्त होता है। आचार्य वल्लभ ने तो भक्ति-मार्ग का फल 'पुरुषोत्तम' मे प्रवेश को ही माना है एव नारायण-पुरुष की इच्छा भी सर्व-भूत-मय हो जाने की ही रहती है।

पुरुषो ह नारायणोऽकामयत अतिष्ठेय सर्वाणि भूतानि ।

(शतपथ ब्राह्मण २५७)

इस प्रकार भक्तमय भगवान एव भगवान-अर्पित भक्त, ऐसा यह दोहरा रूप है, जिसने इस लोक-धर्म को जनता मे व्याप्त कर दिया। वैष्णव जन से अपेक्षा रहती है कि वह सबका बने और सब उसके बने। 'विष्णु' का अर्थ ही हे 'व्यापकता' और 'विष्णु' सूक्तानुसार वह सूर्यवत् है जो सर्वत्र अपनी रश्मिया बिखेरता है। परमहस श्री सरस्वती, गोस्वामी महाराज के अनुसार 'विष्णु' याने सत्, चित् और आनन्द का प्रतीक और 'वैष्णव जन' याने भगवान से कोई अपेक्षा किये बिना, निरासक्त होकर शुद्ध प्रेम से भगवान की आराधना करनेवाला। चूकि 'भगवान की सेवा-पूजा जीव का स्वाभाविक धर्म है, अत हरेक जीव 'वैष्णव' है।" ऐसा ही वैष्णव निर्भय, भगवद्-अर्पित, धन-सम्पत्ति और कीर्ति की लालसा से परे, अध्यात्म-परायण एव शुद्ध अहिंसावादी होता है। वस्तुत वैष्णव धर्म ने अहिंसा का शखनाद फूका, अत वे अपनी अहिंसा-जनित उदारता से सबको अपना लेते है। यह अहिंसा ही प्रेम-भाव की प्रतीक बनकर सद्गुणो का विकास करती है। इसीलिए वैष्णव जन के लिए कहा गया है कि वह रहे भी उसी स्थान पर, जहा सत्य, दया, अहिंसादि को स्थान हो।

यत्र वेदाश्च, यज्ञाश्च, तप सत्य दयस्तथा
अहिसा धर्म-सयुक्ता प्रचरेयु सुरोत्तमा
स वो देश सेवितव्यो ।

(शान्तिपर्व, ३२० अ)

ऐसा वैष्णव सदा प्रेममय, करुणामय रहता है। इसलिए कि वह प्रभु से इसीके हेतु प्रार्थना करता है। गौराग महाप्रभु ने कहा है

वैष्णव ठाकुर! हे करुणा के सागर!
मै तुम्हारे चरण-कमलो का ही आश्रयी हू।
मुझ पर करुणा बरसाओ।
तुम्हारा मै नम्र सेवक हू। मुझे शुद्ध करो—
अपनी शीतलतम और पवित्र छाया से।

करुणावान् का आराधक स्वय करुणावान् बन ही जाता है, क्योकि उसमे भक्तिरस ही प्रधान होता है, उसके भगवान इस रस के ही देवता होते है

बुद्धि ने मननी जपना ने पेले तीरे
भक्त ने ब्रह्म बदुरमे रासे
भणे नरसैयो रसदेवनी रस लीला
ब्रह्म लटका करे ब्रह्म पासे!

इस प्रकार भक्ति-भावना का चरम विकास वैष्णव-धर्म का प्राण रहा हे और इसलिए वैष्णव जन जहा वैयक्तिक जीवन मे भगवान-मय बना रहता है, वही सामा-

जिक जीवन मे अहिसावादी बनता है, सबको समान दृष्टि से देखता है, शूद्रो को अध्यात्मिक सत्ता प्रदान करता है, स्त्रियो की उच्चता व अधिकार मान्य करता है। परिवार-जीवन की पवित्रता को स्वीकारता है, जाति-भेद को मिटाता है एव लोक-जीवन के साथ लोक-भाषा के माध्यम से ओत-प्रोत हो जाता है। भक्ति मे ही वह मुक्ति देखता है, प्रेम एव माधुर्य से उस भक्ति को सजीव बना देता है, ज्ञान एव कर्म का निषेध नही है, परन्तु मुख्याधार भक्ति है। हरेक व्यक्तित्व मे दैवी अश को प्रत्यक्ष रूप से इसी कारण वह पहचान पाता है। 'मानुष' एव 'मनुष्य-धर्म' उसके लिए साधना-स्रोत बन जाते है।

यह वैष्णव धर्म, श्री रामकृष्ण गोपाल भडारकर के अनुसार, ईसा पूर्व पाचवी शताब्दी से लेकर ईसा के अनन्तर सत्रहवी सदी तक व्यापक और विकसित होता गया है। यह आस्तिकता पर आधारित 'सुधारवादी' धर्म है एव एकातिक धर्म, पचरात्र, भागवत धर्म, सात्वतो एव गोपालो का सम्प्रदाय, नारायणी एव विष्णु-सम्प्रदाय, द्वैत-विशिष्टा-द्वैत आदि के नाम-रूप-गुण धारण करके समस्त जनता को आप्लावित करता गया। शकराचार्य के ब्रह्मवाद, वेदातवाद से इसे कुछ धक्का लगा, परन्तु दक्षिण-उत्तर एव पूर्व-पश्चिम के महान् सन्यासियो, तपस्वियो, साधुओ एव सन्तो ने इसे सर्व-व्याप्त बना दिया। बीच मे यह कही-कही निम्न स्तर पर भी चला गया, परन्तु राम-भक्ति शाखा ने भी उसे सभाल लिया एव नैतिक उत्थान पर जोर दिया जाना कम नही हुआ। जैसाकि श्री भडारकर ने कहा है, इसकी सारी पृष्ठभूमि गीता एव भागवत की रही है। वेदकालीन वासुदेव गीता-गायक कृष्ण के साथ मिल गया एव गीता का आध्यात्मिक तत्त्व एव भक्ति-मार्ग उसके प्राण-प्रेरक रहे तथा लोक-निष्ठा सातत्यपूर्ण रही।

'सिद्धान्त-मुक्तावलि' के द्वारा श्री वल्लभाचार्य ने कहा है कि सेवा ही मुख्य है, जो जगत् के दु ख दूर कराती है

चेतस्तत्प्रवण सेवा तत्सिद्धये तनुवित्तजा।
ततः ससार-दुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्म-बोधनम् ॥

चैतन्य प्रभु तो अपनेको 'विष्णु सेवको का दास' बताकर सेवा के साथ नम्रता को जोड देते है। ऐसा गुण-परिपोषक एव भक्ति रसाधारित वैष्णव धर्म अगणित वैष्णव जनो की सृष्टि करे, यह उसके लोकधर्म होने का ही प्रतीकात्मक कार्य है। कृष्ण भक्ति शाखा के अतर्गत कही-कही मर्यादा भग एव अतिरेक के उदाहरण मिलते है एव नैतिकता का स्तर नही रह पाता है, परन्तु वह वैष्णव जनो का वैष्णव धर्म नही है। प्रकृति मे से विकृति जन्म लेती है, यदि सस्कृति का प्रवाह अखड न रहे। सौभाग्य से सत-सस्कृति सारे भारत मे इतनी प्रभावशाली एव व्यापक रही है कि आज भी उसका असर जन-मानस पर है एव उसमे दीक्षित जन उसी भाव से भगवान् की आराधना मे लगे रहते है। ऐसे दीक्षित जनो मे कुछ व्यक्तिगत रूप मे भगवत्-भक्ति मे लीन होते है, तो कुछ सामाजिक सेवा ही भगवत्-भक्ति के रूप मे अपनाते है एव अपनी वैष्णवजन-सस्कारिता सार्थक करते है।

गाधीजी ऐसे ही वैष्णव जन रहे है, जिन्होने लोकसेवा को भगवत्-भक्ति माना और जनता रूपी जनार्दन की आराधना मे अपनेको लगाकर सच्चे वैष्णवजन होने की बात को प्रत्यक्ष रूप दे दिया। वैष्णवीय अहिंसा का निखरा हुआ, परिष्कृत एव लोकपक्षीय रूप प्रकट करके गाधीजी ने यह सिद्ध किया कि युगानुसार धर्म को किस प्रकार रूप दिया जा सकता है, प्राचीनता के साथ नवीनता का कैसे सामजस्य किया जा सकता है एव भगवान् की सेवा-भक्ति किस प्रकार एक वैष्णवजन के नाते भी की जा सकती है। वास्तव मे वैष्णव धर्म की जो सामाजिक प्रेरणा है, सामाजिक गुणो के उद्घाटन की जो मर्मग्राहिता उसमे निहित है, उनका प्रतिबिम्ब गाधीजी मे उतरा है। इसीलिए आधुनिक युग के सच्चे वैष्णवजन के रूप मे गाधीजी माने जा सकते है, भले ही पारपरिक भक्त वैसा न माने।

गाधीजी जन्म से वैष्णव सस्कारो मे पले थे। यद्यपि 'हवेली' की कीर्ति से उन्हे उसकी तरफ खिचाव नही हुआ, परन्तु अपनी आया से उन्हे रामनाम की दीक्षा जरूर मिल चुकी थी एव गाधीजी ने अक्सर कहा है कि 'राम' या 'ओ३म् नमो वासुदेवाय' मन्त्र पर श्रद्धा रखी जाय, ताकि हर सकट मे वह साथ दे। अर्थात् मन्त्र तोता-रटन के रूप मे नही होना चाहिए। रामनाम तो, उनकी दृष्टि से, हृदय से ही प्रकट होना चाहिए, ताकि "सचाई, ईमानदारी, पवित्रता एव शुद्धता जैसे गुण अन्तर्बाह्य रूप मे" प्रकट हो सके। हम

सब जानते है कि इन्ही वैष्णव गुणो की साधना वह आजन्म करते रहे। प्रार्थना उनके जीवन मे सर्वोच्च स्थान पर थी एव जो वैष्णवभक्ति कही जाती है, वह रामभक्ति के रूप मे, रामधुन के वेष मे उनके अन्तर मे निनादित होती रही है। अहिसा की साधना उनके लिए त्याग और प्रेम की साधना थी, जो भगवद् प्रेम का ही प्रतीक थी। 'नैतिकता' को वह आधारभूत तत्व मानते थे एव सारी नैतिकता का सार सत्य मे देखते थे। उनकी अहिसा 'उनसे घृणा करने वालो' पर भी प्रेम बरसाती थी। उनके लिए सामाजिक-आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक क्षेत्र ऐसे अलग-अलग नही थे कि एक की साधना दूसरे के विपरीत चलती हो एव सत्य-अहिसा-प्रेम सबमे वह प्रकट न हो सकती हो।

गाधीजी के पिता के सम्मुख रामायण पढी जाती थी एव घर मे भागवत् का भी पाठ होता था। इन दोनो महा-ग्रन्थो के वचनो का असर उन पर होना अवश्यभावी था, इसीलिए उनकी वैष्णवता भगवत्परायण, सदगुण परा-यण एव लोकपरायण बन सकी। ऐसे गीता-आधारित वैष्णवधर्म के सस्कारो मे पले हुए गाधीजी गीता-भक्त न बने, तो ही आश्चर्य था, अत उन्होने गीता को जीवन का पाथेय माना एव विविध रूपो मे उसका दर्शन किया, खास-कर अनासक्ति-शिक्षिका के रूप मे। उन्होने आगे कहा है, "गीता के दो शब्दो ने, 'अपरिग्रह' एव 'समभाव' ने मेरे हृदय मे स्थान पा लिया था और गीता मेरे समस्त आचरण की मार्गदर्शिका बन गई। वस्तुत वह दैनदिन कार्य के लिए सन्दर्भ कोश ही बन गई।" असग्रह का तत्त्व उन्होने उसीमे से ग्रहण किया और ट्रस्टीशिप की भावना तथा विचार का दर्शन उन्होने उसमे पाया।

इस प्रकार गीता-आधारित जीवन बिताते हुए वह गीता-प्रणीत वैष्णव धर्म का पालन समस्त जीवन मे करते रहे और उसके सामाजिक पक्ष का, लोक पक्ष का उद्घाटन करते रहे। उनकी अहिसा सामाजिक थी, अत वह व्यक्ति स्वत-त्रता स्वीकारते हुए भी मानव को 'सामाजिक प्राणी' ही मानते थे, इसलिए समाज-सेवा के वह अखडव्रती बन गए थे। इस व्रत को सभालते हुए वह वैष्णवीय गुणो का अपने मे विकास करते थे, समाज मे भी उसकी प्रतिकामना करते थे। उनका धर्म-विश्वास जाति-पाति, नीच-ऊच आदि नही मानता था एव 'वर्ण-धर्म' के कट्टर पक्षपाती होते हुए भी वे "वर्ण-धर्म के मौजूदा राक्षसी स्वरूप का व राक्षसी रिवाजो का" सख्त विरोध करके असली धर्म के पालन का आवाहन करते थे। वर्ण-धर्म उनके लिए केवल इतने ही मानी रखता था कि मनुष्य को गुजर-बसर के लिए धर्म-निहित तथा बुजुर्गो का व्यवसाय करना चाहिए, क्योकि इसके अभाव मे समाज मे अशान्ति व लोभ बढ जायगे एव इसके गम्भीर परिणाम समाज को भुगतने होगे।

डा राधाकृष्णन् ने उपनिषदो के तत्वावधान के प्रसग मे एक उद्धरण इस आशय का प्रकट किया है कि 'नैतिक जीवन का यह लक्ष्य है कि वह अदैविक तत्त्वो का विसर्जन करता चले। पर यह उसे नष्ट भ्रष्ट करके नही, अपितु दैवी प्रेरणा और दैवी भावना के साथ उसका मेल करके ही किया जाना चाहिए।"

गाधीजी का सर्वोदय यही पर साम्यवाद से भिन्न पड जाता है। सर्वादय सबका हित इसी आधार से करता है कि किसीके दुर्गुणो को सद्गुणो मे परिवर्तित कर दे, न कि दुर्गुणी को ही खत्म कर दे। गाधीजी का नैतिक जीवन इसी लक्ष्य को लेकर चलता था कि लोगो के दैविक अश का सतत आवाहन करता चले और तद्द्वारा अदैविक अश को दैविक अश मे परिणत करे।

इस तरह उपनिषद्, गीता एव भागवत् धर्म पर आधा-रित जिस महनीय व्यक्ति का जीवन था, वह सिवा वैष्णव जन के जीवन के और दूसरे किसका जीवन हो सकता है? वैष्णव-धर्म इन्हीसे पुष्ट हुआ है और गाधीजी का जीवन भी उन्ही का अनुयायी रहा है। गाधीजी ने अपने व्यक्तिगत जीवन मे तथा सामाजिक जीवन मे इसी धर्म का अनुसरण किया है। नरसी मेहता के "वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाणेरे" के पूर्ण प्रतीक वह थे। इस पद मे उल्लिखित सभी गुणो एव विशेषताओ की उद्भासनाए वे अपनी सभी प्रवृत्तियो के द्वारा करना चाहते थे एव लोक-मानस को ऊचा उठाकर जन-जीवन को नैतिकता से अणु-प्राणित करना चाहते थे। इतिहासकार ही उनके जीवन की इन उपलब्धियो का मूल्य मापन कर सकता है, परन्तु इसमे सन्देह नही कि सच्चे अर्थो मे उन्होने वैष्णव जन का जीवन जिया एव सामाजिक रूप मे उसकी प्रतिष्ठापना की। ●

गांधीजी और गीता

देवकृष्ण व्यास

●

गांधीजी के व्यक्तित्व और कृतित्व का प्रमुख आधार गीता है। जिस प्रकार कृष्ण गीता के स्रष्टा थे उसी प्रकार गीता गाधी की स्रष्टा थी। गीता के सदेश को अपने जीवन मे उतारकर ही वह एक साधारण मनुष्य से महात्मा बने। तपस्वी, अपरिग्रही और कर्मयोगी का उनका स्वरूप गीता से ही निस्सृत हुआ। गीता ने ही उन्हे परिवार की सेवा से ऊपर उठकर समाज, देश और सम्पूर्ण विश्व की, मानवता की सेवा के लिए प्रेरित किया। अत गाधीजी को समझने के लिए आवश्यक है कि पहले गीता को समझा जाय।

गाधीजी मूलत आध्यात्मिक पुरुष थे। उनका कहना था कि नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति मानव-विकास का मुख्य उद्देश्य है। उनकी मान्यता थी कि मनुष्य स्वय अपनी कमजोरियो और अज्ञान के कारण बुराई और अन्याय का शिकार होता है। इसलिए उन्होने जीवन-पर्यन्त मानव-सम्बन्धो को सुधारने और प्रेम का आधार सुदृढ करने का प्रयत्न किया। उपदेशो और प्रवचनो द्वारा ही नही बल्कि आचरण करके उन्होने यह पाठ पढाया। उनके आचरण का आचार था—गीता। गाधीजी ने लिखा है, "मेरे लिए तो गीता आचार की एक प्रौढ मार्ग-दर्शिका बन गई है। वह मेरा धार्मिक कोश हो गई है। जिस तरह मै अग्रेजी कोश को खोलता, उसी तरह आचार-सम्बन्धी कठिनाइयो और उसकी अटपटी गुत्थियो को गीताजी के द्वारा सुलझाता। उसके अपरिग्रह, समभाव आदि शब्दो ने मुझे गिरफ्तार कर लिया। यही धुन रहने लगी कि समभाव कैसे प्राप्त करू, कैसे उसका पालन करू?"

साधन और साध्य की एकरूपता की जो भावना गाधीजी मे स्फुरित हुई उसका स्रोत गीता ही थी। गीता के ९ वे अध्याय के २५ वे श्लोक मे उपासनानुसार फल प्राप्ति के बारे में जो कुछ कहा गया है वही गाधीजी की प्रेरणा का मूल स्रोत था

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि याति भूतेज्या याति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

अर्थात्, "देवताओ का पूजन करनेवाले देवलोको को पाते है, पितरो का पूजन करनेवाले पितृलोक को पाते है, भूत-प्रेतादि को पूजनेवाले उन लोको को पाते है और मुझे भजनेवाले मुझे पाते है।"

गाधीजी के जीवन-दर्शन का मर्म यह था कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार न्याय मिलता है। गीता के चौथे अध्याय के ११ वे श्लोक मे साधक और साध्य की तदाकार परिणति पर जो प्रकाश डाला गया है, उससे प्रेरित होकर ही गाधीजी अपने जीवन को ईश्वर की आराधना का रूप मानते थे

ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

अर्थात्, "जो जिस प्रकार मेरा आश्रय लेते है, उस प्रकार मै उन्हे फल देता हू। चाहे जिस तरह भी हो, हे पार्थ! मनुष्य मेरे मार्ग का अनुसरण करते है—मेरे शासन मे रहते है।"

गाधीजी कर्मयोगी थे। उनकी मान्यता थी कि सेवा के द्वारा ही आत्म-साक्षात्कार हो सकता है। वह गुफाओ मे या एकान्त मे जाकर अध्यात्म-साधना करने के पक्ष मे नही थे। वह कहा करते थे—"मेरे लिए मुक्ति का मार्ग तो अपने देश और मनुष्यमात्र की निरन्तर सेवा करते रहना है। मै तो जीवमात्र से अपनी एकता कर देना चाहता हू। गीता के शब्दो मे मैं **"सम. शत्रौ च मित्रे च"** मित्र और शत्रु मे समदृष्टि होना चाहता हू। अत मेरी देशभक्ति भी अनन्त शक्ति और मुक्ति की ओर मेरी यात्रा का पड़ाव मात्र है।"

गीता कर्म-सन्यास की नही, कर्म-फल के त्याग की नैतिक भावना की पराकाष्ठा बताती है। इस निष्काम कर्म को ही गाधीजी गीता की शिक्षा का तत्व समझते थे और आजीवन इसका प्रचार करते रहे। वह कहते थे—"कर्म करते हुए भी मनुष्य बधनमुक्त कैसे रहे, इस समस्या को गीता ने जिस तरह हल किया हे, वैसे दूसरे किसी भी धर्मग्रन्थ ने नही किया है।"

गीता के दूसरे अध्याय के ४८ वे श्लोक को, जिसमे आसक्ति-रहित होकर कर्म करने के लिए कहा गया है, गाधीजी ने अपने जीवन मे उतार लिया था। यह श्लोक इस प्रकार है

योगस्थ कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनजय।
सिद्ध्यसिद्ध्यो· समो भूत्वा समत्व योग उच्यते ॥

अर्थात्, "हे धनजय! आसक्ति त्यागकर योगस्थ रहते हुए अर्थात् सफलता-निष्फलता मे समान भाव रखकर तू कर्म कर। समता का ही नाम योग है।"

गाधीजी ने श्रम की प्रतिष्ठा और गरिमा बढाने के लिए निरन्तर प्रयत्न किया। उन्होने स्वय ऐसा जीवन व्यतीत किया जिसमे शारीरिक श्रम को मुख्य स्थान था। गीता के तीसरे अध्याय के १२वे श्लोक मे श्रम की महिमा इस प्रकार बताई गई है

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता.।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुक्ते स्तेन एव स ॥

अर्थात्, "यज्ञ द्वारा सन्तुष्ट हुए देवता तुम्हे इच्छित भोग देगे। उनका बदला दिये बिना, उनका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य चोर है।"

गाधीजी के मतानुसार यहा यज्ञ का अर्थ जात-मेहनत या मजदूरी ही शोभता है।

गाधीजी अपने जीवन को सत्य की खोज की प्रयोग-शाला मानते थे। सत्य ही उनका भगवान था और सत्यान्वेषण उनकी भक्ति। इस सम्बन्ध मे उन्होने लिखा है,"सत्य के सिवाय मैं किसी ईश्वर की उपासना नही करता। सत्य के अतिरिक्त और किसीकी सत्ता है ही कहा? सत्य ही परमेश्वर है। हमारा अस्तित्व सत्य की आराधना के ही लिए हो, हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति भी इसीके लिए हो। सत्य के लिए ही हम प्रत्येक बार श्वासोच्छ्वास ले।"

इससे पता चलता है कि गाधीजी की अध्यात्म-साधना किस प्रकार की थी। उनकी ब्रह्म-जिज्ञासा मे वेदान्त का निर्गुण और भावातीत ब्रह्म तो परिलक्षित होता ही है, नारद और प्रह्लाद की भक्ति भी दिखाई पडती हे। गीता मे भी इन दो विभिन्न धाराओ का समन्वय सुन्दर ढग से हुआ है।

गाधीजी अपने इस 'परम सत्य' की प्राप्ति के लिए अहिंसा को अनिवार्य मानते थे। उनका कहना था कि सत्य और अहिंसा का पालन किये बिना गीता की शिक्षा को व्यवहार मे नही लाया जा सकता। अपने निजी अनुभव पर प्रकाश डालते हुए उन्होने लिखा है—"गीता की शिक्षा को पूर्ण रूप से अमल मे लाने का ४० वर्ष तक सतत प्रयत्न करने पर मुझे तो नम्रतापूर्वक ऐसा जान पडा हे कि सत्य और अहिसा का पूर्ण पालन किये बिना सम्पूर्ण कर्म-फल-त्याग मनुष्य के लिए असम्भव है।"

गाधीजी से पहले भी कई महापुरुषो ने सत्य और अहिसा की बात कही। ईसा और बुद्ध ने मानवता को सत्य और सबसे प्यार का पाठ पढाया। उनके द्वारा प्रतिपादित आदर्शो ने निस्सन्देह कई पीढियो को प्रभावित किया, किन्तु गाधीजी ने रचनात्मक कार्यक्रम देकर इन आदर्शो को आम आदमी तक पहुचाने का प्रयत्न किया। गाधीजी ने बताया कि जो व्यक्ति सत्य और अहिंसा का पालन करना चाहता है उसके लिए आवश्यक है कि वह अपने अह और भय से पूर्णत मुक्त हो। गीता के अठारहवे अध्याय मे भी यही बताया गया है कि अह और भय को त्यागनेवाला ब्रह्मस्थिति को प्राप्त कर सकता है।

गीता के गहन अध्ययन और मनन का गाधीजी पर इतना अधिक प्रभाव पडा कि उन्होने देश की राजनीति को ही धर्म और अध्यात्म की ओर मोड दिया। उनके मतानुसार जो लोग धर्म को राजनीति से अलग बताते है, वे नही जानते कि धर्म का अर्थ क्या है। धर्म की व्याख्या करते हुए उन्होने लिखा है—"धर्म वह नही है जो हम ससार के तमाम धर्म-ग्रन्थो को पढने से प्राप्त करते है। धर्म वास्तव मे बुद्धि की वस्तु है ही नही, वह हृदय की वस्तु है।" गाधीजी के लिए धर्म और नीतिशास्त्र मे कोई अन्तर नही था। यद्यपि वह अपनेको सनातनी हिन्दू कहते थे,

किन्तु हिन्दू धर्म के प्रति उनका लगाव कट्टरपथी नही था। वह सभी धर्मो का समान रूप से आदर करते थे।

गीता के प्रति गाधीजी का दृष्टिकोण बडा तर्कसम्मत था। वह ऐसा नही मानते थे कि उसमे कुछ भी लिखा है वह भगवान के मुह से ही निकला है। उनका मत था—"गीता ऐतिहासिक ग्रन्थ नही है, वरन् इसमे भौतिक युद्ध के वर्णन के बहाने प्रत्येक मनुष्य के हृदय के भीतर निरतर होते रहनेवाले द्वन्द्व युद्ध का ही वर्णन है। मानुषी योद्धाओ की रचना हृदयगत युद्ध को रोचक बनाने के लिए गढी हुई कल्पना है।" फिर भी वह गीता को ज्ञान और आचार की दृष्टि से सर्वाधिक उपयोगी ग्रन्थ मानते थे।

गाधीजी को साधारण से असाधारण और मनुष्य से महात्मा बनाने का श्रेय गीता को ही है। आज जब समाज मे चारो ओर नैतिक मूल्यो का ह्रास हो रहा है और सत्य, प्रेम तथा अहिसा के दर्शन दुर्लभ हो गये है, तब गीता ही हमारा मार्गदर्शन करके हमे सर्वनाश से बचा सकती है।

●

मानव का कर्तव्य

किसी जगल मे एक साधु कुटी बना कर रहते थे। बडा निर्जन स्थान था। साधु को जो मिल जाता, खा लेते और ध्यान-तपस्या मे लीन रहते।

एक दिन रात को बडे जोर की वर्षा हो रही थी। आसमान मे काली घटाए छाई थी। बिजली कडक रही थी। अपनी कुटिया का दरवाजा बन्द करके साधु अन्दर लेटे थे। अचानक द्वार पर किसी के थपथपाने की आवाज सुनाई दी। साधु ने सोचा, यह कौन हो सकता है! जब-तब वहा जगली जानवर आ जाया करते थे, पर ऐसे तूफान मे तो कोई भी आने की हिम्मत नही कर सकता था। वह उठे और उन्होने दरवाजा खोला तो देखते क्या है, सामने पानी मे सराबोर एक आदमी खडा है। साधु को देखते ही वह कापती आवाज मे बोला, "महाराज, मै रास्ता भूलकर इधर आ गया हू और मुसीबत मे फस गया हू। बचने के लिए यहा कोई जगह नही है। आपकी बडी कृपा होगी, अगर यह रात मुझे यहा गुजार लेने दे। सबेरा होते ही चला जाऊगा।"

साधु ने कहा, "वाह, यह तुमने खूब कही। अरे भाई, अन्दर आओ। यह कुटिया तुम्हारी ही है। इसमे एक आदमी सो सकता है, दो बैठ सकते है। आओ, हम दोनो आराम से बैठेंगे।"

इतना कहकर साधु बडे प्यार से उस आदमी को भीतर ले गये और दरवाजा बन्द करके दोनो मजे मे बैठ गये।

कुछ ही देर बीती होगी कि फिर किसी ने दरवाजा खटखटाया। साधु ने उठकर दरवाजा खोला। देखा, पानी मे भीगा, थरथर कापता, एक आदमी खडा था। उसने भी साधु से वही बात कही, जो पहले ने कही थी। अन्त मे बोला, "स्वामीजी, बस कैसे ही यह रात निकल जाय। आपको थोडी दिक्कत तो होगी, पर जरा-सी जगह दे देंगे तो आपका बडा अहसान होगा।"

साधु ने कहा, "इसमे अहसान की क्या बात है, भैया! मुसीबत मे एक-दूसरे की मदद करना इसान का फर्ज है। इस कुटिया मे एक आदमी के सोने की जगह है, दो बैठ सकते है और तीन खडे हो सकते है। तीन आदमी मिल जाय, इससे बडा भाग्य और क्या हो सकता है! आओ, अन्दर आओ, हम तीनो जने खडे-खडे मौज से रात गुजारेंगे।"

●

नरसी मेहता कौन थे

अगरचन्द नाहटा

सोलहवी शताब्दी, भारत के धार्मिक इतिहास का एक उल्लेखनीय समय है। उत्तर भारत मे इस समय भक्ति का आन्दोलन इतना व्यापक रूप मे फैला कि चारो ओर भक्ति का साम्राज्य-सा छा गया। भक्ति के विभिन्न सम्प्रदाय इससे पहले भी उत्तर भारत मे फैले हुए थे, पर सोलहवी शताब्दी मे उनको जो वेग मिला, वह इससे पहले देखने को नही मिलता। पुरुषोत्तम कृष्ण और मर्यादापुरुष राम की भक्ति अनेक रूपो मे होने लगी और कई नये भक्ति-सम्प्रदाय प्रकाश मे आये। श्री रामानन्द की परम्परा मे सगुण एव निर्गुण दोनो प्रकार की भक्ति विकसित हुई। महाप्रभु वल्लभ ने 'पुष्टि-सम्प्रदाय प्रवर्तित किया। महाप्रभु चैतन्य ने 'श्री गौडीय सम्प्रदाय' की स्थापना की। इसी तरह और भी कई सम्प्रदाय प्रवर्तित हुए जिनका आगे चलकर भारतीय लोक-जीवन पर गहरा प्रभाव पडा। जनसाधारण मे से भी ऐसे कई भक्त आगे आये, जिनकी अमिट छाप आज भी दिखाई देती है। ऐसे व्यक्तियो मे गुजरात के नरसी मेहता का प्रमुख स्थान है।

नरसी मेहता के समय के सम्बन्ध मे गुजरात के विद्वानो मे कुछ मतभेद है, पर सोलहवी शताब्दी मे उनके होने के सम्बन्ध मे सभी एकमत है। पण्डित केशवराम काशीराम शास्त्री नरसी मेहता का जन्म स० १४६९-७० मे और श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी स० १५३० के लगभग मानते हैं। नरसी मेहता की एक रचना 'हारमाला' के एक पद मे उल्लखित है कि इस ग्रथ की रचना स० १५१२ मे हुई। यदि यह ठीक है तो श्री मुशी का मत मान्य नही हो सकता। श्री शास्त्री नरसी का समय स० १४७० से १५३६ के बीच मानते है और यही सर्वाधिक मान्य है।

नरसी मेहता नागर ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम कृष्णदास और दादा का नाम पुरुषोत्तम था। उनकी माता का नाम दयाकुवर और भाई का नाम मगलजी जीवनराम या वशीधर था। इनके चाचा पर्वतदास अच्छे भगवद्भक्त थे। नरसी के माता-पिता की मृत्यु इनकी बाल्यावस्था मे हो गई थी। अत इनके बडे भाई ने ही इनका पालन-पोषण किया। नरसी आलसी और घुमक्कड थे। विद्याध्ययन मे विशेष रुचि नही थी। वह साधु-सन्तो के साथ घूमते रहते थे। कहा जाता है कि ग्यारहवें वर्ष मे इनकी सगाई हो गई थी, पर उनके आवारापन के कारण वह सम्बन्ध टूट गया। तदन्तर स० १४८४ के आसपास रघुनाथराम की पुत्री माणिकबाई के साथ उनका विवाह हुआ। विवाह के बाद भी वही प्रवृत्ति रही। कमाकर खाने के लिए उन्होने कोई कार्य नही किया। अत उनकी भाभी ने ताना मारा। इसका उल्लेख नरसी ने अपनी रचना 'सावलदास का विवाह' के प्रारम्भ मे और 'हारमाला' के एक पद मे किया है

> **मरम वचन कह्या मूजने भाभीए,**
> **ते मारा मनमा रह्या वलूधी।**
> **शिवाजी आगल जए इक मनोरथ,**
> **स्तुत्य की धो दिवस सात सुधी।**

भाभी के कहे हुए मर्म वचनो से नरसी के जीवन मे एक नया मोड उपस्थित हुआ। कहा जाता है कि नरसी ने श्री महादेव की सेवा मे सात दिन का तप आरम्भ किया और शिवजी की प्रेरणा से उनका झुकाव श्रीकृष्ण की ओर हो गया। यह भी कहा जाता है कि शूलपाणि ने उन्हे प्रत्यक्ष दर्शन भी दिया था, इसलिए नरसी ने अपने भाभी के ताने को उपकारक ही माना। इतना ही नही, उन्हे भगवान के दर्शन भी उन्हीकी कृपा से हुए, इसलिए भाभी को भी धन्यवाद का पात्र माना

धन्य भाभी तुम्हे धन्य माता-पिता,
कष्ट जाणी मने दया रे कीधी।
तमारी कृपा थकी हरिहर भेटिया,
कृष्णजी एम्हारी सार लीधी ॥

महादेव की कृपा के बाद घर आकर नरसी ने अपना स्वतन्त्र घर बसाया, साधुओ का सत्सग करते हुए वह भजन मे मस्त रहने लगे। इसलिए आर्थिक कमाई तो न हो सकी, पर भक्ति की कमाई खूब अच्छी कर सके।

नरसी का जन्म सौराष्ट्र के तलाजा नामक स्थान पर हुआ था, पर आगे चलकर वह जूनागढ मे आकर बस गये। यहा वह अपने इष्टदेव दामोदरजी का नित्य दर्शन करने जाते और दमोदर कुण्ड मे स्नान करते। इनकी कमाकर खाने की वृत्ति न देखकर लोग इनकी हँसी उडाते। एक बार भजन करने के लिए वह ढेढो के निवास-स्थान पर गये, क्योकि भक्ति-मार्ग मे ऊच-नीच का भेदभाव नही रहता।

जाति पाति पूछे नहि कोई। हरि को भजे सो हरि को होई ॥

ढेढवाडे मे जाने के बाद तो उच्च जाति के लोग इन्हे निम्न दृष्टि से देखने लगे और इनको कई प्रकार के कष्ट उठाने पडे।

नरसी के जीवन के पाच प्रसग बहुत ही प्रसिद्ध है .

हार हुण्डी नें मोसालुं, विवाह नै बलि श्राद्ध।
नरसैं मेहता नैं कृपा करी ठस्या श्री दीनानाथ ॥

इनमे से 'हुण्डी' और 'मोसाले' का प्रसग तो सर्वाधिक प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि एक बार तीर्थयात्रियो ने रास्ते मे रुपया साथ रखना जोखम समझकर विचार किया कि जूनागढ मे किसी साहूकार को रुपया देकर हुण्डी ले ले तो द्वारका मे रुपये मिल जायगे। हुण्डी दे सकनेवाले साह की पूछ करने पर लोगो ने व्यग्य से नरसी का नाम बता दिया और नरसी ने भी भगवान पर भरोसा करके द्वारका के सावलशाह सेठ के नाम सातसौ रुपये की हुण्डी लिख दी। यात्री द्वारका पहुचे, पर वहा जिस सावलशाह के नाम हुण्डी लिखी थी, उसका कोई पता नही चला। वे निराश होकर लौटने लगे, तो भगवान भक्त की लाज रखने के लिए सेठ का रूप धारण कर यात्री के सामने उपस्थित हुए और हुण्डी के रुपये चुका दिये।

हुण्डी की तरह 'मोसाले' का प्रसग भी प्रसिद्ध है। गुजराती मान्यता के अनुसार नरसी की पुत्री कुवरबाई के विवाह के अवसर पर उसके सीमान्त मे मोसाला (मामेरु) भगवान ने ही भरा था। मामेरु या मोसाले का प्रसग सौराष्ट्र के मागरोल या ऊना नामक स्थान मे बना था, जहा नरसी की पुत्री कुवरबाई की ससुराल थी। कहा जाता है कि मागरोल के रणछोड-मन्दिर के एक उत्सव पर नरसी भी उपस्थित हुए थे और रात-भर कीर्तन किया था। उस समय नरसो को प्यास लगी और पानी मागा तो रतनबाई नामक एक स्त्री ने आकर पानी पिलाया। भक्तो का कहना है कि रतनबाई खुद भगवान ही थे। नरसी-रचित एक पद मे इसका उल्लेख है

सावण झारी रे अति रे समारी माही नीर गगोदक तोले।
नरसैंया नैं पाणी पावा नै करण हरजी पधारया को दैं ॥
हरि आव्यारे नारीना वेसे रे एने कोई जूवो रे।
रतनवाई घणु व्याकुल फरे छे तमे ल्योने महेता जलपाणी रे॥

एक बार विरोधी व्यक्तियो ने जूनागढ के राव मण्डलीक को इस बात के लिए उकसाया कि नरसी यदि सच्चा भक्त है तो दामोदर भगवान उन्हे स्वय आकर हार पहना दे। राव ने नरसी को बुलाकर उसके सच्चे भक्त होने की उक्त परीक्षा देने को कहा। नरसी को भगवान का पूरा भरोसा था, इसलिए उसने भगगान की बहुत स्तुति की। अन्त मे भगवान ने भक्त को परीक्षा मे सफल बनाया। इसका उल्लेख स्वय नरसी ने अपनी वाणी मे इस प्रकार किया है :

दुरीजन लोक कहि, नरसिओं लपटी,
बाधती बात राजा ए जाणी।
दुष्ट ने वच्चन मंडलिक विह्वल थमु किहि,
ल्यालो नरसिआनि आँहाँ ताणी ॥
शीघ्र सेवक नरसिंहआनि ल्याविआ,
किहि महिपाल तूनि दास करीइ।
ताहीर प्रीत्य दामोदर शूं यरू,
मागी लि हार ज्यम अहम्यो लहीइ ॥
ते माटि करूँ विनती, त्रीकमा,
पालशो वरद तो काज थाशि।
भणि नरसिओ, तूं भक्त वच्छल सदा,
हठ करशो तो (मुझ) प्राण जाशि ॥

दामोदर कीधी दया, मुगट सहित मुनि आप्योहार।
वाजु बध विहिरखा आप्या, त्रिभुवन वरत्यो जे जे कार॥
राजा तू गिहिलो थयो भ्रा, खड्ग लेइनि आप्यो सग्या।
जे वहालाश रग भूमि रमता, ते गोपालजी आं रख्यो रग॥

इसी तरह 'सामलदास के विवाह का प्रसग' भी नरसी मेहता ने स्वय लिखा है। भगवान ने विवाह की सामग्री किस प्रकार जुटाकर भक्त की सहायता की, इसका उसमे वर्णन है। हार के प्रसग मे एक और चमत्कारिक उल्लेख मिलता है कि केदारा राग को नरसी ने परिस्थितिवश किसी सेठ के यहा गिरवी रख दिया था। इसके गाये बिना भगवान प्रकट नही हुए। अत जब नरसी ने प्रकट रूप से हार पहनाने के लिए बहुत जोर दिया तो भगवान ने स्वय सेठ के यहा से केदारा राग को छुडाया। नरसी को जब उसके छुडाने का प्रमाण-पत्र प्रभु द्वारा मिला तब नरसी ने बहुत ही प्रसन्नता से केदारा राग मे भगवान की स्तुति की और उनको हार पहनाया।

भक्त के साथ-साथ नरसी उच्च कोटि के कवि भी थे। उनकी अनेक रचनाओ का उल्लेख गुजराती साहित्य के इतिहास मे मिलता है। 'गुजराती हाथ प्रतोनी सकलित यादी' नामक ग्रन्थ मे नरसी रचित २७ रचनाओ का उल्लेख है। डा० जगदीश गुप्त ने नरसी की १६ रचनाओ का उल्लेख करते हुए १४ रचनाओ का विवरण अपने 'गुजराती व ब्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन' शीर्षक शोधप्रबन्ध मे दिया है और लिखा है कि "विषय और वस्तु की दृष्टि से नरसी की रचनाए दो प्रकार की प्राप्त होती है। एक प्रकार की कृतिया वे है, जिनमे उन्होने अपने जीवन की किसी अलौकिक घटना का वर्णन किया है और दूसरी वे जो पूर्णतया कृष्ण को आलम्बन मानकर लिखी गई है।" इस प्रकार नरसी की रचनाओ को निम्न-लिखित रूप मे वर्गीकृत किया जा सकता है.

प्रथम प्रकार की रचनाए—१ सामलदासनो विवाह, २ हारमाला।

द्वितीय प्रकार की रचनाए—१ सरतसग्राम, २ गोविदगमन, ३ चातुरी छत्रीसी, ४ चातुरी षोडशी, ५ दानलीला, ६ सुदामाचरित, ७ राससहस्रपदी, ८ शृगार-माला, ९ वाललीला। इन नौ रचनाओ के अतिरिक्त कुछ प्रकीर्णक पद हैं, जिनकी सख्या विषय के अनुसार इस प्रकार है—१० हीडोलवा पदो, ११ भक्तिज्ञानना पदो, १२ कृष्ण जन्मसमैना पदो, १३ कृष्णजन्म-वधाईना पदो, १४ वसन्तना पदो। इसके अलावा कको, गायगी मागणी, द्रौपदी वेनु कीर्तन, पाण्डव जुगटानुपद, वारहमासा, वारे-मासा रामदेव, मधुकरणा वारे मासा मामेरू, मोती नु खेती, रास के पद, विष्णुपद ससियार, सत्य मानानुरूसणू, सास-वण नी समस्या, हुण्डी आदि से सम्बन्धित अन्य अनेक फुटकर पद भी मिलते हे।

नीचे हम नरसी के कतिपय पदो को पाठको के समक्ष उपस्थित कर रहे है, जिससे उन्हे ज्ञात हो जाय कि नरसी के पदो मे दर्शन और भक्ति का कितना सुन्दर समन्वय है। 'वैष्णव जन तो तेने कहीए' तो पाठक अन्यत्र पढ चुके है। अन्य पद पढिये

(१)

वैष्णव जन ने विषय थी टलवु, हलवु माही थी मन रे।
इद्रिय कोई अपवाद करे नहि, तेने कहिए वैष्णव जन रे॥
कृष्ण-कृष्ण कहेता कठज सूके, तो ये न मूके निज नाम रे।
श्वा श्वासे समरे श्रीहरि, मन न व्यापे काम रे॥
अतरवृत्ति अखण्ड राखे हरिशु, धरे कृष्णनु ध्यान रे।
व्रजसवासीनी लीला उपासे, वीजु सुणे नहि कान रे॥
जगशु तोडे ने जोडे प्रभु शु, जगशु जोडे प्रभु शु गुटी रे।
तेने कोई वैष्णव नव कहे शो, जमडा लेई जाशे फूटी रे॥
कृष्ण बिना काई अन्य न देखे, जेनी वृत्ति छे कृष्णाकार रे।
वैष्णव कहावे ने विषय न जावे, तेने वार वार धिक्कारे रे॥
वैष्णव ने तो वल्लभ लाग शे, कुडिया ने लागशे काचु रे।
नरसयाचा स्वामी ने लपट नहि, गमे शोभशे साचु रे॥

(२)

वैष्णवजन ने विरोध न कोई शु,जेना कृष्णचरणे चित्त रह्या रे।
कावादावा सर्वे काढ्या, शत्रु हता तें मित्र थया रे॥
कृष्ण उपासी ने जगथी उदासी, फाँसी ते जमनी कापी रे।
स्थावर जगम ठाम न ठालो, सघले देखे कृष्ण व्यापी रे॥
काम क्रोध व्यापे नहि क्यारे, त्रिविधि ताप जेना टलिया रे।
ते वैष्णवना दर्शन करीए, जेना ज्ञाने ते वासनिक गलिया रे॥
नि स्पृही ने निर्मल मति वली, कनक कायिनी ना त्यागी रे।
श्री मुख वचनो श्रवणे सुणता, ते वैष्णव वडभागी रे॥

एवा मले तो भव दुःख टले, जेना सुधा समान वचन रे।
नरसैंयाचा स्वामी ने निशदिन वहालर, एवा ते वैष्णव जन रे

(३)

अखिल ब्रह्मण्डमा अेक तु श्रीहरि,
जूजवे रूपे अनन्त भासे।
देहमा देव तु तेजमां तत्त्व तु,
शून्यमा शब्द थई वेद वासे ।। टेक
पवन तुं पाणी तु, भूमि तुं भूधरा,
वृक्ष थई फूली रह्यो आकाश।
विविध रचना करी, अनेक कस लेवा ने,
शिव थकी जीव थयो अेज आशे ।। अ०
वेद तोअेम वदे, श्रुति स्मृति शाख दे,
कनक कुण्डल विशे भेद न होये।
घाट घडिया पछी, नाम रूप जूजवां,
अन्ते तो हेमनुं हेम होये ।। अ०
ग्रंथ गडबड करी, वात न करी खरी,
जेहने जे गमे तेने पूजे।
मन क्रम वचन थी, आप मानी लहे,
सत्य छे अेज मन अेम सूजे ।। अ०
वृक्षमा बीज तुं, बीजमां वृक्ष तुं,
जोउं पटतरो, अेज पासे।
भणे नरसैयो अे, मन तणी शोधना,
प्रीति करूँ प्रेम थी प्रकट थाशे ।। अ०

(४)

[देवा] आद्य तुं, अत्यं तुं त्रिकमा,
अेक तुं अेक तुं अेक पोते।
अखिलचो ब्रह्म ब्रह्मादि नव लहे,
भूरचा मानवी अन्य गोते ।। देवा०
रवि-शशि कोटि नख चंद्रकामा वसे,
दृष्टि पहोचे नहीं खोज खोले।
अर्क उद्योत ज्यम तिमिर भासे नहिं,
नेति-नेति कही निगम डोले ।। देवा०
कोटि ब्रह्माडना ईश धरणीधरा,
कोटि ब्रह्माड अेक रोम जेनु।
मर्म समज्या बिन मर्म भागे नहि,
सगुण स्वरूप निर्गुण अेनु ।। देवा०
अे नथी अेकलो विश्व थी वेगलो,
सर्व व्यापिक छे शक्ति स्तुत्य जेनी।
अखिल शिव आद्य आनदमय कृष्णजी,
सुन्दरी राधिका भक्ति तेनी ।। देवा०
वेदनी वातनो भेद लाद्ये नहीं,
तेनु हारद ते कोक जाणे।
शिव सनकादिक देवमुनि नारद,
पूरण ब्रह्मनु ध्यान आणे ।। देवा०
ते पूर्ण पुरुषोत्तम प्रेम दाशु रमे,
भावेशु भामनी अंक लीद्यो।
जे इस व्रज तणी नार विलसे सदा,
सखी रूपे ते नरसैये पीद्यो ।। देवा०

इन पदो से स्पष्ट है कि नरसी की भक्ति की भूमिका बहुत उच्चकोटि तक पहुच गई थी। भक्ति का प्रारम्भ भगवान या आराध्य के प्रति प्रेम या अनुराग से होता है। फिर उन्हीके आश्रय मे भक्त उन्हीको अर्पण कर देता है। उनके लिए भगवान ही एकमात्र सहारा है। नरसी ने इस बीच की स्थिति का भी अनुभव किया था और उसकी चरमस्थिति पर पहुच गये थे।

ईश्वर कोई ऐसी शक्ति नही है, जो दूर कही बादलो मे रहती हो। ईश्वर हमारे भीतर रहनेवाली अदृश्य शक्ति है और पलके आखो के जितनी निकट है, उनसे वह हमारे ज्यादा निकट है।

—मो क गांधी

बापू की मानवता

बनारसीदास चतुर्वेदी

६ अक्तूबर १६३६। वह मेरे जीवन की सबसे बडी दुर्घटना थी। मेरे अनुज रामनारायण चतुर्वेदी का देहान्त कुल जमा २८ वर्ष की उम्र मे ही कलकत्ता मे हो गया था। पूज्य पिताजी, जो उस समय अस्सी वर्ष से ऊपर के थे, जीवित थे। वह मर्द आदमी थे और उस वज्रपात को उन्होने बडे धैर्यपूर्वक सहा, पर उस आकस्मिक विपत्ति ने मुझे तो झकझोर ही दिया और उस दिन की याद कर अब भी कपकपी आ जाती है। उसके परिणामस्वरूप मेरे दाहिने हाथ मे कम्पन भी शुरू हो गया था। पत्रो मे इस दुर्घटना का वृत्तान्त छपने पर सहानुभूति के बीसियो तार और पत्र मेरे पास आये, उनमे एक पत्र महात्मा गाधी का भी था। मैने महात्माजी को इस विपत्ति की सूचना भेजना मुनासिब नही समझा था। फिर भी उन्होने श्री प्रभुदयाल विद्यार्थी से उसे सुनकर मेरे पास एक पत्र भेजा 'भाई बनारसीदास, प्रभुदयाल ने तुम्हारे भाई के देहान्त की खबर दी। तुम्हारे मे ज्ञान है, इसलिए आश्वासन की आवश्यकता कम है। जो रास्ते रामनारायण गये, वही रास्ते हम सबको जाना होगा। समय का ही फरक है। उसमे शोक क्या ? लेकिन हा, प्रेमियो की मृत्यु से हमारी जिम्मेदारी बढती है और तुम्हारी तो बहुत ही बढ गई। ईश्वर ही ऐसे मौके पर सच्चा मददगार है। वही तुमको मार्ग बतायेगा।

सेवाग्राम, वर्धा बापू के आशीर्वाद
१६-१०-३६

निस्सन्देह इस पत्र से मेरे पूज्य पिताजी को और मुझे भी बडी सान्त्वना मिली। यह बतलाने की आवश्यकता नही कि महात्माजी सदैव ऐसे पत्र अपने हाथ से ही लिखते थे। महात्माजी की मानवता का यह एक उत्कृष्ट दृष्टान्त है।

विश्व-विख्यात कलाकार स्टीफन ज्विग ने एक जगह लिखा था—"प्रत्येक मनुष्य के जीवन की कोई दुर्घटना उसके लिए तो सबसे ज्यादा कष्टप्रद होती है और दुख के कण से मनुष्य जो कुछ सीख सकता है वह उसे दुनियाभर की फिलासफी नही सिखा सकती।"

महात्माजी का वह वाक्य "जो रास्ते भाई रामनारायण गये, वही रास्ते हम सभीको जाना होगा, केवल समय का ही फरक है।" अब भी मेरे कानो मे गूज रहा है।

महात्माजी यदि चाहते तो सहानुभूति का तार भिजवा सकते थे। पर उसके बजाय उन्होने अपने हाथ से ही पत्र लिखना उचित समझा। आज वह पत्र मेरे पास तो सुरक्षित है ही, उसकी फोटोस्टेट कापी गान्धी स्मारक सग्रहालय मे भी विद्यमान है और रूस मे टाल्स्टाय के यास्नाया पोलियाना सग्रहालय मे भी। न जाने महात्माजी ने इस प्रकार की कितनी चिट्ठिया लिखी होगी।

अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी महात्माजी अपने मानवीय कर्तव्यो को कभी नही भूलते थे। श्री घनश्यामदासजी बिडला ने अपने एक लेख मे जो 'जीवन साहित्य' मे छपा था, एक घटना इस प्रकार लिखी है

"बहुत वर्षो की बात है। करीब २२ साल होगये। जाडे का मौसम था, कडाके का जाडा पड रहा था। गाधीजी दिल्ली आये थे। उनकी गाडी सुबह चार बजे स्टेशन पर पहुची। मैं उन्हे लेने गया। पता चला कि एक घटे बाद ही जानेवाली गाडी से वह अहमदाबाद जा रहे है। उनके गाडी से उतरते ही मैंने पूछा—एक दिन ठहरकर नही जा सकते ? उन्होने कहा—"क्यो ? मुझे जाना आवश्यक है।" मैं निराश हो गया। उन्होने फिर पूछा—क्यो ? मैने कहा—घर मे कोई बीमार है, मृत्युशैया पर है। आपके दर्शन करना चाहती है। गाधीजी ने कहा—

मैं अभी चलूगा। मैने कहा—मैं इस जाडे मे ले जाकर आपको कष्ट नही दे सकता। उन दिनो मोटरे भी खुली होती थी। जाडा और ऊपर से जोर की हवा, पर उनके आग्रह के वाद मैं लाचार हो गया। मैं उन्हे ले गया। दिल्ली से कोई १५ मील की दूरी पर। वहा उन्होने रोगी से वात कर उन्हे सान्त्वना दे दिल्ली केन्टनमेन्ट पर अपनी गाडी पकडी। मुझे आश्चर्य हुआ कि इतना वडा व्यक्ति मेरी जरा-सी प्रार्थना पर सुवह के कडाके के जाडे मे इतना परिश्रम कर सकता है और कष्ट उठा सकता है—पर यह उनकी आत्मीयता थी, जो लोगो को पानी कर देती थी। मृत्युशैय्या पर सोनेवाली यह मेरी धर्मपत्नी थी।"

सावरमती-आश्रम की एक वात मुझे याद आ रही है। वारडोली का सत्याग्रह होनेवाला था और देशभर मे विजली जैसा वातावरण फैला हुआ था। वापू उन दिनो काफी चिन्तित थे, फिर भी वह एक वुनकर को देखने के लिये गए, जिसके हाथ मे कुछ चोट आ गई थी। महात्माजी के लिए छोटे-वडे का कोई सवाल नही था। उनके लिए मनुष्यता ही सर्वोपरि थी।

सार्वजनिक कार्यो मे लगे रहने पर महात्माजी अपने छोटे-से-छोटे कार्यकर्ता के सुख-दुःख की वात नही भूलते थे। एक अन्य घटना पढ लीजिये

फिजी से लौटे हुए प० तोताराम सनाढ्य की पत्नी गगादेवी वीमार थी और वापू उनका इलाज कर रहे थे। प० तोतारामजी ने मुझे लिखा था "गगादेवी वीमार थी। दिन मे साझ को ७ वजे वापू देखने आये, कुछ इलाज मे फेरफार करने की सूचना मुझे देनी थी। मौनवार था, पर भूल गये। जव सोये तव रात मे याद आई। उस समय रात के २ वजकर ५ मिनट हुए थे। उसी समय यह सूचना की चिट्ठी एक वहन के हाथ रात मे मेरे पास भेजी थी।

तोताराम"

वापू का पत्र

"जुलाव की कोई जरूरत नही है। आज भी दूध देना नही चाहता हू। नारगी का और द्राक्ष का रस लेती रहे, पानी पी सकें इतना पीवे। कटि-स्नान लेवे और वरफ का मालिश भी करे। नाक मे नमक और सोडा का पानी भी लेवे और पेट पर आज भी दिन मे मट्टी की पोल्टिस लगावें और आज ही चार ग्रेन कुनैन नीबू और सोडा मे दे दो।

सोमवार, ३०-४-२८

२ वजे पाच मिनट —वापू

श्री साने गुरुजी ने एक जगह लिखा था

"यह घटना चम्पारन की है। किसानो का सत्याग्रह चल रहा था। महात्माजी के सत्याग्रह मे सभी भाग ले सकते थे। चम्पारन की उस सत्याग्रही सेना मे कुष्ठ रोग से पीडित एक खेतिहर मजदूर भी था। वह पैरो मे चिथडा लपेटकर चलता था। उसके घाव खुल गये थे, पैर खूब सूजे हुए थे। असह्य वेदना हो रही थी। लेकिन आत्म-शक्ति के वल पर वह महायोद्धा सत्याग्रही वना था।

"एक दिन शाम को सत्याग्रही योद्धा अपनी छावनी पर लौट रहे थे। उस महारोगी सत्याग्रही के पैरो के चिथडे रास्ते मे गिर पडे। उससे चला नही जा रहा था। घावो मे खून वह रहा था। दूसरे सत्याग्रही तेजी से आगे वढ गये। महात्माजी सवसे आगे रहते थे। वह वडे तेज चलते थे। पीछे छूट जानेवाले उस महारोगी सत्याग्रही का ध्यान किसीको नही रहा।

"आश्रम पहुचने पर प्रार्थना का समय हुआ। वापू के चारो ओर सत्याग्रही वैठे। लेकिन वापू को वह महारोगी दिखाई नही पडा। उन्होने पूछताछ की। अन्त मे किसीने कहा, वह जल्दी चल नही सकता था। थक जाने से वह पेड के नीचे वैठा था।

"गाधीजी एक शब्द भी न वोलकर उठे। हाथ मे वत्ती लेकर उसे खोजने वाहर निकल पडे। वह महारोगी राम नाम लेते हुए एक पेड के नीचे परेशान वैठा था। वापू के हाथ की वत्ती दीखते ही उसके चेहरे पर आशा फूट पडी। भरे गले मे उसने पुकारा—'वापू'।

"गाधीजी कहने लगे, 'अरे तुमसे चला नही गया तो मुझसे कहना नही चाहिए था?' उसके खून से सने पैरो की ओर उनका ध्यान गया। गाधीजी ने चादर फाडकर उसके पैर को लपेट दिया। उसे सहारा देकर धीरे-धीरे आश्रम मे उसके कमरे मे ले आये। वाद मे उसके पैर ठीक तरह से धोये। प्रेम से उसे अपने पास वैठाया। भजन शुरू हुआ। प्रार्थना हुई। वह महारोगी भी भक्ति और प्रेम से ताली वजा रहा था। उसकी आखें डवडवा रही थीं।"

छोटी-छोटी वातो पर भी महात्माजी वहुत ध्यान देते थे। जब महादेवभाई रेल मे उनके साथ यात्रा करते थे तो किसी जकशन-स्टेशन पर गाडी खडी होने पर वापू उनके जगने से पहले ही गरम चाय लेकर रख लेते थे।

सन् १९२२ के दिनो मे वापू ने रामदासभाई को अग्रेजी पढाने का कार्य अपने जिम्मे ले लिया था, यद्यपि उनके पास समय का अत्यन्त अभाव था, वा को तो वह समय-समय पर पढाते ही थे।

महात्माजी का कोई भी काम प्रदर्शन के लिए नही होता था, किसी सद्गृहस्थ के प्रति उनके हृदय मे उतना ही सम्मान था, जितना किसी बडे-से-वडे राजनैतिक नेता के प्रति हो सकता है।

एक जगह अमरीकी ऋषि एमर्सन ने लिखा है

"मै उस आदमी की इज्जत करता हू, जिसकी आकाक्षा न तो राज्य मे और न किसी फौज मे सम्मान पाने की है। जो न तो न्यायशास्त्री वनना चाहता है, न प्राकृतिक विज्ञानाचार्य, न कवि और न सेनापति, बल्कि जिसकी एक मात्र आकाक्षा यही है कि वह ठीक तौर से रहने की कला का आचार्य वने और फिर उसे चाहे मालिक का काम करना पडे या नौकर का या पति, पिता या मित्र का और वह अपने इन भिन्न-भिन्न कर्तव्यो को भली भाति निभा सके।"

एमर्सन की इस तराजू पर भी महात्माजी खरे उतरते थे।

महात्माजी मे दम्भ का नामोनिशान नही था। यद्यपि उन्होने अपने जीवन मे प्रभु ईसामसीह के करुणा के सदेश को, भगवान् गौतम बुद्ध की विश्लेषणात्मक बुद्धि को और भगवान् श्रीकृष्ण के कर्मयोग को चरितार्थ करने का भरपूर प्रयत्न किया था और कितने ही लोग उन्हे अवतार भी मानने लगे थे, पर महात्माजी इस प्रकार की प्रशसाओ को सर्वथा निराधार और उपेक्षणीय ही मानते थे। महात्माजी ने एक वार लिखा भी था

"लोग मेरी तारीफो के पुल वाधते है, पर वे यह नही जानते कि दिन मे मेरा कितना पतन होता है।"

महात्माजी अपनेको साधारण मनुष्य ही मानते थे और मामूली-से-मामूली आदमी के दुखो मे हिस्सा वटाना वह अपना कर्तव्य समझते थे। महात्माजी का अन्तिम पत्र, जो अपनी शहादत के एक दिन पहले लिखा गया था, सवेदना-सूचक ही था। उसे यहा उद्धृत किया जाता है -

२९-१-४८
न. दि

[illegible]

बापुके आशीर्वाद

प्रार्थना का अर्थ

मो० क० गाधी

प्रार्थना का अर्थ पूछा आपने
और उसकी जरूरत पूछी—
मुझे अच्छा लगा यह,
प्रश्न मन मे आपके अच्छा जगा यह,
क्योकि मैं तो प्रार्थना को
धर्म का आनन्द सुख और सार
सबकुछ मानता हू
पहचानता हू मै कि यदि इस तत्व को
हम मर्म जीवन का बना ले

तो विषम कोई परिस्थिति
कर न पाये हमे विचलित
और आये भी कभी दुख एक पल को
छोडकर जाये हमे बलवान पहले से ।

लोग अपनी बुद्धि को निर्भ्रम समझकर
कभी ऐसा कह दिया करते है—
जीवन का भला भगवान से सबध क्या है ?
धर्म का हममे नही है वास्ता कुछ !

बात कुछ ऐसी हुई यह,
जिस तरह कोई कहे—
मै सास लेता हू मगर
इस सास का सबध क्या है
नाक मे या फेफडे से !

बुद्धि कहिए उसे,
कहिए एक सहज प्रवृत्ति
हम जाने-अजाने
दिव्य कोई तत्त्व ऐसा मानते है,
जो हमे आधार देता है, चलाता है,
कभी करता है नियत्रित गति हमारी,
कभी देता है दिशा मानो अधेरे मे
परम नास्तिक भी किसी सिद्वात का हामी
हुआ करता है ऐसा दृढ
कि उसको घना सुख मिलता है उसके अनुसरण मे
और यह जो सुख उसे मिलता है
अपने सत्य के अनुसार चलने मे निरन्तर
तत्त्व उसमे मात्र भौतिक ही नही होता ।

नास्तिक का भी
परम आनन्द आखिर मानसिक है
और भी सोचे तो मन से परे का है,
आत्मिक है,
आत्मिक सुख अततोगत्वा
सभीको चाहिए
और मै इसलिए कहता हू कि जो
भगवान मे विश्वास के कायल नही है
धर्म वे भी मानते है,
धर्म माने बिना जीना
नासिका के बिना जैसे हवा पीना !

और अब मैं दूसरी एक बात कहता हू
प्रार्थना है सार जैसे धर्म का,
वह जिन्दगी का भी हमारी मर्म है
प्रार्थना मे कभी हम कुछ मागते है,
या कि फिर हम लौ लगाते है
कभी परमात्मा से ।

मागना भी असल मे
लौ लगाना है
याचना भी करे हम तो करे अपनी बुद्धि ही
घन अधेरे के पडे है आवरण जो,

या चकाचौंधे अडी है बीच मे जो,
आत्मा परमात्मा के
सत्य को जो सामने होने नही देता
उन्हीको हटाने के लिए प्रभु से लौ लगायें—
हम जगाये तत्त्व-चिन्तन से
जिसे मूर्च्छित किया है मोह ने या दभ ने
या द्वेष ने या क्रोध ने
और थोडे मे कहे तो अह ने जिसको
नही जगने दिया है ।

जो तडपता हो जगाने के लिए इस दिव्य लौ को
उसे फूकना चाहिए प्रभु के चरण मे प्रार्थना-रत,
किन्तु करना प्रार्थना
व्यायाम कानो का नही है,
जीभ भर नाम रटना भी नही है
प्रार्थना का अर्थ कोई ।

रामनाम सहस्र जपिए
लक्ष जपिए मत्र गायत्री
अगर उससे नही मन शुद्ध होता,
हृदय की हलचल नही रुकती,
नही थमता विचारो के प्रबल प्रचण्ड लौध का
गिरना बडप्पन के अचल ऊचे शिखर से
या नही हम भूलते है भान
अपनी दीनता का,
याद आते है हमे

प्रभु चरण मे बैठे हुए भी
कष्ट अपने नित्य के,
जो आत्मा के नही केवल देह के है,
तो हमारी प्रार्थना मे बल नही आया समझिए,
व्यर्थ है वह प्रार्थना आचार केवल ऊपरी है ।

हृदय जिनमे ओतप्रोत हुआ नही है
शब्द वे नि शब्द हो जाये
हृदय मे हो विकलता
और हार्दिक प्रार्थना मे
आत्मा फिर लीन हो जाये
झरे आनन्द का झरना,
विचरना बद हो जाये विचारो का निरर्थक ।
कभी क्षण ऐसे मिलेंगे
और फिर अनुभव-कमल ऐसे खिलेगे
एक क्षण भी प्रार्थना के विना रहना
असभव लगने लगेगा ।

आप कह सकते हे सुनकर यह
कि तब तो हमे जीवन मे प्रतिक्षण
प्रार्थना मे लगे रहना चाहिए
है यही आदर्श सचमुच किन्तु
मोहो से घिरे हम
एक क्षण भी यदि किसी दिन
नियत अपनी प्रार्थना की घडी मे
तम या किरण के आवरण से मुक्त होकर
ज्योति पाले
तो प्रतिक्षण निरत रहकर काम मे हम दूसरो के
प्रार्थना ही कर रहे है !

और फिर भी सूर्य
जैसे नियम के अनुसार
आता और जाता है,
प्रार्थना के नियत क्षण मे
नित्य सेवा से विरत
प्रभु के चरण मे लीन हो हम
काम अपने प्रार्थना से ही शुरु हो
और उनका विलय भी हो प्रार्थना मे ।

रूप क्या हो प्रार्थना का यह अवान्तर,
आप चुप है
या कि कोई मत्र मुह से बोलते हे
यह नही है मुख्य—
मन की शाति, निष्ठा-भावना ही
मुख्य इसमे ।
चित्त-वृत्ति-निरोध ऐसा
रात को सोये तो जैसे
लीन हुए समाधि मे हम
और खोली आख तो
जैसे परम आनन्द मे
विकसित हुए है ।

यंग इडिया,
३०-१-१९३०

(रूपातर—भवानीप्रसाद मिश्र)

मिलने से उत्पन्न आनन्द को ही प्रेम कहते है। यही है हमारी शक्तियो का त्रिक, तीनो का भगवान मे सगम। जब हम कर्मो को अपने प्रवेश-पथ और अपने मिलन-मार्ग के रूप मे अपनाकर अपनी यात्रा शुरू करते है तब हम इसी त्रिवेणी पर पहुचते है।

भगवान मे नित्य निवास की नीव है ज्ञान। कारण, समस्त जीवन और अस्तित्व की नीव है चेतना, और ज्ञान चेतना की एक क्रिया का ही नाम है। ज्ञान वह प्रकाश है, जिससे चेतना अपने-आपको तथा अपने तथ्यो को जानती है, वह शक्ति है, जिससे हम कर्म से प्रारम्भ करके, विचार और क्रिया के आन्तरिक परिणामो को अपनी चेतन सत्ता के दृढ विकास के भीतर धारण करने मे समर्थ होते है। इस प्रकार अन्त मे हमारी सत्ता, मिलन के द्वारा, दिव्य सत्ता की अनन्तता मे अपनी पूर्णता प्राप्त करती है। भगवान हमे अनेक रूपो मे दर्शन देते है और उनमे से प्रत्येक की कुजी है ज्ञान। फलत ज्ञान से हम अनन्त एव भगवान मे सर्वभाव से (सर्वभावेन्) प्रवेश करने है तथा उन्हे अधिकृत करते है, उन्हे सर्वभाव से अपने अन्दर ग्रहण करते तथा उनसे अधिकृत होते है।

ज्ञान के विना हम प्रकृति की शक्ति की अन्धता मे ग्रस्त होकर, अन्धभाव से भगवान मे निवास करते है। प्रकृति की शक्ति अपने कामो मे व्यस्त है, पर अपने मूल स्रोत और स्वामी को भूली हुई है। इस प्रकार हम भगवान के अन्दर अदिव्य ढग से वास करने के कारण अपनी सत्ता के सच्चे एव पूर्ण आनन्द से वचित रहते है। ज्ञान से ज्ञेय के साथ सचेतन एकत्व प्राप्त होता है, क्योकि पूर्ण और सच्चा ज्ञान तादात्म्य के आश्रय पर ही स्थित रह सकता है, ऐसे ज्ञान से भेदभाव दूर होता है और हमारी सारी सकीर्णता, विपमता, दुर्बलता तथा तृष्णा समूल नष्ट हो जाती है, परन्तु ज्ञान कर्मो के बिना पूर्ण नही होता, क्योकि केवल पुरुप या उसकी आत्म-चेतना प्रशान्त सत्ता ईश्वर नही है, वल्कि पुरुप मे निहित परम इच्छाशक्ति भी ईश्वर ही है। अत यदि कर्म ज्ञान मे परिसमाप्त होते है तो ज्ञान भी कर्मो मे चरितार्थ होता है। यहा भी प्रेम ज्ञान का मुकुट है, क्योकि प्रेम है मिलन का आनन्द, एकत्व को अपने आनन्द का अशेष ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए मिलन के हर्प को सचेतन होना होगा। अवश्य ही पूर्ण ज्ञान का फल होता है पूर्ण प्रेम, सर्वांग ज्ञान का फल होता है प्रेम का परिपूर्ण एव वहुल ऐश्वर्य। गीता कहती है, "जो मुझे पुरुपोत्तम के रूप मे जानता है—केवल इस रूप मे नही कि मैं अक्षर एकत्व हू वरन् भगवान की अनेकात्मक गति के रूप मे (क्षर रूप मे) भी और उस रूप मे भी जो क्षर-अक्षर दोनो से उत्तम है, जिसमे दोनो दिव्य ढग से धारित हे"—"वह पूर्ण ज्ञान से युक्त होने के कारण प्रेम के द्वारा सर्वात्मना मुझे ही खोजता है, वह सर्ववित् सर्वभाव से मुझे ही भजता है।" यह हे हमारी शक्तियो का त्रिक, तीनो का भगवान मे सगम। जब हम ज्ञान-मार्ग से अपनी यात्रा शुरु करते है तब हम इसी त्रिवेणी पर पहुचते हे।

प्रेम समस्त सत्ता का किरीट और उसकी परिपूर्णता का पथ है, इसीसे सत्ता चरम आत्म-अन्वेपण की समस्त तीव्रता और सम्पूर्ण सम्पदा तथा आनन्दोल्लास की ओर आरोहण करती है। यद्यपि परम सत् का साक्षात् स्वरूप है चित् और चेतना से ही, अर्थात् एकात्मता मे कृतार्थ होनेवाले पूर्ण ज्ञान से ही, हम उसके साथ एकाकार होते हे, तथापि चेतना का स्वरूप ही है आनन्द और आनन्द के शिखर की कुजी एव रहस्य है प्रेम। इच्छा चेतन-सत्ता की एक ऐसी शक्ति हे, जिससे यह अपनेको चरितार्थ करती है और इच्छाशक्ति मे एकत्व स्थापित करके ही हम परम सत्ता के साथ उसकी स्वाभाविक अनन्त शक्ति मे एकाकार होते हे। ऐसा होते हुए भी उस शक्ति के सभी कार्य आनन्द से उत्पन्न होते एव आनन्द मे निवास करते है और आनन्द ही उनका लक्ष्य एव परिणति है, शुद्ध परम सत् से ओर उसकी चेतनशक्ति द्वारा अभिव्यक्त सब रूपो से प्रेम करना ही आनन्द की पूर्ण विशालता का पथ है। प्रेम है दिव्य आत्म-आनन्द का वेग और मद और प्रेम के बिना हम सत् की अनन्तता की मुग्ध शान्ति, आनन्द की लवलीन नीरवता भले ही प्राप्त कर ले, पर उसकी ऐश्वर्य-सम्पदा की अथाह गहराई तक नही पहुच सकते। प्रेम हमे विरह के दु ख से ले चलकर पूर्ण मिलन के आनन्द तक पहुचाता है, पर साथ ही हम मिलन की क्रिया के उस हर्ष को भी नही खोते, जो आत्मा की सबसे बडी खोज है और जिसके लिए ससार का जीवन एक लम्बी तैयारी है। इसलिए

प्रेम-मार्ग से भगवान तक पहुचना अपने-आपको यावत्सभव सबसे महान् आध्यात्मिक परिपूर्णता के लिए तैयार करना है ।

प्रेम कृतार्थ होकर ज्ञान का बहिष्कार नही कर डालता, बल्कि स्वय ज्ञान को उत्पन्न करता है, ज्ञान जितना ही अधिक पूर्ण होता है, प्रेम की सम्भावना उतनी ही अधिक समृद्ध होती है । गीता मे भगवान श्रीकृष्ण कहते है, "भक्ति से मनुष्य मुझे पूर्ण रूप से जान लेता है—मै तत्त्वत जितना और जो कुछ भी हू—अपने सम्पूर्ण विस्तार और महानता मे तथा अपनी सत्ता के तत्वो मे जो कुछ भी हू उस सबको —मनुष्य भक्ति से अवश्यमेव जान लेता है और मुझे तत्त्वत जानकर वह मुझमे प्रवेश करता है ।" ज्ञान के बिना प्रेम प्रगाढ और उत्कट, पर अन्ध, असस्कृत और प्राय भयानक, महाशक्तिसम्पन्न पर साथ ही बाधक होता है, सीमित ज्ञान से युक्त प्रेम अपने उत्साह मे और प्राय अपने उत्साह के कारण ही सकीर्णता का दोषी बनता है, किन्तु जो प्रेम पूर्ण ज्ञान की ओर ले जाता है उससे अनन्त एव परम मिलन (सायुज्य) की प्राप्ति होती है । ऐसा प्रेम दिव्य कर्मों से असगत नही, वरन् अपनेको हर्ष-पूर्वक उनमे नियोजित करता है, क्योकि यह ईश्वर से प्रेम करता और उनकी सम्पूर्ण सत्ता मे, सर्वभूत मे, प्राणिमात्र मे, उनसे एकमय होता है, तब ससार के लिए कर्म करना (लोकसग्रह) अपने ईश्वर-प्रेम को अनेकानेक रूपो मे अनु-भव चरितार्थ करना होता है ।

भागवत कृपा

इस सिद्धि को प्राप्त करने के लिए हमे भगवती शक्ति से सतचेन होना होगा, उसे अपनी ओर खीच लाना तथा अपने अन्दर उसका आवाहन करना होगा ताकि वह हमारे सारे आधार को अपनी सत्ता से परिपूरित कर दे तथा हमारे सारे कार्यो का भार अपने ऊपर ले ले । तब कोई ऐसा पृथक निजी सकल्प या व्यक्तिगत शक्ति नही रहेगी, जो हमारे कार्यो का सचालन करने का यत्न करती हो, न हमारे अन्दर कोई ऐसी भावना रहेगी कि तुच्छ व्यक्तिगत सत्ता ही कार्य करती है और न ही तब तीन गुणोवाली निम्नतर शक्ति अर्थात् मानसिक, प्राणिक एव भौतिक प्रकृति हमारे कार्यो का सचालन करेगी । भागवत शक्ति हमे अपने दिव्य प्रवाह से भर देगी और हमारी सब आन्तरिक क्रियाओ, हमारे बाह्य जीवन तथा योग के ऊपर अध्यक्षता करेगी और उसकी बागडोर अपने हाथ मे ले लेगी । वह मानसिक शक्ति को, अपनी ही एक निम्नतर रचना को हाथ मे लेकर उसे उसकी बुद्धि, सकल्प शक्ति और चैत्य क्रिया की उच्चतम, शुद्धतम एव पूर्णतम शक्तियो तक ऊपर उठा ले जायगी । वह मन, प्राण और देह की उन यात्रिक शक्तियो को, जो आज हमपर शासन करती है, अपनी जीवत और सचेतन शक्ति एव उपस्थिति की आनन्दपूर्ण अभिव्यक्तियो मे रूपातरित कर देगी । मन जिन नानाविध आध्यात्मिक अनुभवो को प्राप्त कर सकता है उन सबको वह हमारे अन्दर प्रकट करके एक दूसरे के साथ सम्बद्ध कर देगी । इस प्रक्रिया की सर्वोच्च परिणति के रूप मे वह मानसिक स्तरो मे अतिमानसिक ज्योति उतार लायगी, मन के उपादान को अतिमानस के उपादान मे बदल डालेगी, समस्त निम्नतर शक्तियो को अपनी अतिमानसिक प्रकृति की शक्तियो मे रूपातरित कर देगी और हमे ऊचे उठाकर हमारी विज्ञानमय सत्ता मे ले जायगी । वहा यह महाशक्ति अपने-आपको पुरुषोत्तम की शक्ति के रूप मे हमारे सामने प्रकट करेगी और वस्तुत ईश्वर ही अपनी अतिमानसिक और आध्यात्मिक शक्ति के रूप मे अपने-आपको प्रकट करेगे और हमारी सत्ता तथा हमारे कर्म, जीवन एव योग के स्वामी बन जायगे ।

पूर्ण शुद्धता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को मन, वचन और कर्म मे सर्वथा विकाररहित बनना पड़ता है । उसे प्रेम और घृणा तथा राग और द्वेप की विरोधी घटनाओ मे ऊपर उठना पड़ता है ।

—मो० क० गांधी

विष्णु : मंगलमूर्ति

हरिभाऊ उपाध्याय

मानव-जीवन मे चिन्तन और साधना दोनो परस्पर पूरक है। बुद्धि के द्वारा चिन्तन और चिन्तन का जो निष्कर्ष निकलता है उसे कर्म—इन्द्रियो—के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न साधना है। इस साधना के फलस्वरूप चिन्तन या तो दृढ होता है, या आगे बढता है, पुनश्चिन्तन की भी आवश्यकता हो जाती है। विज्ञान के क्षेत्र मे यही साधना 'प्रयोग' कहलाती है। साधना मे मनुष्य अपने शरीर और इन्द्रियो के व्यापार तक ही सीमित रहता है, जबकि प्रयोग मे दूसरी बाह्य वस्तुओ पर भी क्रिया करता है। इसी प्रक्रिया ने उच्च दार्शनिक तत्वो और विज्ञान के सिद्धान्तो को जन्म दिया है। जीव और ईश्वर, आत्मा-परमात्मा पर चिन्तन करते-करते मनीषियो ने दो मत स्थिर किये एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म। जड और चेतन अलग-अलग है। दोनो अन्ततोगत्वा एक ही है, रूप भले ही दो दिखाई दे, किन्तु मूल वस्तु दोनो मे एक ही है। जड गौण है, चेतन—परमात्मा ही मुख्य है। विज्ञान ने जगत् के पदार्थो की, मूल स्वरूप की खोज बाह्य उपकरणो से आरभ की, उसकी इस यात्रा मे बडी-बडी शक्तिया उसके साथ लगी। सृष्टि के मूल मे एक तत्व है या अनेक, यह खोज करते-करते वे भी इस निश्चय पर पहुच रहे है कि जड पदार्थो के अन्दर—सबमे—अन्ततोगत्वा एक ही सूक्ष्म तत्व विद्यमान है। इधर दार्शनिको मे भी, वेदातियो ने यही निष्कर्ष निकाला है कि दो तत्व—प्रकृति-पुरुष—भिन्न नही, पुरुष परमात्मा मे ही प्रकृति—सृष्टि—छिपी हुई है। सूक्ष्म तत्व के विषय मे विज्ञानियो और वेदान्तियो की खोज ने हमे एक ही तत्व के दर्शन कराये है। सृष्टि की इस विविधता के अन्दर चेतन-रूप मे एक ही तत्व, प्राण, शक्ति, कुछ भी कहिए, विद्यमान् है, यह दोनो का अभिमत है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम एक से अनेक हुए है—भीतर से एक है, बाहर से अनेक हैं। अनेकता ऊपरी है, एकता असली है।

अत जब हम राष्ट्रीय एकता, मानवीय एकता या विश्वबन्धुत्व, विश्व राज्य की बात करते हैं तो हम इसी सत्य का प्रतिपादन करते हैं। मनुष्य का शरीर एक है, उसमे सूक्ष्म प्राण की धारा भी एक ही है, परन्तु इन्द्रिया—अवयव—जुदा-जुदा हैं, पर क्या वे एक ही शरीर के साथ जुडे हुए नही है और क्या शरीर के किसी अग पर कोई चोट पहुचती हो तो दूसरे अग अपने-आप उसकी सहायता के लिए नही पहुचते ? शरीर के सारे सुख-दु खो मे क्या उसके अग-प्रत्यग सभी साझी नही होते ? शरीर का यह प्रत्यक्ष उदाहरण—अनेक मे एक का—हमारे सामने है, हमारे नित्य अनुभव भी वस्तु है, फिर भी यह सोचने की बात है कि हमे अपने परिवार मे, समाज में, देश मे, विश्व मे, शान्ति, सहयोग और एकता की आवश्यकता पर इतने व्याख्यान, ग्रन्थ आदि के द्वारा घोर प्रचार क्यो करना पडता है ? इसलिए कि हम पेड की शाखा-पत्तो को ही मुख्य मानकर उसके तने, जड और इन सबके अन्दर जो जीवन-रस रहता या बहता है, उसकी अनेक छोटे स्वार्थी एकागी कारणो से उपेक्षा कर जाते है। इसीका हमे ध्यान रखने की आवश्यकता है।

जब विश्व के अधिकाश चिन्तक एक ही मूल तत्व मे आस्था रखते है तो उसीके आधार पर समाज और राष्ट्र के सचालन की व्यवस्था बननी चाहिए। अर्थात् विश्व के—परिवार, समाज, विभिन्न देश आदि—के रूप मे जो भिन्न छोटे-बडे विभाग बन गए हे, या बनाए गये है उनकी एक अश तक सीमित स्वतन्त्रता मानते हुए भी, वे सब एक-दूसरे से जुडे हुए, अभिन्न है—यही मूल तत्व, मूल उद्देश्य, हमारी समाज-व्यवस्था और राज्य-सगठन का होना चाहिए। हमारा विश्व-राज्य-सघ, या विश्व की एक सर-

कार हो, यह विचार—नारा—इसी दिशा की ओर सकेत करता है ।

इधर हमारे भारतीय चिन्तक इसी बात तक सीमित नही रहे—इस निष्कर्ष को मानकर ही नही बैठे रहे। उन्होने सृष्टि की विविध क्रिया-प्रक्रियाओ को देखकर उसका और अधिक विचार किया। उन्होने देखा कि सृष्टि मे वस्तुए पैदा होती है, उनका मूर्त रूप दिखाई देता है, फिर कुछ समय तक रहती है, बढती रहती है, फिर उनका अन्त हो जाता है, वे अपने इसी रूप मे नही रहती, नही दिखाई देती। ये तीन परिवर्तन प्राय नित्य अवलोकन मे आते है। तो उन्होने उसी चेतन तत्व या शक्ति के तीन रूप निर्धारित किये एक उत्पन्नकर्ता, एक पालनकर्ता, एक सहारकर्ता और आर्य-चिन्तको ने उनके तीन नाम भी दे दिये ब्रह्मा, विष्णु, महेश। एक ही मूल शक्ति—चेतना—के ये तीन क्रियामूलक नाम हुए ।

इनमे आदि और अन्त के दो कार्य—लम्बा समय नही लेते। मध्य का, समाज की स्थिरता का, विकास का काल वहुत लम्बा चलता है, इसलिए उनका महत्व, मानव-समाज के लिए विशेष मानकर इस पालन-क्रिया या शक्ति की साधना पर विशेष जोर दिया है। भारतीय या हिन्दू-शास्त्रो मे विष्णु का, वैष्णवी—मागलिक—शक्ति की उपासना का, इतना महत्व बताया गया है, उसका यही कारण हे।

हिन्दू घरो मे, उनके प्रत्येक सस्कार, विधान मे, जीवन के प्रत्येक मोड के अवसर पर, इस मगल-तत्व, मागलिक शक्ति, वैष्णवी सकल्प का स्मरण किया जाता है

"मंगलं भगवान् विष्णुः, मगलं गरुडध्वज।
मंगलं पुण्डरीकाक्ष, मंगलायतनो हरिः॥"

इसको आधार मानकर, सौराष्ट्र के प्रसिद्ध भक्त, नरसी महेता ने वैष्णव जन की एक मूर्ति अपने सामने खडी की और उसपर एक भजन गाया, जिसे गाधीजी ने अपने जीवन का आदर्श या लक्ष्य मानकर अपने आश्रम के गीत-भजनो मे पर्वोपरि स्थान दिया, जो हमारे राष्ट्रीय गान—राष्ट्र-गीत—की तरह गाधीजी की सस्थाओ मे परम्परा मे उतना ही स्थान रखने लगा है ।

इस एक ही भजन मे गीता के स्थित-प्रज्ञ और ज्ञानी, भागवतकार के मुनि, महावीर के तीर्थंकर और तथागत यानी बुद्ध के सभी लक्षणो का सार आ जाता है। इस भजन मे वैष्णव जन का प्रथम लक्षण **"जे पीड पराई जाणे रे"** ध्यान देने योग्य है। इसमे ईसा की करुणा की अप्रतिहत ध्वनि है और अब तो पूज्य बाबा—विनोबा—ने भी सत्य, अहिंसा के साथ 'करुणा' को पृथक् रूप से गिनाना शुरू किया है। पर-पीडा से आहत और प्रेरित होकर मनुष्य जो कुछ उसके हित मे करता है, वही 'मगलाचरण' है और वही भगवान् विष्णु का असली रूप, व्याख्यान और आशीर्वाद है।

●

सब जन एक समान

एक ब्राह्मण गगा नहाकर लौट रहा था। रास्ते मे एक चाण्डाल आ गया। ब्राह्मण ने उससे कहा, "एक ओर को हट।"

चाण्डाल ने उसकी ओर देखा। बोला, "तुम किसे हटाना चाहते हो? यह देह तो गदगी की खान है। लेकिन आत्मा सबकी शुद्ध है। ऐसी हालत मे बताओ, कौन ऊच है, कौन नीच?

ब्राह्मण कुछ कहे कि उससे पहले ही चाण्डाल बोल उठा, "अच्छा गगा-जल के चाद मे और हमारी पोखर के चाद मे कोई अंतर है? नही है तो ब्राह्मण और अछूत का भ्रम तुम्हारे मन मे कैसे पैदा हुआ?"

ब्राह्मण की आखे खुल गईं। वह बोला, "तुम ठीक कहते हो। मैं भूल मे था। यह देह तो किसी की नही रहती। एक दिन मिट्टी मे मिल जाती है। पर आत्मा तो सबकी एक-सी है। वह कभी नही मरती।"

चाण्डाल ने फिर कहा, "महाराज, ब्राह्मण और अछूत कोई जनम से नही होता, यह सब भेदभाव तो आदमी का बनाया हुआ है।"

ब्राह्मण की आखो से भ्रम का पर्दा हट गया और वह सबको बराबर समझने लगा।

प्रभु की उपलब्धि का द्वार सदा खुला है

रजनीश

●

मैं यह क्या देख रहा हू ? यह कैसी निराशा तुम्हारी आखो मे है ? और क्या तुम्हे ज्ञात नही है कि जब आखे निराश होती है, तब हृदय की वह अग्नि बुझ जाती हे और वे सारी अभीप्साए सो जाती है, जिनके करण कि मनुष्य मनुष्य है !

निराशा पाप है, क्योकि जीवन उसकी धारा मे निश्चय ही ऊर्ध्वगमन खो देता है।

निराशा पाप ही नही, आत्मघात भी है, क्योकि जो श्रेष्ठतर जीवन को पाने मे सलग्न नही है, उसके चरण अनायास ही मृत्यु की ओर बढे जाते है।

यह शाश्वत नियम है कि जो ऊपर नही उठता, वह नीचे गिर जाता है और जो आगे नही बढता, वह पीछे ढकेल दिया जाता है।

मै जब किसीको पतन मे जाते देखता हू तो जानता हू कि उसने पर्वत-शिखरो की ओर उठना बद कर दिया होगा। पतन की प्रक्रिया विधात्मक नही है। घाटियो मे जाना, पर्वतो पर न जाने का ही दूसरा पहलू है। वह उसकी ही निषेध छाया है।

और जब तुम्हारी आखो मे मै निराश देखता हू तो स्वाभाविक ही है कि मेरा हृदय प्रेम, पीडा और करुण से भर जाय, क्योकि निराशा मृत्यु की घाटियो मे उतरने का प्रारम्भ है।

आशा सूर्यमुखी के फूलो की भाति सूर्य की ओर देखती है और निराशा ? निराशा अधकार से एक हो जाती है। जो निराश हो जाता है, वह अपनी अतर्निहित विराट शक्ति के प्रति सो जाता है और उसे विस्मृत कर देता है जो कि वह है और जो कि वह हो सकता है।

बीज जैसे भूल जाय कि उसे क्या होना है और मिट्टी के साथ ही एक होकर पडा रह जाय, ऐसा ही वह मनुष्य है जो कि निराशा मे डूब जाता है।

और आज तो सभी निराशा मे डूबे हुए है !

नीत्से ने कहा है "परमात्मा मर गया है।" यह समाचार उतना दुखद नही है, जितना कि आशा का मर जाना। क्योकि आशा हो तो परमात्मा को पा लेना कठिन नही और यदि आशा न हो तो परमात्मा के होने से भी कोई भेद नही पडता। आशा का आकर्षण ही मनुष्य को अज्ञात की यात्रा पर ले जाता है। और आशा ही प्रेरणा हे जो कि उसकी सोयी शक्तियो को जगाती और उसकी निष्क्रिय चेतना को सक्रिय करती है।

क्या मै कहू कि आशा की भावदशा ही आस्तिकता है ?

और यह भी कि आशा ही समस्त जीवन-आरोहण का मूल उत्स और प्राण है ?

पर आशा कहा है ? मै तुम्हारे प्राणो मे खोजता हू तो वहा तो निराशा की राख के सिवा और कुछ भी नही मिलता ? और आशा के अगारे न हो तो तुम जिओगे कैसे ? निश्चय ही तुम्हारा यह जीवन इतना बुझा हुआ है कि मै इसे जीवन भी कहने मे असमर्थ हू।

मित्र, मुझे आज्ञा दो कि मैं कहू कि तुम मर गये हो ! असल मे तुम कभी जिये ही नही। तुम्हारा जन्म तो जरुर हुआ था, लेकिन वह जीवन तक नही पहुच सका ! जन्म ही जीवन नही हे। जन्म मिलता है। जीवन पाना होता है। इसलिए जन्म मृत्यु मे छीन भी लिया जाता है। लेकिन जीवन को कोई भी मृत्यु नही छीन पाती है। जीवन जन्म नही है ओर इसलिए जीवन मृत्यु भी नही है।

जीवन जन्म के भी पूर्व है और मृत्यु के भी अतीत है। और जो उसे जानता है, वही केवल भयो और दुखो के ऊपर उठ पाता है।

किन्तु, जो निराशा से घिरे है, वे उसे कैसे जानेगे ? वे तो जन्म और मृत्यु के बीच के तनाव मे ही समाप्त हो जाते है !

जीवन एक सभावना है और उसे सत्य मे परिणत करने के लिए साधना चाहिए। निराशा मे साधना का जन्म नही होता, क्योकि निराशा तो बाझ है ओर उसमे कभी भी, किसीका जन्म नही होता है। इसीलिए मैने कहा कि निराशा आत्मघाती है, क्योकि उससे किसी भी भाति की सृजनात्मक शक्ति का आविर्भाव नही होता है।

मै कहता हू—उठो और निराशा को फेक दो। उसे तुम अपने ही हाथो से ओढे बैठे हो। उसे फेकने के लिए और कुछ भी नही करना है, सिवा इसके कि तुम उसे फेकने को राजी हो जाओ। आह ! तुम्हारे अतिरिक्त और कोई उसके लिए जिम्मेदार नही है।

मनुष्य जैसा भाव करता है, वैसा ही हो जाता है। उसके ही भाव उसका सृजन करते है। वही अपना भाग्य-विधाता है।

विचार—विचार—विचार, और उनका सतत् आवर्तन ही अतत वस्तुओ और स्थितियो मे घनीभूत हो जाता हे।

स्मरण रहे कि तुम जो भी हो, वह तुमने ही अनत बार चाहा है, विचारा है और उसकी भावना की है। देखो, स्मृति मे खोजो तो निश्चय ही जो मै कह रहा हू, उस सत्य के तुम्हे दर्शन होगे। और जब यह सत्य तुम्हे दीखेगा तो तुम स्वय के आत्म-परिवर्तन की कुजी को पा जाओगे। फिर अपने ही द्वारा ओढे भावो और विचारो को उतारकर अलग कर देना कठिन नही होता है। वस्त्रो को उतारने मे भी जितनी कठिनता होती है उतनी भी उन्हे उतारने मे नही होती है, क्योकि वे तो है भी नही, सिवा तुम्हारे ख्याल के उनकी कही भी कोई सत्ता नही है।

हम अपने ही भावो मे अपने ही हाथो से कैद हो जाते हैं, अन्यथा वह जो हमारे भीतर है, सदैव ही स्वतन्त्र है।

और, क्या निराशा से बडी और कोई कैद है ? नही, क्योकि पत्थरो की दीवारे जो नही कर सकती, वह निराशा करती है। दीवारो को तोडना सम्भव है, लेकिन निराशा तो मुक्त होने की आकाक्षा को ही खो देता है।

और, निराशा से मजबूत जजीरे भी नही हे, क्योकि लोहे की जजीरे तो मात्र शरीर को बाधती है, निराशा तो आत्मा को बाध लेती है।

मेरे प्रिय ! निराशा की इन जजीरो को तोड दो। इन्हे तोडा जा सकता है, इसीलिए ही मै तोडने को कह कह रहा हू। उनकी सत्ता स्वप्न सत्ता मात्र है। उन्हे तोडने के सकल्प मात्र से ही वे टूट जायंगी। जैसे दीये के जलते ही अन्धकार टूट जाता है, वैसे ही सकल्प के जागते ही स्वप्न टूट जाते है।

और, फिर निराशा के खण्डित होते ही जो आलोक चेतना को घेर लेता है, उसका ही नाम आशा है।

निराशा स्वय आरोपित दशा है। आशा स्वभाव है, स्वरूप है।

निराशा मानसिक आवरण हे, आशा आत्मिक आविर्भाव है। मै कह रहा हू कि आशा स्वभाव हे। क्यो ? क्योकि यदि ऐसा न हो तो जीवन-विकास की ओर सतत् गति और आरोहण की कोई सम्भावना न रह जाय। बीज अकुर बनने को तडपता है, क्योकि कही उसके प्राणो के किसी अन्तरस्थ केन्द्र पर आशा का आवास है। और सभी प्राण अकुरित होना चाहते है और जो भी हे वह विकसित और पूर्ण होना चाहता है। अपूर्ण की पूर्ण के लिए अभीप्सा आशा के अभाव मे कैसे हो सकती है और पदार्थ की परमात्मा की ओर यात्रा क्या आशा के विना सम्भव है ?

मै नदियो को सागर की ओर दौडते देखता हू तो मुझे उनके प्राणो मे आशा का सचार दिखाई पडता है। और जब मैं अग्नि को सूर्य की ओर उठते देखता हू तब भी उन लपटो मे छिपी आशा के मुझे दर्शन होते हे।

और क्या यह ज्ञात नही हे कि छोटे-छोटे बच्चो की आखो मे आशा के दीप जलते है ? और पशुओ की आखो मे भी और पक्षियो के गीतो मे भी ?

जो भी जीवित है, वह आशा से जीवित है और जो भी मृत है वह निराशा से मृत है।

यदि हम छोटे बच्चो को देखे, जिन्हे कि अभी समाज, शिक्षा और सभ्यता ने विकृत नही किया हे, तो बहुत-से जीवन-सूत्र हमे दिखाई पडेंगे। सबसे पहली बात दिखाई पडेगी आशा, दूसरी बात जिज्ञासा और तीसरी बात श्रद्धा।

निश्चय ही यह गुण स्वाभाविक है। उन्हे अर्जित नही करना होता है। वे हममे है। हा, हम चाहे तो उन्हे खो अवश्य सकते है। फिर भी हम उन्हे बिल्कुल ही नही खो सकते है, क्योकि जो स्वभाव है, वह नष्ट नही होता। स्वभाव केवल आच्छादित ही हो सकता है, विनष्ट नही। और जो स्वभाव नही है, वह भी केवल वस्त्र ही बन सकता है, अन्तस् कभी नही। इसलिए मैं कहता हू कि वस्त्रो को अलग करो और उसे देखो जो कि तुम स्वय हो। सब वस्त्र बन्धन है और निश्चय ही परमात्मा निर्वस्त्र है।

क्या ही अच्छा हो कि तुम भी निर्वस्त्र हो जाओ ? मै उन वस्त्रो की बात नही कर रहा हू, जो कि कपास के धागो से बनते है। उन्हे छोडकर तो बहुत-से व्यक्ति निर्वस्त्र हो जाते है। और फिर भी वही बने रहते है, जो कि वे वस्त्रो मे थे। कपास के कमजोर धागे नही, निषेधात्मक भावनाओ की लौह श्रृखला तुम्हारे बन्धन है। उन्हे जो छोडता है, वही उस निर्दोष नग्नता को उपलब्ध होता है, जिसकी ओर कि महावीर ने इशारा किया है।

सत्य को पाने को—स्वय को जानने को—स्वरूप मे प्रतिष्ठित होने को सब वस्त्रो को छोड नग्न हो जाना आवश्यक है।

और निराशा के वस्त्र सबसे पहले छोडने होगे, क्योकि उसके बाद दूसरे वस्त्र छोडे जा सकते है।

परमात्मा की उपलब्धि के पूर्व यदि तुम्हारे चरण कही भी रुके तो जानना कि निराशा का विष कही-न-कही तुम्हारे भीतर बना ही हुआ है। उससे ही प्रमाद और आलस्य उत्पन्न होता है।

ससार मे विश्राम के स्थलो को ही प्रमादवश गन्तव्य समझने की भूल हो जाती है। परमात्मा के पूर्व और परमात्मा के अतिरिक्त और कोई गन्तव्य नही है, इसे तुम्हारी समग्र आत्मा को कहने दो। कहने दो कि परमात्मा के अतिरिक्त और कोई चरम विश्राम नही है, क्योकि परमात्मा मे ही पूर्णता है।

परमात्मा के पूर्व जो रुकता है, वह स्वय का अपमान करता है, क्योकि वह जो हो सकता था, उसके पूर्व ही ठहर गया होता है।

सकल्प और साध्य जितना ऊचा हो, उतनी ही गहराई तक स्वय की सोयी शक्तिया जागती है। साध्य की ऊचाई ही तुम्हारी शक्ति का परिणाम है। आकाश को छूते वृक्षो को देखो। उनकी जडे अवश्य ही पाताल को छूती होगी और तुम भी यदि आकाश छूने की आशा और आकाक्षा से आन्दोलित हो जाओगे तो निश्चय ही जानो कि तुम्हारे गहरे-से-गहरे प्राणो मे सोई हुई शक्तिया जाग जायगी। जितनी तुम्हारी अभीप्सा की ऊचाई होती है, उतनी ही तुम्हारी शक्ति की गहराई भी होती है।

क्षुद्र की आकाक्षा चेतना को क्षुद्र बनाती है, तब यदि मागना ही हे तो परमात्मा को मागो। वह जो कि अन्तत तुम होना चाहोगे, प्रारम्भ से उसकी ही तुम्हारी माग होनी चाहिए, क्योकि प्रथम ही अन्तत अन्तिम उपलब्धि बनता है।

मै जानता हू कि तुम ऐसी परिस्थितियो मे निरतर घिरे हो, जो कि प्रतिकूल है और परमात्मा की ओर उठने से रोकती है, लेकिन ध्यान मे रखना कि जो परमात्मा की ओर उठे, वह भी कभी ऐसी ही परिस्थितियो से घिरे थे ? परिस्थितियो का बहाना मत लेना। परिस्थितिया नही, वह बहाना ही असली अवरोध बन जाता है। परिस्थितिया कितनी ही प्रतिकूल हो, वह इतनी प्रतिकूल कभी भी नही हो सकती है कि परमात्मा के मार्ग मे बाधा बन जाय। वैसा होना असम्भव है। वह तो वैसा ही होगा जैसे कि कोई कहे कि अधेरा कभी इतना घना नही है कि प्रकाश के जलने मे बाधा बन गया है। अधेरा कभी इतना घना नही होता और न परिस्थितिया इतनी प्रतिकूल होती है कि वे प्रकाश के आगमन मे बाधा बन सके। वस्तुत तुम्हारे अतिरिक्त और कोई बाधा नही है।

उसे बहुत मूल्य कभी मत दो, जोकि आज है और कल नही होगा, जिसमे पल-पल मे परिवर्तन है, उसका मूल्य ही क्या ? परिस्थितियो का प्रवाह तो नदी की भाति है। उसे देखो। उसपर ध्यान दो, जोकि नदी की धार मे भी अडिग चट्टान की भाति स्थिर है। वह कौन है ? वह तुम्हारी चेतना है, वह तुम्हारी आत्मा है, वह तुम अपने वास्तविक रूप मे स्वय हो। सब बदल जाता है। बस, वही अपरिवर्तित है। उस ध्रुव-बिन्दु को पकडो और उस पर ठहरो, लेकिन तुम तो आधियो के साथ काप रहे हो

और लहरो के साथ थरथरा रहे हो ? क्या वह शान्त और अडिग चट्टान तुम्हे नही दिखाई पडती है, जिसपर कि तुम खडे हो और जोकि तुम हो ? उसकी स्मृति को लाओ। उसकी ओर आखे उठते ही निराशा आशा मे परिणत हो जाती है और अन्धकार आलोक वन जाता है ।

और स्मरण रखना कि जो समग्र हृदय से, आशा और आश्वासन से, शक्ति और सकल्प से, प्रेम और प्रार्थना से, स्वय की सत्ता का द्वार खटखटाता है, वह कभी भी असफल नही लौटता है, क्योकि प्रभु के मार्ग पर असफलता है ही नही । पाप के मार्ग पर सफलता असम्भव और प्रभु के मार्ग पर असफलता । पाप के मार्ग पर सफलता हो तो समझना कि भ्रम है और प्रभु के मार्ग पर असफलता हो तो समझना कि परीक्षा है ।

वस्तुत तो प्रभु की उपलब्धि का द्वार कभी बन्द ही नही । हम अपनी ही निराशा मे अपनी ही आखे बन्द कर लेते है, वह बात दूसरी है । निराशा को हटाओ और देखो, यह कौन सामने खडा है ? क्या वही वह सूर्य नही है, जिसकी खोज थी, क्या यही वह प्रिय नही है, जिसकी कि प्यास थी ?

ईसा ने कहा था—"मागो और मिलेगा । खटखटाओ और द्वार खुल जायगे ।" वही मैं पुन कहता हू । वही ईसा के पहले भी कहा गया था, वही मेरे बाद भी कहा जायगा । धन्य है वे लोग जो खटखटाते है और आश्चर्य है उन लोगो पर, जोकि प्रभु के द्वार पर ही खडे है और आखे बन्द किये है और रो रहे है !

●

पवित्र कौन ?

मुनिश्री सुमेरमल

'सुइ सया वियड भावो' भगवान महावीर के इस उद्घोष मे पवित्र उसे कहा गया है, जो खुला है, जिसके जीवन मे कोई छुपाव नही है, जीवन का हर पहलू निरावरण है । आवरण हमेशा कुत्सित को ढाकने के लिए होता है । पवित्र को नही । अशुभ को सदैव ढाकने का प्रयत्न होता है, शुभ को नही ।

व्यक्ति अपनेको इतना शुभ बना ले कि उसके किसी भी पहलू को देखने पर पवित्रता ही दृष्टिगोचर हो, ऐसा तभी हो सकता है जब व्यक्ति अभय होकर सत्य की साधना करे । भय से सत्य बोलनेवाला जीवन मे निखार नही ला सकता और न अधिक समय तक वह सत्य पर टिक सकता है । सत्य की साधना के लिए अभय की उपासना जरूरी है और पवित्र होने के लिए स्वय मे सच्चा होना जरूरी है ।

वाणी और कर्म की एकात्मकता सत्य के आलोक मे ही सम्भव है । पवित्र जीवन मे कथनी-करनी की एकता सहज सभाव्य है । क्या उसे पवित्र माने, जो स्नान तो दो समय करता है, किन्तु चिन्तन मे अस्पष्टता, वाणी मे शठता और कर्म मे वक्रता रखता हो, वासना का पुतला केवल ऊपर से भला दीखना चाहता है ?

क्या उसे भी पवित्र माने, जो व्यसनो मे आकठ निमग्न होते हुए भी जल से शुद्ध होने की विडम्बना करता है ?

असद् व्यवहारी कभी पवित्र नही बन सकता, आतरिक पवित्रता ही जीवन को सभालती है, कर्त्तृत्व को निखारती है । इसीलिए ऋषियो ने व्यसन व वासना दोनो को छोडना अनिवार्य बताया है । सत्य को भगवान् की तरह उपास्य कहा है ।

धर्म का निवास पवित्र हृदय मे होता है—"धम्मो सुद्धस्स चिठ्ठइ ।" अपवित्र व्यक्ति धर्म नही कर सकता । अपवित्र जन्म से नही, वर्ण से नही, जाति से नही, दुराचार से होता है । जीवन मे सदाचरण आये, मानसिक कालुष्य मिटे, फिर जीवन सर्वथा निर्विकार होकर पवित्र बन जाता है ।

●

सन्तों का मानव-धर्म

बाबूराव जोशी

स्मृतिकार कुछ विशेष प्रकार के नैतिक नियमो के पालन तथा कुछ सामाजिक व्यवस्थाओ के अनुसरण को धर्म मानते है। उन्होने कहा है—**"आचार प्रथमो धर्म·।"** मीमासक धर्म को प्रेरणा-प्रधान मानते है। उनके अनुसार धर्म विविध प्रवृत्तियो पर अर्गला देनेवाला तत्त्व है—**"चोदना लक्षणयो धर्म।"** महाभारत का कहना है—

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यस्माद् धारण सयुक्त स धर्म इति निश्चय.॥

अर्थात्, धर्म शुद्ध 'धृ' धातु से बना है। धर्म से सब प्रजा बधी हुई है। समाज मे व्यवस्था करनेवाले सारे तत्त्व धर्म है। महर्षि कणाद ने कहा है—**"यतो अभ्युदयानि श्रेय ससिद्धिः सः धर्मा.।"** अर्थात्, धर्म एक ऐसी साधना-पद्धति है, जो लौकिक एव पारलौकिक समृद्धि तथा शाति का विधान करती है।

ये सभी परिभाषाए धर्म के विभिन्न पक्षो पर बल देती है। ध्यान देने पर उसके दो पक्ष प्रमुख दिखाई देते है—साधारण और विशेष। धर्म का विशेष स्वरूप देश-काल और व्यक्ति की सीमाओ से बधा हुआ रहता है। इसी कारण विभिन्न देशो के धर्मो मे अनेक प्रकार की विभिन्नताए दिखाई देती है, किन्तु धर्म का साधारण स्वरूप देश, काल और व्यक्ति की सीमाओ से परे रहता है। वह प्राय सभी धर्मो मे समान रूप से परिव्याप्त होता है। इसमे मानव-मात्र के नैतिक नियमो की प्रतिष्ठा रहती है। यही मानव-धर्म है। यद्यपि सभी धर्म-सस्थापक अपने धर्म मे इन दोनो पक्षो की प्रतिष्ठा करते रहे है तथापि ज्योही सस्थापक उठे, धर्म के ठेकेदारो ने उसके विशेष पक्ष पर बल दिया और उसे स्वार्थ-सिद्धि का साधन बनाकर विकृत बना दिया। किन्तु यह विकृत स्वरूप भी आगे अधिक समय तक चल नही पाता। उसकी प्रतिक्रिया होती है और फिर साधारण धर्म की प्रतिष्ठा होने लगती है। धर्मो का इतिहास वस्तुत इस क्रिया-प्रतिक्रिया का ही इतिहास है।

वेदो के व्रात्य इसी सहज पथ के प्रवर्तक माने जाते है। बौद्धो का सहजयान, बाउल सम्प्रदाय और सहज सम्प्रदाय आदि सभी मत और पथ धर्म के साधारण स्वरूप ही थे। इन सबके द्वारा साधारण धर्म की ही पुन प्रतिष्ठा की गई। सन्तो की धार्मिक विचार-धारा भी हिन्दू और इस्लाम के पाखण्डपूर्ण विकृत रूप की प्रतिक्रिया के रूप मे उदित हुई। यही कारण है कि सन्तो ने विधि-विधान-पूर्ण हिन्दू और मुस्लिम धर्म का विरोध करके सहज मानव-धर्म की प्रतिष्ठा की। इस सहज मानव-धर्म की व्याख्या करते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा था—"कबीर, दादू आदि के मत से साधना सहज होनी चाहिए। आज की वैज्ञानिक भाषा मे अगर कहना हो तो कह सकते है कि पृथ्वी जिस प्रकार अपने केन्द्र के चारो ओर घूमती हुई अपनी दैनिक गति सम्पन्न करती है और यही गति उसे सूर्य के चारो ओर बृहत्तर वार्षिक गति मे अग्रसर करती है, उसी प्रकार दैनिक जीवन इतना सहज और सरल होना चाहिए कि वह शाश्वत जीवन की ओर अग्रसर करे।" इस सहज मानव-धर्म ने ही उन्हे गृहस्थ के साथ-साथ सन्यासियो का शिरोमणि भी बना दिया था।

सन्तो का सारा जीवन अध्यात्म साधना मे बीता था। उनकी साधना का आधार था अनुभूति। वस्तुत अनुभूति के द्वारा ही आध्यात्मिक सत्य की उपलब्धि की जा सकती है। मुण्डकोपनिषद मे कहा गया है—**"न चक्षुसा गृह्यते नापि वाचा।"** अर्थात्, न चर्म चक्षुओ मे उसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, न वाणी से। तैतरीयोपनिषद् मे कहा गया है कि वह मन के लिए भी अप्राप्य है—**"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।"** सन्तो का सहज धर्म अध्यात्म के

रस मे डूबा हुआ था। उनके सारे प्रयोग अनुभूति के सहारे होते थे। इन प्रयोगो मे जो सत्य अनुभूत होता उसीको वे मान्य करते थे। इनमे उन्होने अधिकतर उन्हीको महत्व दिया, जिनका स्वरूप उन्हे सहज और सरल प्रतीत हुआ। नतीजा यह हुआ कि इन सरलतम सत्य खण्डो से ही उनका धर्म निर्मित हुआ।

इस सहजता का एक प्रभाव यह भी हुआ कि वे तर्को के इन्द्रजाल से मुक्त रहे। तर्क का सम्बन्ध भौतिक बुद्धि से होता है। अन्याश्रित होने के कारण भौतिक बुद्धि अभौतिक बुद्धितत्व का निरूपण नही कर सकती। कबीर ने अध्यात्म को कभी तर्क का विषय नही माना। उन्होने कहा था—**"कहै कबीर तरक दुई साधे तिनकी मति है मोटी।"** दादू ने भी कहा था—

भाई रे ऐसा पंथ हमारा
वाद-विवाद काहु सो नाही, मांहि जगत थे न्यारा।

उपनिषद्, वेदान्त, सूत्र, महाभारत सभी अध्यात्म मे तर्क की अप्रतिष्ठा की घोषणा करते है। कठोपनिषद् मे **"नेषा मतिः तर्केणापनीयौ"**, ब्रह्मसूत्र मे **"तर्का प्रतिष्ठानात्"** और महाभारत मे **"अचिन्त्या खलु मे भावा न तास्तर्केण साधयेत"** कहकर यही बात कही गई है।

सन्तो का यह अनुभूतिमूलक दर्शन अद्वैतवादी है। उन्हे अणु-अणु मे ब्रह्म के दर्शन होते थे। उन्होने अनुभव किया था—**"जामे हम, सोई हम ही मे, नीर मिले जल एक हुआ।"** तथा **"हम सब मांहि सकल हम माही, हम थे और दूसरा नाही।"** यही अद्वैत भावना उनमे सहज-सरल मानव-धर्म का आधार थी। इसीसे वे पूर्ण आस्तिक थे। उनकी आस्तिकता का आधार भी सहज तत्व ही है। वह तत्व न हिन्दुओ के ईश्वर से मिलता है, न मुसलमानो के अल्लाह से। योगियो के गोरख से भी उसकी समता नही की जा सकती।

सन्त दर्शन के क्षेत्र मे तर्क-विरोधी होते हुए भी जीवन मे बुद्धिवादिता के समर्थक थे। उनकी बुद्धिवादिता तर्क-मूलक नही, अनुभवगम्य थी। उन्होने वही कहा जो उनकी प्रत्यक्षानुभूति का परिणाम था। कबीर ने कहा था—"हे पण्डित, तू कागज मे लिखी हुई बात कहता है। मैं तो आख से देखी हुई बात कहता हू। फलत तू उलझाने की बात कहता है, मैं सुलझाने मे प्रयत्नशील हू।" सन्त सुन्दरदास ने प्रत्यक्ष ज्ञान को ही अनुभव कहा है। वे कहते है—**"अनुभव साक्षात् ज्ञान प्रलय की अगिनि सम।"** उनका विश्वास था कि अनुभव के बिना सत्य का परिज्ञान नही होता—**"अनुभव बिना नहि जान सके निरसंघ निरंतर नूर है जो।"**

अनुभव-ज्ञान मे दृढ आस्था होने के कारण सन्तो ने अन्धविश्वासो, मिथ्याचारो और आडम्बरो पर कस-कसकर प्रहार किये है। उस जमाने मे एक-दो नही, सभी इनके जाल मे फसे हुए थे। कबीर ने कहा था—**"एक न भूला, दोय न भूला, भूला सब संसार।"** वह इसी जाल-जजाल मे से सर्वसाधारण को निकालना चाहते थे। उनके सारे धार्मिक विश्वास सत्य पर आधारित थे। इसीलिए तो वे लोक और वेद का अन्धानुसरण पसन्द नही करते थे। उन्होने मिथ्याडम्बरो के प्रवर्तक पण्डित, मुल्ला और काजी की निन्दा ही नही की, उनके मिथ्याचारो का भी खण्डन किया। हिन्दू-धर्म का आधारभूत तत्व है वर्णाश्रम-धर्म। सन्तो ने उसपर भी तीव्र प्रहार किया।

हिन्दू-धर्म मे आचारो का बडा महत्व है। बहुत-से आचार्य तो आचार को ही धर्म का सच्चा स्वरूप मानते है। हिन्दू धर्म के प्रमुख आचार है—जप, तप, व्रत, माला, मुद्रा, यज्ञ, योग आदि। मूर्ति-पूजा भी इसके अन्तर्गत आती है। यह हिन्दू-धर्म का विशेष स्वरूप था। इसके चक्कर मे पडकर हिन्दू-धर्म विकृत होता जा रहा था। अत इस पर भी चोट करना आवश्यक था। सन्त सुन्दरदास ने इन सबका खण्डन करते हुए कहा .

जोग करे, यज्ञ करे तीरथउ व्रत करे,
पुण्य नाना विधि करे मन मे सिहात है।
और देवी देवता उपासना अनेक करे,
अरवन की होस करे अकडोडे न जात है।
सुन्दर कहत एक रवि के प्रकाश विन,
जेगने की जोपत कहा रजनी बिलात है।

सन्तो ने बडे विश्वास के साथ कहा था, **"तीरथ व्रत नेम किये ते सर्वै रसातल जाहि।"** भीखासाहब के अनुसार योग, यज्ञ, दान आदि के द्वारा राम को प्राप्त करने का प्रयत्न करना ऐसा ही है, जैसा बाझ का बेटा प्राप्त करने

के लिए प्रयत्न करना। इस्लाम के मिथ्याचारो की भी खबर लेते हुए कबीर ने कहा था

यह सब झूठी बन्दगी बिरिया पाच निमाज।
साचे मारे झूठि पढि काजी करे अकाज॥

सन्तो का मानव-धर्म आन्तरिक शुद्धता पर आधारित है। उनका दृढ विश्वास था कि मन की शुद्धता न केवल बिना पढे ही ज्ञान प्राप्त होता है, अपितु भगवान की प्राप्ति भी होती है। कबीर ने कहा था—"**हरि न मिले बिन हिरदे सूद।**" शुद्ध हृदय मे मन की पवित्रता और विचारो की सात्विकता आ ही जाती है। धर्म के प्रधान अग हैं नीति-शास्त्र और अध्यात्म। ये दोनो ही विचारो की पवित्रता पर बडा जोर देते है। जब विचारो की पवित्रता और सत्यता नष्ट हो जाती है तो धर्म विकृत हो जाता है। यह ठीक है कि धर्म की प्रतिष्ठा करनेवाले अथवा वेद-शास्त्र मिथ्या तत्व का प्रचार नही करते। यह सब तो धर्म का अन्धानुकरण करनेवाले ही करते है।

यदि कोई मानव-धर्म या विश्व-धर्म हो सकता है तो वही जो ऐसे नैतिक आचारो पर आधारित हो जिनसे मनुष्य की धारणा होती है और जो समाज की स्थिति का कारण हो। इन नैतिक आचरणो मे कुछ विधि रूप होते हैं, कुछ निषेध रूप। सन्तो ने इन दोनो स्वरूपो का निर्देश किया है। विधि रूप मे पाये जानेवाले नैतिक आचरणो मे सत्याचरण, सारग्राहिता, समदर्शिता, शील, क्षमा, दया, दान, धीरज, सन्तोष, परोपकार, अहिंसा आदि प्रमुख है। निषिद्ध आचरणो मे प्रमुख है—मद्य, मास, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, कपट, तृष्णा आदि। सन्त चरणदास ने घट के तीर्थ की कैसी सदाचार-मूलक व्याख्या की है

घट मे तीरथ क्यो न नहायो
इत उत डोलो पथिक बने ही,
भरमि भरमि क्यो जनम गवायो।
गोमती कर्म सुकारथ कीजिये,
अधरम मैल छुटाओ।
सील सरोवर हित करि न्हैये,
काम अगिनी की तपन बुझाओ।
रेवा सोई छिमा को जानो,
तामे गोता लीजै।
तन मे काम रहम नहि पावे,
ऐसी पूजा चित दे कीजै।
सत जमुना सन्तोष सरस्वती,
गंगा धीरज धारो।
झूठ कपट निर्लोभ होम करि,
सबही बोझा सिर सू डारो।
दया तीर्थ कर्मनाशा कहिये,
परसे बदला जावै।
चरनदास सुकदेव कहत हे,
चौरासी मे फिर नहि आवै।

सभी सन्तो के साहित्य मे इसी प्रकार के पद प्रचुर मात्रा मे मिल जाते हे। निश्चय ही सन्तो का धर्म सच्ची नैतिकता के ऊपर खडा हुआ है।

प्रत्येक धर्म का एक पक्ष 'रहनी' होता है। सन्तो के 'रहनी' स्वरूप मे मध्यमार्गानुसरण का ऊचा स्थान है। बौद्धो ने मध्य मार्ग के अनुसरण पर जोर दिया था। सन्तो को वह बुद्धिवादी प्रतीत हुआ। कबीर ने 'मधि को अग मे' इस सम्बन्ध मे बहुत-कुछ कहा है। उनकी एक उक्ति देखिये

कबीर मधि अग जे को रहे, तो तिरत न लागे बार।
दुई दुई अग को लागि करि, डूबत है ससार॥

मध्य मार्ग का अनुसरण करके वे हिन्दू-मुसलमानो मे एकता पैदा कर सके, इस्लाम और हिन्दू-धर्म की अच्छाइयो को ग्रहण कर सके।

सन्त महान क्रातिकारी होने के साथ-साथ सच्चे साम्यवादी भी थे। वे जीवन मे, समाज मे, धर्म मे, साधना मे सर्वत्र एक समरसता लाना चाहते थे। वे जीवन मे सुख-दुख, मानापमान, निन्दास्तुति को सम कर देना चाहते थे। वे जाति-भेद के ऊबड-खावड टीले को सम भूमि के रूप मे बदलना चाहते थे। वे साधना मे कथनी और करनी तथा धर्म मे अनुराग और विराग को समान महत्व देना चाहते थे। उनका सारा जीवन इन विषमताओ को मिटाने मे ही व्यतीत हुआ।

सन्तो के सहज धर्म का साधना-मार्ग भी 'सहज है। उसके प्राणभूत उपादान है सहज ज्ञान, सहज वैराग्य, सहज योग और सहज भक्ति। सहज ज्ञान और सहज वैराग्य उनकी

साधना के प्रारंभिक सोपान है। वैराग्य-शुद्धि का प्रयोग उन्होने प्रचलित अर्थ मे नही किया था। वे गेरुआ वस्त्र पहनकर जगल मे चले जाने को वैराग्य नही मानते थे। वैराग्य से उनका आशय था वासना-क्षय से। उन्होने कहा था—"वनहु वसे का कीजिये, मन नहि तजे विकार।"

उनके अनुसार मन का सयम ही सच्चा वैराग्य था। सहज वैराग्य की भाति सहज ज्ञान के उपर भी वे उतना ही वल देते थे। कवीर ने कहा था—"जहा ज्ञान तहा धर्म है।" वे कहते थे कि जिसने अपने जीवन मे ज्ञान का चिन्तन नही किया उसका जन्म व्यर्थ गया। प्रश्न यह हो सकता है कि ज्ञान है क्या ? कवीर ने लिखा है—"राजा राम मोरे ब्रह्म ज्ञान।" इस ज्ञान के प्रकाश से सारे भ्रम-जालो का अन्धकार विलीन हो जाता है। यद्यपि सन्तो की धर्म-साधना मे कर्म को कोई विशेष स्थान नही दिया गया है, तथापि वे उसके विरोधी नही थे। उन्होने 'रहनी' के साथ करनी को आवश्यक ठहराया था। उनकी करनी का रूप हठयोगियो का-सा नही था। साधना के प्रारभ मे उसका रूप चाहे जो रहा था, किन्तु उनका अन्तिम मान्य रूप सहज योग ही था।

सन्तो की सहज भक्ति की प्रमुख वातें है नाम-स्मरण, अजपा जाप और प्रपत्ति। सभी सन्तो को कीर्तन वडा प्रिय था। उनका विश्वास था कि भगवान का गुणगान और उसके नाम का स्मरण करने से कर्म-वन्धन कट जाते है। प्रपति का अर्थ है शरणागति। प्रपत्ति को हिन्दू साधना मे वडा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उधर इस्लाम शब्द का अर्थ ही है प्रपत्ति। सन्तो की रचनाओ मे भगवान की शरण मे जाने के अनेक उदाहरण भरे पडे है।

सारांश यह कि सन्तो के सहज धर्म का स्वरूप सव प्रकार से सरल, सात्विक, भावात्मक और वौद्धिक है। उसका अद्वैत दर्शन अनुभूति पर आधारित है और धार्मिक विश्वास वुद्धिवादिता पर। उनकी नैतिकता, सरलता, सात्विकता और मानव-धर्म से अनुप्राणित है और साधना मनोजय और प्रेम-भक्ति से। यही सन्तो का सहज धर्म है। यह मानव-धर्म या विश्व-धर्म नही तो और क्या है ?

●

सुख वाहर नहीं, अंदर है

एक नगर के लोग वडे दुखी थे। किसी के वच्चा नही था तो किसी के वहुत-से थे, किसी के पास काम नही था, तो कोई काम से पिस रहा था। मतलव यह कि किसी को कोई दुख था तो किसी को कोई, सारा नगर परेशान था।

अचानक एक दिन आकाशवाणी हुई कि लोग अपना-अपना दुख एक गठरी मे वाधकर ले जाय और शहर के वाहर अमुक जगह पर पटककर वहा से सुख वाध लावें।

लोग वडे खुश हुए। उन्होने अपने दुख की गठरी वाधी और उसे लेकर चल दिये। रास्ते मे देखते क्या है कि एक साधु वैठा खिलखिला कर हँस रहा है। लोगो ने कहा, "महाराज, आपको कोई दुख हो तो गठरी मे वाधकर ले चलो और फेककर सुख ले आओ।"

लेकिन साधु ने उनकी वात की ओर ध्यान नही दिया। उसी तरह हँसता रहा।

लोग दुख को फेंककर सुख को लेकर अपने-अपने घर लौट आये। शहर मे सुख का साम्राज्य छा गया।

लेकिन मुश्किल से दो दिन वीते होगे कि लोग फिर हैरानी अनुभव करने लगे। उनका पडोसी जितना सुखी है, वे उतने सुखी क्यो नही है ? उस के पास इतना ज्यादा पैसा क्यो है ? आदि-आदि वातो ने फिर दुख को वुला लिया।

पर उन्होंने देखा कि वह साधु उसी तरह मस्त था और उसी तरह हँसता खिलखिलाता था।

वे उसके पास गये और कहा, "महाराज, दुख हमारा पीछा नही छोडता। लेकिन आप इतने सुखी कैसे है ?"

साधु वोला, "वात यह है कि तुम लोग सुख वाहर खोजते हो, पर वह सुख तो अपने अन्दर है।"

उस दिन से लोगो के हाथ सुख की कुंजी आ गई।

कला, सौन्दर्य एवं सृजन

जे० कृष्णमूर्त्ति

हममे से अधिकाश व्यक्ति स्वय से पलायन करने का निरतर प्रयत्न कर रहे है और चूकि कला इसके लिए हमे प्रतिष्ठापूर्ण एव सुलभ उपकरण प्रदान करती है, अत अनेक व्यक्तियो के लिए कला असाधारण रूप से महत्वपूर्ण हो गई है । आत्म-विस्मरण की खोज मे कुछ व्यक्ति कला की ओर मुडते है तो कुछ शराब की ओर तथा कुछ काल्पनिक व रहस्यपूर्ण धार्मिक सिद्धान्तो की ओर मुड जाते हैं ।

जब हम जाने या अनजाने मे किसी भी वस्तु का उपयोग स्वत से पलायन के लिए करते हे तब हम आवश्यक रूप से उससे बध जाते है । अपनी मुसीबतो और अपनी चिन्ताओ से छुटकारा पाने के लिए जब हम किसी व्यक्ति, किसी कविता या किसी भी अन्य वस्तु के आश्रित हो जाते है तब भले ही हमे क्षणभर के लिए धन्यता महसूस हो, पर ऐसा कर हम और अधिक सघर्ष व और अधिक विरोध पैदा कर लेते है ।

जहा सघर्ष है वहा सृजन असम्भव है । अत वास्तविक शिक्षा का कार्य पलायन के उपकरणो की स्तुति करना नही अपितु व्यक्ति को जीवन की समस्याए समझने मे सहयोग करना है । सही शिक्षा व्यक्ति को सघर्ष समझने और उसे दूर करने मे योग देती है । ऐसी शिक्षा मे ही सृजन की सम्भावनाए निहित है ।

जीवन से छूटी हुई कला का कोई विशेष अर्थ नही है । जबतक कला हमारे दैनिक जीवन से अलग है, तबतक हमारे सहज स्वाभाविक जीवन मे और हमारे द्वारा निर्मित मूर्तियो, कविताओ या चित्रो मे फासला है तबतक कला हमारी केवल उन छिछली अभिलाषाओ को प्रकट करती रहेगी जो हम जीवन की कठोर वास्तविकताओ से बचने के लिए किया करते है । नि.सन्देह इस फासले को मिटाना अत्यन्त कठिन है और विशेषकर उन व्यक्तियों के लिए,जो बुद्धिमान हैं, विशेषज्ञ हैं, पर जीवन की समग्रता के लिए इसका समाप्त होना अनिवार्य है । तभी एक ऐसी कला के अकुर फूट सकेंगे जो जीवन से ओतप्रोत होगी ।

हमारा मन बडा विचित्र है । यह अनेक भ्रान्तियो को पैदा करने की क्षमता रखता है । अत इसे समझने के पहले ही यदि हम किसी प्रेरणा की खोज करेंगे तो ऐसा कर हम केवल अपने-आपको धोखा देंगे । प्रेरणा बुलाने से नही आती है, उसका आगमन तो तब होता है जब हम उसके प्रति खुले रहते हैं । किसी भी उत्तेजना के माध्यम मे प्रेरणा प्राप्त करने का अर्थ होगा गलत मान्यताओ को अपनाना ।

जबतक हम जीवन के अर्थ को नही समझते तबतक हमारी क्षमता एव प्रतिभा हमारे 'अहम्' के महत्व पर जोर देती रहेगी । हम अधिकाधिक खुदगर्ज एव अधिकाधिक पृथक बनकर स्वय को दूसरो से अलग व विशेष महत्वपूर्ण समझते रहेगे, जिससे समाज मे अनेक बुराइया और कभी न समाप्त होनेवाले सघर्ष और दुख पैदा होगे । हमारा यह 'अहम्' कितनी ही परस्पर विरोधी सत्ताओ की गठरी है । यह अनेक विसगत वासनाओ की रण-भूमि और 'यह मेरा है', 'यह मेरा नही है' के सतत सघर्ष का केन्द्र है और जबतक हम इस 'अहम्' को इस 'मैं' और 'मेरे' को भावना को विशेष महत्व देते रहेगे तबतक हमारा यह आन्तरिक और बाह्य सघर्ष बढता ही रहेगा ।

एक सच्चा कलाकार इस 'अहम्' के अभिमान एव इसकी महत्वाकाक्षाओ से परे होता है । स्वय को कुशलता से प्रकट कर सकने की क्षमता रखनेवाले प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति जब दुनिया के घिसेपिटे रास्तो पर चलने लग जाते है तब वह खुद अपने मे अगणित विरोध व सघर्ष पैदा कर लेते है । जब हमे स्तुति व चापलूसी प्रभावित करने लगती

है तब हमारा 'अहम्' विस्तार पाता है और हमारी ग्रहण-शीलता कुण्ठित हो जाती है। सफलता की पूजा, फिर चाहे वह किसी भी क्षेत्र मे क्यो न हो, निश्चित रूप से हमारी बोधक्षमता मे रुकावट डालनेवाली है।

हमारी कोई भी प्रवृत्ति या चतुराई, फिर चाहे वह कितनी ही प्रोत्साहित करनेवाली क्यो न हो, यदि हमे पृथक खडा कर देती है अथवा किसी भी रूप मे आत्म-प्रसिद्धि पैदा करती है तो वह निश्चित रूप से हमारी सवेदन-क्षमता को मन्द कर हमे सवेदन-शून्य बनानेवाली है। जब प्रतिभा व्यक्तिगत बन जाती है, जब 'मैं' और 'मेरे' को ऊचा स्थान दिया जाता है, जब कहा जाता है "यह मैंने चित्रित किया है", "यह मैंने लिखा है", "यह मैंने खोजा है" तब हमारी सवेदन-क्षमता अन्धी हो जाती है। जब हम वस्तुओ, व्यक्तियो और प्रकृति के साथ के अपने सम्बन्धो मे उत्पन्न होनेवाले अपने प्रत्येक विचार, प्रत्येक अनुभूति के प्रति क्षण-क्षण सजग रहते है, जब हमारा मन खुला हुआ है, ग्रहणशील है और आत्म-सुरक्षा की इच्छाओ व प्रयत्नो से बधा हुआ नही है तभी हममे सवेदन-क्षमता का आगमन होता है—एक ऐसी अहम्मुक्त सवेदन-क्षमता, जो सुन्दर व कुरूप दोनो के प्रति होती है।

इस सवेदन-शीलता का—सुन्दर व कुरूप दोनो के प्रति सवेदन-क्षमता का आगमन आसक्ति के माध्यम से नही हो सकता। इसका आगमन तो तब होता है, जब हममे प्रेम हो, स्वनिर्मित सघर्षो का अभाव हो। जब हम अन्दर से निर्धन होते है तभी हम स्वय को हर तरह के बाहरी दिखावे, धन-सामर्थ्य और अधिकारो मे उलझा लेते हैं। जब हमारे हृदय रीते होते है तभी हम वस्तुओ का सग्रह करते है। हम अपने अपने सामर्थ्य के अनुसार अपने इर्द-गिर्द अनेक सुन्दर वस्तुओ का सग्रह कर लेते है और उन्हे अत्यधिक महत्व देकर हम विश्व मे घना दु ख और विनाश फैलाने मे कारणीभूत बनते है।

सग्रह-वृत्ति का यह अर्थ नही कि सुन्दरता के प्रति हमारा प्रेम है। यह तो आत्म-सुरक्षा की इच्छा से उत्पन्न होती है और सुरक्षित होने का अर्थ है सवेदन-शून्य होना। यह सुरक्षित होने की इच्छा ही हमारे भय का कारण है। यही इच्छा हममे इस अलगाव की प्रक्रिया को जन्म देती है, जो हमारे चारो ओर सुरक्षा की दीवारे खडा करती है और ये ही वे दीवारे है जो हमारी सवेदन-क्षमता नष्ट कर देती है। किसी भी वस्तु के, चाहे वह कितनी ही सुन्दर क्यो न हो, ज्योही हम अभ्यस्त हो जाते है त्योही हमारे लिए उसका आकर्षण समाप्त हो जाता है। कुछ ही समय पूर्व जो वस्तु आनन्दप्रद थी वही अब नीरस व बोझिल लगने लगती है। सौन्दर्य तो अभी भी उसमे है पर हम ही उसके प्रति खुले नही है। हमारे वही-वही थका देनेवाले रोजमर्रा के जीवन मे यह सौन्दर्य विलीन हो जाता है।

चूकि हमारे हृदय सूख गये है और हम यह भूल ही गये है कि कैसे दयालु हुआ जाता है, किस प्रकार ये वृक्ष, यह आसमान, ये सितारे, यह पानी की सतह पर प्रति-बिम्बित होनेवाली परछाइया देखी जाती है। यही कारण है कि हम दिलबहलाव के लिए चित्र, जवाहरात, पुस्तके आदि के रूप मे सहस्रो उत्तेजनाए चाहते है। हम निरन्तर नई-नई उत्तेजनाओ और नये-नये रोमाचो की खोज मे लगे है। हम नई-नई सवेदनाओ के लिए तरसते है और ये सवे-दनाए कभी समाप्त नही होती। हमारी ये उत्तेजनाए और इनसे प्राप्त होनेवाली तृप्तिया हमारे हृदय और हमारे मन को थका देती है, सुस्त कर देती है। जहातक हम इनके पीछे भागते रहेगे वहातक हमारे लिए सुन्दरता और कुरूपता का अत्यन्त छिछला अर्थ होगा। हम चिरन्तन आनन्द की अनुभूति तो तभी कर सकेगे जब हम प्रत्येक वस्तु को क्षण-क्षण ताजगी के साथ देख सकने की क्षमता प्राप्त कर सकेगे और यह तबतक सम्भव नही है जबतक कि हम अपनी वासनाओ से बधे हुए है। इन उत्तेजनाओ और तृप्तियो के लिए हमारी आतुरता ही हमे क्षण-क्षण होनेवाली नूतन अनुभूति से वचित करती है। ये उत्तेज-नाए खरीदी जा सकती है पर यह प्रेम—सुन्दरता के प्रति प्रेम नही खरीदा जा सकता है।

जब हम अपने हृदय और मन के इस रीतेपन के प्रति सजग हो, किसी उत्तेजना या सवेदना के माध्यम से इससे पलायन न करे, इसके प्रति पूर्णतया खुले हो, अत्यन्त सवे-दनक्षम हो, केवल सभी सृजन सम्भव है तभी हम आनन्द की अनुभूति कर पाते है। अन्तर को पूर्णतया समझे बिना ही जब हम बाहरी सुधार करने मे लग जाते है तब हम

निश्चित रूप से ऐसे जीवन-मूल्यो की रचना कर बैठते है जो मानव को विनाश और पीडा की ओर उन्मुख करते है।

किसी कुशलता का सम्पादन कर भले ही हम कोई व्यवसाय प्राप्त कर ले, लेकिन ऐसा कर हम सृष्टा नही बन सकते। इसके विपरीत यदि हममे आनन्द है, सृजन की ज्वलन्त प्यास है तो यह निश्चित ही प्रकट होकर ही रहेगी, भले ही हमे इसके लिए आवश्यक तरीको का ज्ञान न भी हो। जब कोई सचमुच कविता लिखना चाहता है तो वह लिख ही लेता है। इसके विपरीत यदि कोई छन्द-शास्त्र का ज्ञाता है, लेकिन उसका हृदय यदि रिक्त है तो क्या वह कविता लिख सकेगा ? जब हमारा हृदय प्रेम से परिपूर्ण है तब हमे शब्द नही ढूढने पडते है वे तो अपने-आप ही फूट पडते है।

महान् कलाकार व महान् लेखक भले ही सृष्टा रहे हो पर हम तो सृष्टा नही है। हम तो दर्शक मात्र हे। हम अगणित पुस्तके पढते है, अलौकिक सगीत सुनते हे, भव्य कलाकृतिया देखते है, पर हम स्वयम् प्रत्यक्ष रूप मे उस दिव्यता की अनुभूति नही करते है। हमारी अनुभूति तो सदैव किसी-न-किसीके माध्यम से होती है, फिर वह माध्यम चाहे कोई कविता हो, चित्र हो अथवा किसी सन्त का व्यक्तित्व। सगीत की सृष्टि के लिए यह आवश्यक है कि हमारा हृदय सगीत से परिपूर्ण हो, पर चूकि हमने अपने हृदय का सगीत खो दिया है अत सगीतज्ञो का पीछा किये जा रहे है। माध्यम की अनुपस्थिति मे हमे खोया-खोया-सा लगता है। लेकिन सत्य की खोज के लिए हमे स्वयम् को खोना ही होगा। वह खोज ही सृजन की बुनियाद है और सृजन के अभाव मे हम आनन्द और शाति को उपलब्ध नही कर सकते, भले ही इसके लिए चाहे कितने ही प्रयत्न क्यो न कर ले।

हमारी धारणा है कि हम कोई तरीका या कोई शैली या कोई कला सीखकर सृजनात्मक आनन्द को प्राप्त कर लेगे। लेकिन हमारी आन्तरिक समृद्धि के अभाव मे यह आनन्दानुभूति असम्भव है और यह सम्पन्नता हम किसी भी माध्यम से नही प्राप्त कर सकते। यह तथाकथित आत्म-सुधार भी इस "मैं" और "मेरे" की सुरक्षा का साधन मात्र है। इससे न तो सृजन फलित होता है और न प्रेम-सौन्दर्य के प्रति फलित होता है प्रेम। जब हम मन की प्रत्येक क्रिया के प्रति, इसके द्वारा निर्मित की गई समस्त रुकावटो के प्रति क्षण-क्षण सजग रहते है तभी इस सृजनावस्था का आगमन होता है।

सृजन के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता का आगमन आत्म-ज्ञान के साथ ही होता है पर यह आत्म-ज्ञान कोई ईश्वरीय देन नही है। सृजन के लिए किसी विशेष प्रतिभा की आवश्यकता नही हे। यह तो एक ऐसी अवस्था है जहा न तो व्यक्तिगत सघर्ष है और न व्यक्तिगत दु ख और जहा मन अपनी इच्छाओ और प्रयत्नो की दौड से परे हे।

सृष्टा होने का केवल यह अर्थ नही कि हम कविताए रच ले या बच्चे पैदा कर ले या सम्मान प्राप्त कर ले। सृजनशील होने का अर्थ है एक ऐसी अवस्था मे रहना जहा सत्य के अकुर प्रस्फुटित होते हे। विचारो के विसर्जन के साथ ही सत्य का आगमन होता है और विचार तभी विसर्जित होते है जब हमारा यह 'अहम्', हमारी यह मन की दौड विलीन हो जाती है।

हमारा यह सुन्दरता के प्रति प्रेम किसी भी रूप मे अभिव्यक्त हो सकता है—किसी सगीत मे, किसी मुस्कान मे या किसी मौन मे। पर मुश्किल तो यह है कि हममे से अधिकाश व्यक्ति मौन रहना ही नही चाहते है। हम तो अपने सुख और अपने प्रयत्नो की दौड मे इतने व्यस्त है कि आसमान मे उडनेवाले पक्षियो और गुजरते हुए बादलो को देख भी नही पाते है। जब हमारे ही हृदय मे सौन्दर्य नही है तो हम युवको को किस प्रकार सौन्दर्य के प्रति सजग एव सवेदनक्षम होने मे सहायता दे सकेगे ? हम तो कुरूपता का तिरस्कार करते हुए सौन्दर्य के प्रति सवेदनशील बनने का प्रयत्न करते है, परन्तु यह हमारा कुरूपता के प्रति तिरस्कार ही हमे सवेदनशून्य बना देता है। यदि हम युवको मे यह सवेदन-क्षमता जागृत करना चाहते है तो हमे स्वयम् सवेदनक्षम होना होगा। हमे उस सुषुप्त आनन्द को जगाने का हर क्षण प्रयत्न करना होगा जिसकी अनुभूति केवल मानव-निर्मित सौन्दर्य के दर्शन से ही नही अपितु विराट् प्रकृति-दर्शन से भी होती है।[1]

अनु०—सुन्दरलाल बी. मल्हारा

---

१. प्रो० जे० कृष्णमूर्ति की 'एजुकेशन एण्ड दी सिगनीफिकेस ऑफ लाइफ' के आठवे अध्याय का हिन्दी-रूपान्तर।

प्रार्थना का महत्व और वैष्णव धर्म

लक्ष्मी देवदास गाधी

●

पादरी चार्ल्स एड्रूज साहब ने 'क्राइस्ट इन दी साइलेस' नामक अपनी पुस्तक मे लिखा है

"हम सबको प्रतिदिन उठते ही प्रभु का ध्यान करना चाहिए। थोडी देर मौन प्रार्थना करनी चाहिए। परमात्मा के साथ इस प्रकार का निकट सम्बन्ध नित्य अवश्य होना चाहिए। उसमे अडचने जरूर आयगी। उनको हटाना आसान भी नही होगा। फिर भी सुबह की प्रार्थना को एक नियम बना ले तो हमे दिनभर के कामकाज के लिए प्रेरणा मिलेगी। उसके बाद नित्य के कामकाज मे उत्साह के साथ, निश्चितता के साथ, लग सकते है।

"दिन के काम-धन्धो से निवृत्ति पाकर जब रात को सोने लगते है तब भी हमे कुछ आत्म-निरीक्षण करना होगा। यदि हमसे कुछ अपराध हो गया हो तो उसके लिए और कुछ कमजोरी आ गई हो तो उसके लिए भी परम-पिता से क्षमा-याचना करनी चाहिए।"

पादरी एड्रूजसाहब के ये वाक्य अनुसरण करने योग्य है। विनम्र प्रार्थना से हमारा उद्धार अवश्य होगा।

जैसे-जैसे हम ज्ञान की ओर आगे बढ रहे है, वैसे-वैसे हमारी श्रद्धा कम होती दिखाई दे रही है। यह दु ख की बात है। परमात्मा के प्रति श्रद्धा और वैज्ञानिक प्रगति परस्पर विरोधी क्यो बने ? मनुष्य-जाति के लिए प्रभु ने मस्तिष्क का एक बहुत ही उत्कृष्ट वरदान दिया है। बुद्धि-बल से हमने प्रभु के विश्वव्यापी चमत्कारो का कुछ-कुछ प्रकाश इधर-उधर पाया है। वैज्ञानिक प्रयोगो से जब-जब रहस्यो का उद्घाटन होता है, तब-तब उस महान सृष्टि-कर्ता के प्रति हमे श्रद्धाजलि अर्पित करनी चाहिए। यह न सोचने लग जाय कि हम ही सृष्टिकर्ता है।

परमपूज्य बापू आधुनिक युग के ही थे। पाश्चात्य शिक्षा उन्होने पाई थी। बापू प्रार्थना मे अटूट विश्वास रखते थे। हमेशा सुबह-शाम प्रार्थना करते थे। बीमार हो या स्वस्थ, प्रवास मे हो या घर पर या कारावास मे, अपनी प्रार्थना से वह कभी नही चूके। प्रार्थना से उन्हे कठिन-से-कठिन समस्याओ को हल करने की, अपने सिद्धातो को अमल मे लाने की अद्भुत शक्ति मिल जाती थी। बापूजी का बहुत प्रिय भजन सन्त नरसी मेहता का 'वैष्णव जन' था। उस भजन मे सन्त नरसी मेहता कहते है कि सच्चे वैष्णव के लक्षण होते है, दूसरे के दु ख से दुखी होकर उसकी सहायता करना, अपनी की हुई सहायता पर अभि-मान न करना, सबके साथ विनम्र बर्ताव, दूसरो की बुराई न करना, अपनेको स्थिर रखना, दूसरी स्त्रियो के साथ शुद्ध आचरण करना, चोरी और कपट-लोभ से मुक्त होकर ईश्वर की भक्ति करना।

यदि इन बातो का सचाई से पालन करे तो ईश्वर उसीको सच्ची प्रार्थना के रूप मे स्वीकार कर सकता है। किन्तु प्रार्थना और भक्ति के बिना सच्चा वैष्णव बनना कठिन है।

सन्त नरसी मेहता का वैष्णव केवल अपनेको परमार्थ की ओर नही ले जाता, बल्कि जिस दुनिया मे हम सब वास करते है, उसीको स्वर्ग बना देता है।

आज के द्वेष, हिंसा और दुराचार से भरे युग मे नरसी मेहता के वैष्णव सिद्धात की बहुत ही आवश्यकता है।

●

गौड़ीय वैष्णव धर्म और लौकिक व्यवहार

राधागोविन्द नाथ

कृष्ण, राम, नृसिंह, शिव, दुर्गा, परमात्मा, शास्त्रविहित निर्विशेष ब्रह्म प्रभृति विभिन्न उपासक सम्प्रदाय के उपास्य होते हैं। गौडीय वैष्णव शास्त्र के मत से इन सब उपास्यो के बीच स्वरूपगत कोई भी पृथकता नही है। ये सभी परतत्व वस्तु—स्वय भगवान के विभिन्न स्वरूप हैं। अतएव इनमे कोई भेद नही है। भेद मानने से अपराध होता है। परतत्व वस्तु एक ही विग्रह से विभिन्न स्वरूपो मे नित्य विराजमान है, विभिन्न साधको को कृतार्थ करने के निमित्त। साकार जो हैं, निराकार भी वे ही हैं, जो सविशेष हैं, निर्विशेष भी वे ही हैं। अतएव सभी स्वरूप सच्चिदानन्द हैं, सभी स्वरुप नित्य है, सभी स्वरूपो मे परमार्थिक नित्यता है।

सब नही तो समाज के अधिकाश लोग भी इसका अनुसरण कर सके तो यह वाद-विसम्वादमय ससार शान्तिमय बन सकता है। सब वाद-विसम्वाद एव अशान्तिमय सघर्षो का मूल हेतु है अभिमान। **'जीवे सम्मान दिबे जानि कृष्णेर अधिष्ठान', 'सर्वोत्तम आपना के हेय करि माने', 'अमानि किन्तु मानद हइबे', 'प्राणिमात्रे मनोवाक्ये उद्वेग ना दिबे।'** अर्थात् श्रीकृष्ण का अधिष्ठान मानकर जीव मात्र को सम्मान दो, सर्वश्रेष्ठ होकर भी अपनेको तुच्छ मानो, स्वय अमानी और दूसरे को मान देनेवाले बनो, प्राणिमात्र को वचन से, मन से भी उद्वेग न पहुचाओ इत्यादि। ऐसी शिक्षा जहा हो, वहा किसी भी प्रकार का अभिमान नही रह सकता।

कई लोग ऐसा मानते है कि वैष्णव सम्प्रदाय के उल्लिखित उपदेश लोगो मे क्लिवत्व (नपुसकता) ला देते है और मनुष्यता के विकास मे प्रतिबन्धक है। जो ऐसा कहते हैं, प्रतीत होता है, वे एक मात्र शारीरिक सामर्थ्य को मनुष्यता की सच्ची भित्ति समझते है। किन्तु निरपेक्ष भाव से विचार करने पर वे भी—अपने मन का गुरुत्व कितना है—इस बात को समझ जायगे, ऐसा लगता है। शारीरिक सामर्थ्य का प्रयोग मनुष्य की विशेपता नही है, पशुओ मे भी वह देखने मे आती है, प्रतिपक्षी को पराजित करने के लिए पशुगण भी अपने शारीरिक सामर्थ्य का प्रकाश करते है। उनमे और किसी प्रकार की सामर्थ्य नही है इसलिए शारीरिक सामर्थ्य को पशु-शक्ति भी कहा जाता है। मनुप्य की विशेषता होती है पारमार्थिक एव नैतिक सामर्थ्य। यह और किसी जीव मे दृष्टिगोचर नही होती। पारमार्थिक एव नैतिक सामर्थ्य का प्रभाव पशु-शक्ति की अपेक्षा बहुत अधिक है। शारीरिक सामर्थ्य से अर्थात् पशु-शक्ति से दूसरे के देह को नियन्त्रण मे रखा जा सकता है, लेकिन चित्त को वशीभूत नही किया जा सकता। पारमार्थिक एव नैतिक सामर्थ्य से ही देह, मन—दोनो को सब प्रकार से वश मे किया जा सकता है। श्री चैतन्य भागवत से जाना जाता है कि जब मुलुकपति के आदेश से उसके अनुचर ठाकुर हरिदास के प्रति निर्मम अत्याचार कर रहे थे, तब ठाकुर हरिदास ने अपने शारीरिक सामर्थ्य से उनके काम मे बाधा देने की चेष्टा नही की। उन्होने केवल भगवान के निकट प्रार्थना की थी कि मुलुकपति या उसके अनुचर लोगो का किसीका अमगल न हो। इसके फलस्वरूप उनके मन का परिवर्तन हो गया। मुलुकपति भी हरिदास के प्रति आन्तरिक श्रद्धा प्रदर्शन करने लगे। अत्याचारीगण महात्मा यीशु को क्रुशविद्ध कर रहे थे, तब उन्होने उनके लिए केवल भगवान से क्षमा प्रार्थना की थी। उसका फल क्या निकला, वह सबको पता ही है। वास्तविक विजय महात्मा यीशु की ही हुई। इन दो महात्माओ की जो बात यहा सुनाई गई, उसमे उनका आचरण क्या क्लैव्य सूचक है। अथवा मनुष्यत्व विरोधी है? मनुष्य की विशेषता जब पारमार्थिक एव नैतिक सामर्थ्य है, तब जो कुछ

भी ऐसी सामर्थ्य के विकास के अनुकूल होगा वही होगा मनुष्यत्व विकास का एव सच्ची शक्ति-विकास का सहायक। पशुशक्ति उसके अनुकूल नही हो सकती।

लौकिक व्यवहार की उल्लिखित नीति केवल गौडीय सम्प्रदाय की ही सम्पत्ति हो, यह मानना भी सगत नही होगा। सभी सत्यदर्शी इस प्रकार का उपदेश दे गये हैं। महात्मा यीशु ने भी कहा है—"दूसरे से अपने प्रति जैसा व्यवहार तुम चाहो, वैसा ही व्यवहार तुम दूसरे के प्रति करो। तुम्हारे एक गाल पर कोई थप्पड लगावे तो तो तुम दूसरा गाल भी उसके सामने कर देना।" ये सब कर्तव्य के लक्षण नही है, पारमार्थिक एव नैतिक शक्ति के एव सच्ची मनुष्यता के ही परिचायक है।

आचरण के लिए एक मात्र भित्ति होती है ईश्वर मे विश्वास। जहा इस विश्वास का अभाव होगा, वहा उल्लिखित आचरण असम्भव कहा जाय तो भी अत्युक्ति नही होगी। कही-कही पर वैसा बाह्य आचरण दीख पडने पर भी मन के भावो के साथ उसकी सगति नही रह सकती, क्योकि अन्य के प्रति असगत आचरण का हेतु आचरणकारी का किसी-न-किसी रूप मे अभिमान ही होता है। सब प्रकार के अभिमान मे माया का प्रभाव ही हेतु होता है। जीव अपनी चेष्टा से माया को दूर नही हटा सकता, भगवान के आनुगत्य स्वीकार करने पर ही माया और माया के प्रभाव से निवृत्ति मिल सकती है। यह बात श्रीकृष्ण ने भी गीता मे कही है—

अशान्ति एव उपद्रव की सृष्टि ही होगी, शान्ति नही मिल सकती।

महात्मा यीशु ने कहा है कि उनके उपदेश पर आचरण करने से लोग इस पृथ्वी पर ही भगवान का राजत्व देख पायेंगे। भगवान को बाद देकर भगवान के राजत्व की बात उन्होने नही कही, वह हो भी नही सकती।

आजकल कई लोग महात्मा गाधी की नीति का अनुसरण करने की बात कहते है। उनके द्वारा प्रदर्शित नीति महिमामयी है, इसमे सदेह नही। पूर्वोलिखित नीति का ही उन्होने प्रचार किया है, किन्तु उनकी आचरित एव प्रचारित नीति की मूल भित्ति तो ईश्वर मे विश्वास है। वह बात लोगो ने जन-सामान्य मे प्रचारित नही की। भगवान मे महात्माजी का सुदृढ विश्वास था। वह अविचल भाव से भगवद्‌भजन किया करते थे। भगवान मे दृढ विश्वास की प्रयोजनीयता की बात साधारण लोगो को बताने के उद्देश्य से वह प्रार्थना-सभा का अनुष्ठान किया करते थे।

वास्तव मे जहा भगवान के विश्वास का अभाव है, वही उद्वेग, अशान्ति है, वही परायेपन, पराये राज्य की लालसा रहती है, वही परस्पर के प्रति अविश्वास है, सच्चे बधुओ का अभाव है, वही युद्ध-विग्रह की आशका है।

जडवाद के प्रभाव से आजकल ईश्वर-विमुखता का ही सब जगह बाहुल्य देखने मे आता है, यहातक कि राष्ट्र-

की श्रेष्ठ ओषधि नही हो सकती। इस 'शील' के अणुसृत होने से युद्धविग्रह की आशका दूर हो सकती है, यह ठीक है, किन्तु युद्ध-विग्रह की भित्ति की जो मनोवृत्ति है, वह दूर हो जायगी, इसमे सन्देह है। युद्ध छिड जाने से हमारी विजय होगी या नही, इस प्रकार का सशय जहा हो, वहा भी यह हो सकता है कि बाहर से 'शील' की महिमा स्वीकार करके युद्ध से विरति दिखाई दे, किन्तु अपनी विजय के लिए सब सन्देह जाता रहेगा, तब फिर युद्ध छेडा जा सकता है। यदि ईश्वर मे विश्वास उत्पन्न हो जाय, तो ही 'स्नायु-युद्ध' की या 'शीतयुद्ध' की आशका भी दूर होनी सभव है।[1]

[1] श्री राधागोविन्दनाथ के 'गौडीय वैष्णव दर्शन' नामक बगला ग्रन्थ के पहले खण्ड की भूमिका के एक अश से अनूदित

बाह्य और आंतरिक शुद्धि

आचार्य तुलसी

वास्तव मे वे ही शुद्ध हो सकते है और शुद्ध कर सकते है, जिनका स्वय का जीवन उठा हो। किसी पानी मे स्नान करने से ही आत्मा उज्ज्वल नही हो सकती। व्यक्ति आत्म-रमण करे, त्याग और सयमरूपी जल से स्नान करे तभी आत्मा उज्ज्वल होती है। जल से ऊपरी शुद्धि हो सकती है, आन्तरिक नही। मुझे श्रीकृष्ण की एक युक्ति याद आती है। महाभारत की एक घटना है। गोत्र का नाश करनेवाले पाण्डवो ने सोचा—हमने बहुत पाप किया है, अब तीर्थ कर आये। पापो को धो आये। वे श्रीकृष्ण के पास आये। उनके सामने अपने विचार प्रकट किये। श्रीकृष्ण ने कहा, "ठीक है, मेरी एक तूम्बी ले जाओ, उसे भी स्नान करा लाना।" पाण्डव जहा एक बार स्नान करते, तूम्बी को वहा तीन बार नहलाते।

वे वापस लोटे। श्रीकृष्ण के पास आये। श्रीकृष्ण ने पूछा, "स्नान कर आये?"

उत्तर मिला, "जीहा।"

"मेरी तूम्बी?" श्रीकृष्ण ने पूछा।

पाण्डवो ने तूम्बी उन्हे दे दी। श्रीकृष्ण ने उसे उनके सामने काटा, पीसा और सबको थोडी-थोडी दी। पाण्डवो ने कहा, "क्यो मुख खारा करवाते हो?"

श्रीकृष्ण ने कहा, "मुख खारा थोडे ही होगा।"

पाण्डवो ने ज्योही तूम्बी मुह मे डाली, स्वभावत खारापन अनुभूत हुआ। उन्होने श्रीकृष्ण से कहा। श्रीकृष्ण बोले, "वाह! तूम्बी तीर्थ कर आई है न? फिर कैसे खारी है? क्या तुमने स्नान नही कराया?"

पाण्डवो ने कहा, "इसके अन्दर का खारापन कैसे जायगा?"

श्रीकृष्ण ने कहा, "तीर्थ-स्नान तो कर आये, पर भीतर के पाप कैसे मिटेंगे?"

पाण्डवो की समझ मे सब बाते आ गईं। उन्होने कहा, "पहले ही तो कहना था, ताकि हम नही जाते।"

श्रीकृष्ण ने कहा, "यह उस समय सम्भव नही था।"

"तो अब क्या करना चाहिए?" पाण्डु-पुत्रो ने पूछा।

श्रीकृष्ण ने कहा, "सयम, तप, इन्द्रिय-दमन। जिस प्रकार ऊपर से रगडने से मैल साफ हो जाता है, उसी तरह ये अन्दर के कालुष्य को साफ कर देते है।"

सदाचार और सयम की ओर बढो। सत्य और अहिंसा को अपनाओ। चोरी मत करो। आत्म-रमण करो। किसीको गाली मत दो, किसीके साथ क्रूर व्यवहार मत करो, सबको आत्म-तुल्य समझो। जीवन मे आई इन बुराइयो को मिटा दो। जीवन की दिशा बदल दो। उसे एक नये साचे मे ढाल दो।

बंगाल के वैष्णव साहित्य में एकपत्नीव्रत

मन्मथनाथ गुप्त

•

बंगाल का सन्त और भक्ति-साहित्य हिन्दी की ही तरह ऐश्वर्यशाली है और उसके पीछे वही विचारधारा तथा उसमे वही विविधता दृष्टिगोचर होती है, जो हिन्दी मे है। वह वही उद्देश्य भी सिद्ध करता है यानी आम जनता तक साहित्य, सौन्दर्य, सेक्स, समाज पर विचार पहुंचाना तथा उसमे एक प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करना, ताकि किसी विशेष स्थिति मे एक ही प्रतिक्रिया उत्पन्न हो। इस प्रकार इस साहित्य ने न केवल भाषा-निर्माण किया, बल्कि एकता का निर्माण किया, जो धीरे-धीरे राष्ट्रीयता की सामग्री बन गया। अवश्य यह सारा कार्य हो एक धर्म माननेवाले लोगो तक ही सीमित रहा।

एकपत्नीव्रत का आदर्श भारत मे अब सर्वमान्य हो चुका है। ऐसा निश्चित रूप से पाश्चात्य समाज-चिन्तन के कारण हुआ है, फिर भी कानूनी रूप से भारत मे यह विचार मुसलमानो पर लागू नही किया जा रहा है। शायद है। हमारी भारतीय भाषाओ मे बाइगैमी ऐसा कोई शब्द नही था, न किसीको बाइगैमिस्ट कहने से वह चौक पड़ता था। अवश्य ही स्त्रियो के लिए एक से अधिक पति करने की प्रथा को, सिवा कुछ लोगो के जैसे जौनसार-बावर के, जहा वह सामाजिक-आर्थिक कारणो से चुपके-चुपके प्रचलित थी, साहित्य और समाज मे कोई मान्यता प्राप्त नही थी।

बंगाल के मध्ययुगीन धार्मिक साहित्य मे दो अवतारो के इर्द-गिर्द सारी रचनाए प्रस्तुत की गई हैं। एक कृष्ण, जिन्हे पूर्ण अवतार माना गया है और एक राम। इस संबध मे एक बात और बता दी जाय कि पहले वैष्णव धर्म मे सीधे-सीधे विष्णु की पूजा होती थी और उसका उद्देश्य मुक्ति माना गया था, बाद को कृष्ण की पूजा होने लगी और उसका उद्देश्य भक्ति माना गया, ऐसा डाक्टर सुकुमार सेन का विचार है।

अवहट्ट और प्राचीन वगला के जरिये से आये है। पर राम-उपासना के तत्सम नाम सीधे-सीधे सस्कृत से आये है।

पहले कृष्ण की पूजा आई और बाद को राम की पूजा आई, अत पहले कृष्ण-साहित्य और उसके वाद राम का साहित्य आया। इससे कई अन्य निष्कर्ष निकलते है, उनमे एक निष्कर्ष यह है कि पहले किसी भी प्रकार यानी किसी रूप मे भी एकपत्नीव्रत का कोई प्रश्न नही था। अब हम थोडे मे यह दिखलायेगे कि प्राचीन वगला के वैष्णव साहित्य मे कृष्ण का रूप किस प्रकार आया है और राम का रूप विल्कुल दूसरे रूप मे आया है। कृष्ण उस समय के समाज के अधिक निकट मालूम होते है और उसमे एकपत्नीव्रत का कोई प्रश्न ही नही उठता, बल्कि कृष्ण का जो रूप तरह-तरह से साहित्य के जरिये सामने आया है, वह यो कहना चाहिए कि एक भ्रमर-वृत्तिवाले साधारण पुरुष का रूप है।

श्रीकृष्णकीर्तन बगला की काफी प्राचीन कृति मानी जाती है और यह विद्यापति से कुछ प्राचीन ही है। यहा यह वता दिया जाय कि विद्यापति को वगाली लोग अपना आदि कवि मानते है, पर वह असल मे मैथिल के कवि है, पर उनकी कुछ मैथिल रचनाओ का इस तरह वगीकरण किया गया है कि उनके सम्बन्ध मे यह पता ही नही लगता कि वे मैथिल की रचनाए थी। जो कुछ भी हो, कृष्ण-कीर्तन मे कृष्ण का जो रूप है उसका हम थोडा-सा वर्णन पाठको के सामने रख देते है। इस काव्य, बल्कि गीत-सग्रह मे कृष्ण के जन्म की वह कहानी है जो सर्वत्र प्रचलित है यानी कस को यह पता लगा कि देवकी के गर्भ मे से उस व्यक्ति का जन्म होगा, जो कस का विनाश करेगा। उसने देवकी के सारे वच्चो को मार डाला, पर कृष्ण बच गये और वह वढकर जवान हो गये। हमे यहा कृष्ण के कस वध के सम्वन्ध मे कुछ नही कहना है और सच बात तो यह है कि कृष्णकीर्तन मे उसको विशेष महत्व भी नही दिया गया है। कथा यो है

राधा की शादी आइह्ल नाम नपुसक के साथ हुई थी। राधा की रक्षा के लिए एक बुढिया वडाई नियुक्त हुई थी। राधा जब-तब बडाई के साथ मथुरा मे जाकर दही-दूध वेचा करती थी। किसी कारण से एक दिन राधा पीछे रह गई और वडाई दूसरे रास्ते से राधा को खोजती-खोजती कृष्ण का दर्शन पा गई। कृष्ण गाय चरा रहे थे। वडाई ने पूछा कि क्या तुमने राधा को देखा है ? राधा खो गई है। तब कृष्ण ने पूछा कि राधा कौन है तो वडाई ने उसके रूप का विल्कुल शास्त्रीय वर्णन किया। वडाई के मुह से राधा के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर कृष्ण राधा के प्रेम मे पड गये और वह वडाई से वोले कि मेरे साथ राधा का मिलन करा दो। वडाई इसपर राजी हो गई और वोली, "मुझे कुछ फूल और पान दे दो, मैं तुम्हारा सन्देश ले जाऊगी। इसपर कृष्ण ने वडाई के हाथ मे कपूर से सुगन्धित पान और चम्पा नागेश्वर आदि फूलो की माला दी और साथ ही अपना प्रेम-सन्देश भेज दिया। वडाई ने जाकर वह प्रेम-सन्देश दे दिया, पर राधा इसपर राजी नही हुई और कहती रही कि यह उचित नही है, यह गलत वात है।

बाद को कृष्ण और राधा की भेंट हुई तो कृष्ण ने, जैसाकि श्री सुकुमार सेन ने दिखलाया है, राधा से यह कह दिया कि इसमे कोई सन्देह नही कि तुम पराई स्त्री हो, पर प्रेम होनेपर पर-स्त्री-गमन मे कोई दोप नही है। इसपर भी राधा ने कृष्ण की वात नही मानी। सारे गीतो मे इसी प्रकार यह दिखलाया है कि राधा कृष्ण से प्रेम से इन्कार कर रही है और कृष्ण उसके पीछे पडे हुए है। वडाई बराबर कृष्ण का पक्ष ले रही है और वह कोई मौका ऐसा बना देती है जबकि कृष्ण की भेट राधा से हो जाती है। राधा एक वार वन मे गई, पर कृष्ण ने जाकर आगे से रास्ता रोक लिया। उस समय बडाई उसके साथ थी, पर वह चली गई। कृष्ण ने राधा की आखे पोछकर उससे प्रेम-निवेदन किया। फिर दोनो मे वातचीत हुई। कृष्ण ने प्रेम-निवेदन किया और राधा ने उसका घोर विरोध किया। अन्त मे कवि ने यह दिखलाया है कि थकी-मादी राधा ने यह समझकर कि दैव को यही मजूर है, और अनिच्छा के साथ कृष्ण को आत्म-समर्पण कर दिया। इसीको कृष्ण-कीर्तन का तृतीय खण्ड, यानी दानखण्ड कहा गया है।

इसके वाद राधा फिर हाथ नही आई। तब वडाई ने ऐसा प्रबन्ध किया कि नाव से नदी पार करना पडे। एक-एक करके स्त्रियो को पार किया जाता था क्योकि नाव छोटी थी। एक-एक करके दूसरी सखिया पार हो गईं, जब

अत मे राधा की बारी आई तो राधा ने पहचान लिया कि यह नाव खेनेवाले और कोई नही कृष्ण ही है। दोनो मे इसपर बडा तर्क-वितर्क हुआ। कृष्ण ने कहा कि अब पार होना कठिन दिखाई पड रहा है। फिर भी दोनो नाव पर चढ गये। कृष्ण ने चालाकी से नाव को इस तरह हिलाना शुरू किया कि राधा डर जाय। तब कृष्ण ने कहा कि बेचने के लिए जो माल ले जा रही हो, वह सब नदी मे डाल दो, तभी नदी पार हो सकती है। तब राधा ने सारी चीजे नदी मे डाल दी। कृष्ण ने तब भी नाव को हिलाना जारी रखा। तब राधा को भय लगा और वह कृष्ण से लिपट गई। इस बीच कृष्ण ने कुछ ऐसा तमाशा किया कि वह नाव डूब गई। कृष्ण अच्छी तरह तैरना जानते थे। उन्होने राधा को बचा लिया और दोनो तैरकर पार उतर गये। तव यह प्रश्न आया कि सब माल तो डूब गया, अब घर जाकर क्या कहेगी। इसपर दूसरी सखियो ने अपना माल दे दिया। इस प्रकार से वह किसी तरह घर पहुची। हम इस कहानी को यही छोड देगे। यदि आधुनिक नीति की दृष्टि से देखा जाय तो कृष्ण-कीर्तन का कृष्ण एक साधारण आवारा ही दिखाई पडता है, कम-से-कम जहा तक राधा के साथ उनके सम्पर्क का प्रश्न है। मै यहा पाठको को याद दिलाऊ कि मूल कृष्णकथा मे राधा नही थी। यह लगभग आठवी सदी मे आ गई।

बाद को कृष्ण-कीर्तन मे यहातक दिखलाया गया है कि कृष्ण यह कहते है कि मै सिर्फ तुम्हे ही सन्तुष्ट नही करूगा, बल्कि तुम्हारी गोपियो को भी सन्तुष्ट करूगा। इसके बाद एक साथ बहुत-से रूप धरकर तमाम गोपियो को सन्तुष्ट करते है।

कुछ भी हो, कृष्णकीर्तन मे कृष्ण और राधा का जो सम्पर्क और रूप दिखलाया गया है, उसमे एकपत्नीव्रत का तो कोई प्रश्न ही नही उठता। वह बिल्कुल एक दूसरा ही रूप है। लगता है, कृष्ण के इस रूप को प्राचीन काल से लोग पसन्द करते थे और यह साहित्य बहुत ही जन-प्रिय था।

अब हम कृत्तिवास पर आते है, जो बगला रामायण के लेखक है। उनका जन्म १३४६ ईस्वी की फरवरी मे हुआ था। यह कहा जाता है उनके पूर्वपुरुष कन्नौज से आये थे। जो हो, कृत्तिवास के पूर्वपुरुष पहले इधर-उधर भटकते रहे और अन्त मे चलकर वह २४ परगने के फुलिया गाव मे बस गये। कृत्तिवास विद्या-प्रेमी थे और सस्कृत काव्य और व्याकरण मे पाण्डित्य प्राप्त करने के बाद वह गौड राजा से मिलने गये। वहा उनका आदर-सत्कार हुआ और राजा ने सबकुछ सुनकर कहा कि तुम विद्वान हो, कवि हो, तो तुम सप्तकाड रामायण लिखो और उन्होने ऐसा करना स्वीकार किया।

यह बता दिया जाय कि कृत्तिवास की रामायण का बगला मे वही स्थान है जो हिन्दी-क्षेत्र मे तुलसी की रामायण का है। हा, एक बात यह है कि कृत्तिवास ने मूल रूप से रामायण जिस प्रकार लिखी होगी, अब वह रामायण उस रूप मे प्राप्त नही है, बल्कि बराबर उसमे परिवर्तन होता गया है। लिखित प्रति पर ज्यादा जोर न देकर कथावाचको की जबान पर चढ जाने के कारण उसमे बराबर भापाई और अन्य परिवर्तन होते रहे। दिनेश सेन ने यह बहुत सुन्दर बात कही है कि कृत्तिवास की रामायण करीब-करीब उस युग की रचना है, जिस युग मे अग्रेज कवि चासर ने कैन्टरबरी टेल्स लिखा था। पर जहा शेषोक्त पुस्तक पुस्तकालय की अलमारियो मे बन्द पडी रहती है वहा कृत्तिवास की रामायण घर-घर मे नित्य-पाठ्य साहित्य बनी हुई है। यह तो ऐसी बात हुई कि जब एक घटना हो गई, तो उसका रूसी रूप लेने की बात है। जो कुछ भी हो, कृत्तिवास के कारण राम की उपासना बगाल मे प्रचलित हुई और कृत्तिवास की सफलता के कारण बहुत-से दूसरे कवियो ने रामायण लिखने का बीडा उठा लिया।

राम के चरित्र मे एक विशेष बात यह है कि वह सीता तक ही अपनेको सीमित रखते है, यहातक कि जब वह सीता को कई कारणो से तिलाजलि दे देते है, तब भी वह किसी दूसरी स्त्री से शादी नही करते, जो उस युग को देखते हुए और आज के आदर्श की कसौटी पर एक बहुत बडी उपलब्धि है।

हम केवल उस अश को थोडे मे उद्धृत कर रहे है जहा राम सीताहरण हो जाने के बाद सुग्रीव को गद्दी पर बैठा चुके है और वह किष्किन्धा मे मौजूद है। वहा उस

समय की परिस्थिति का वर्णन करते हुए कृत्तिवास लिखते है कि सुग्रीव राजभोग मे मस्त पडा है, पर रामचन्द्र बिना किसी भोग के शोक मे व्याकुल तडप रहे है। सुग्रीव ने सब तरह के राजोचित अलकार धारणा कर रखे है और राम ने जटा धारण कर ली है और वल्कल पहने हुए है। सुग्रीव अपूर्व यानी आश्चर्यजनक पलग पर लेटा हुआ है, राम धूल मे शोक मे चैतन्यशून्य होकर लेटे हुए है। सुग्रीव परम सुन्दरियो को लेकर विलास मे मग्न है और राम सीता का स्मरण करते हुए बराबर गहरी सास लेते है। लक्ष्मण ने कहा—प्रभु, मन स्थिर करो, आप भला शरीर को ठीक नही रखेगे, तो दुष्ट राक्षसो पर विजय कैसे पायगे ?

इस प्रकार सारी रामायण मे राम का जो रूप है, वह कृष्ण के मुकाबले बिल्कुल दूसरा ही है और वह एकपत्नीव्रत का हे। लक्ष्मण के सम्बन्ध मे भी यही कहा जा सकता है। राम का यह एकपत्नीव्रत, जैसाकि मैने पहले ही कहा, उस युग को देखते हुए बहुत बडी उपलब्धि थी। जो कुछ भी हो, इसपर यह मिथ्या प्रचार नही किया जा सकता कि उस जमाने मे एकपत्नीव्रत का आदर्श सर्वमान्य था और किसी प्रकार से स्वीकृत हुआ था। हिन्दुओ या मुसलमानो मे कभी एकपत्नीव्रत का आदर्श स्वीकृत नही था। यूरोप के मुकाबले मे यह भी एक हीनता थी जिसे स्वतन्त्र भारत ने दूर किया, पर मुसलमानो को अभी उसी गन्दी हवा मे रखा गया है।

अवश्य इतना कहा जा सकता है कि मनुष्य मे दोनो तरह की वृत्तिया है। एक है गृहस्थ की वृत्ति और एक उससे हटकर दूसरी वृत्ति। इन्ही दोनो वृत्तियो के प्रतीक के रूप मे राम और कृष्ण के चरित्र साधारण बगला-भक्ति साहित्य के पाठको, बल्कि श्रोताओ मे प्रचलित रहे तो इसमे कोई आश्चर्य नही है। फिर हम एक बार यह बता दे कि प्राचीन आलोचको या धर्म-प्रतिपादको ने किसीने यह कहने का साहस नही किया कि राम एकपत्नीव्रत रहे, इसलिए वह कृष्ण से किसी प्रकार उच्च चरित्र के व्यक्ति रहे, बल्कि इसके विपरीत राम को आशिक अवतार ही माना गया। यह क्यो हुआ और कैसे हुआ इन तथ्यो की गहराई मे जाने का यह अवसर नही है। हमने तो केवल जैसी स्थिति है, उसीको सामने रख दिया। उससे जो उपसहार निकलते है, वे स्वय बोलते है।

●

मन का मैल तो विचारसे, ईश्वर के ध्यान से और आखिर ईश्वरी प्रसाद से ही छूटता है। विकारयुक्त मन विकारयुक्त आहार की खोज मे रहता है। विकारी मन अनेक प्रकार के स्वादो और भोगो की तलाश मे रहता है और बाद मे उन आहारो तथा भोगो का प्रभाव मन पर पडता है।

—मो० क० गांधी

श्रीरामानुजाचार्य द्वारा प्रदर्शित वैष्णव जन-संस्कार

र० शौरिराजन

●

तुलसीदास ने विष्णु-भक्त का परिचय देते हुए कहा है .

> काम क्रोध मद मान न मोहा ।
> लोभ न क्षोभ न राग न द्रोहा ।।
> जिन्हके कपट दम्भ नहिं माया ।
> तिन्हके हृदय बसहु रघुराया ।।

रामसदन का यह अश पूज्य बापूजी को बहुत प्रिय था । उन्होने अपने जीवन को पूर्वोक्त वैष्णव जन जीवन बना लेने का प्रयत्न किया । इस साधना मे वह सफल हुए, इसीलिए 'महात्मा' भी कहलाये ।

वैष्णव जन के लक्षण और परिचय देनेवाले बापू के प्रिय भजन "वैष्णव जन तो तेने कहिये " को इस गाधी-युग मे अधिकाश लोग जानते है, किन्तु उसका पूरा अर्थ जाननेवाले और तदनुसार अपने जीवन को, थोडा ही सही, गढनेवाले कितने है ?

गाधीजी के इस साधना-पथ को जो वैष्णव जन सस्कारो से गौरवान्वित था, अपनानेवाले ही नही, प्रशस्त करनेवाले एक महान आचार्यवर ग्यारहवी शती मे आविर्भूत हुए । भारत की गौरवप्रद विभूतियो मे उन उत्तम आचार्यवर श्री रामानुजाचार्य का विशिष्ट स्थान है । उन्हीके तप पूत आचरणो के कारण, जो अपना आदर्श रखते है, 'श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय' दक्षिण मे प्रशस्त हुआ और उत्तर को भी उसने गौरवान्वित किया ।

गाधीजी के आदर्श सस्कारो मे से अहिसा, सत्य, अस्तेय आदि कई श्रीरामानुजाचार्य मे थे, जो उनको श्रीवैष्णवधर्म के रूप मे पूर्वाचार्यो के अनुकरण मे मिले । उनके पूर्व ही श्रीनाथमुनि, श्रीयामुनाचार्य आदि पाच आचार्य वैष्णव सम्प्रदाय के अनुशास्ता रह चुके है । सामान्यतया, भगवान श्रीमन्नारायण ही श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक माने जाते है । श्रीवैष्णवो मे यह गुरु-परम्परा-स्तुति प्रशस्त है

> "लक्ष्मीनाथ समारम्भां नाथ-यामुनमध्यमाम् ।
> अस्मदाचार्य पर्यन्तां वन्दे गुरु-परम्पराम् ।।"

इधर अस्मदाचार्य (हमारे आत्मीय आचार्य) श्रीरामानुजाचार्य है । उनके बाद उनके समान प्रतिभाशाली एव प्रभावशाली सार्वजनीन आचार्यवर दूसरे नही हुए । रामानुजाचार्य ने श्रीवैष्णव सम्प्रदाय मे कई कालोचित सुधार और परिष्कार किये । 'भागवत गोष्ठी' की स्थापना की । इसमे सभी जाति-कुल के विष्णु-भक्तो को इकट्ठाकर स्वदेशी एव स्वजन भावना को बढाया । अस्पृश्यता वैष्णवो मे, विशेषतया भगवान की सन्निधि मे, लेशमात्र भी नही बरती जाती ।

श्रीरामानुज ने जिन सस्कारो को अपने आचरण के द्वारा चरितार्थ कर दिखाया, उन्हीको वैष्णव जन-सस्कार के रूप मे निर्धारित किया और फैलाया । भगवान विष्णु की आराधना के लिए इन गुणो को अनिवार्य घोषित किया, जो सच्चे वैष्णव के सस्कार है

> रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टानृतादिना ।
> हिंसादिरहितः कायः केशवाराधनं त्रयम् ।।

—राग-द्वेष आदि से रहित हृदय, असत्य, कपट आदि से अदूषित वाणी, हिंसा, अनाचार आदि से रहित शरीर ये तीनो ही केशव की आराधना के प्रमुख साधन है ।

भगवान केशव की अर्चन के लिए आठ आत्मगुणरूपी पुष्पो का परिचय श्रीरामानुज ने दिया । इन्ही पुष्पो से आराधना करने पर भगवान विशेषतया प्रसन्न हो जाते है

> अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः ।
> तृतीयकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च ।।

शमस्तु पचम पुष्प ध्यान ज्ञान विशेषत. ।
सत्यं चैवाष्टम पुष्प एतैस्तुष्यति केशव· ।।

—अहिसा, इन्द्रिय-निग्रह, भूतदया, क्षमा (सहनशीलता), सयम, ध्यान, तत्त्वज्ञान, सत्यभाषिता—ये आठो भगवान नारायण के पूजार्ह और प्रिय पुष्प है। वैष्णव जनो के लिए इन्ही उत्तम सस्कारो से भगवान की आराधना फलवती होती है।

पूज्य वापूजी ने भी इन्ही सस्कारो को मानव-कल्याण और राष्ट्रीय समुन्नति के लिए हमे सुझाया। इन सस्कारो का पालन उन्होने कितनी दृढता और सच्चाई के साथ किया, यह वात उस युग-पुरुष की जीवना-गाथा वडी अच्छी तरह वता देती है।

गाधीजी के समान ही, श्रीरामानुज भी अपने समय के सर्वाधिक लोकप्रिय, लोकहितैषी एव समर्थ मार्ग-दर्शक रहे। उस सामती युग मे स्वतन्त्र गणराज्य या लोकराज का स्वप्न किसीकी परिकल्पना मे न उभर पाया, किन्तु राजाओ को **'तथैव सो अभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरं जनात्।'** -वाली कालिदास की परिकल्पना के अनुसार 'प्रजारजक, प्रजापालक' वने रहने का सन्देश श्रीरामानुज ने दिया। कर्नाट के विष्णुवर्धन, तमिल देश के पाण्डिय-चोल नरेश आदि पर रामानुजाचार्य के सदुपदेशो का अच्छा प्रभाव पडा। उन्हींके कारण उस समय का शैव-वैष्णव-वैमनस्य दूर हुआ। उन राजाओ ने तथा उनके पुत्र-पौत्रो ने भी शैव और वैष्णव दोनो सम्प्रदायो का सवर्धन किया। कई अद्भुत मन्दिर बनवाये। वौद्ध, जैन धर्मावलम्बियो के साथ भी सौजन्यपूर्ण वर्ताव किया गया। उस युग मे प्रधान क्षेत्रो मे शिव-मन्दिर और विष्णु-मन्दिर दोनो खडे करने की प्रथा प्रचलित थी-। उस समय के राजा दोनो मन्दिरो के लिए देवस्व के नाम पर सम्पत्ति प्रदान करते थे।

रामानुजाचार्य ने वैष्णव धर्म को व्यापक वनाया। जाति, कुल की परिधि दूरकर सभी विष्णुभक्तो को 'भागवत गोष्ठी' मे एकत्र किया। वैष्णवो मे जात-पात की भावना नही रखी जाती। इसका तात्पर्य यह नही कि वैष्णव समुदाय मे जातिसाकार्य स्वीकृत हुआ हो। 'अविभक्त विभक्तेपु' की सामासिक भावना विष्णुभक्तो मे लाना और फैलाना ही श्रीरामानुज का मुख्य ध्येय रहा। वैष्णवो मे श्रेष्ठ और सामान्य के स्तर, भक्ति की पराकाष्ठा तथा सम्प्रदाय ग्रन्थो के दृढ ज्ञान के अनुसार ही निर्धारित थे। इसीलिए श्रीरामानुज ने अपने सहस्रो शिष्यो को जिनमे सभी वर्णवाले थे, वार-वार समझाया

न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवता स्मृता. ।
सर्व वर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने ।।
श्वपचोऽपि महीपाल विष्णुभक्तो द्विजाधिक· ।
विष्णुभक्ति विहीनस्तु यतिश्च श्वपचाधम ।।
चतुर्वेद धरो विप्रो वासुदेव न विन्दति ।
वेदभार भराक्रान्त. स वै व्राह्मणगर्दभ ।।

—भगवान विष्णु के भक्तो मे न कोई शूद्र है, न व्राह्मण ही है। वे सव 'भागवत' माने जाते है। भगवान जनार्दन मे भक्ति न रखनेवाले ही शूद्र (निकृष्ट) है, भले ही वे सवर्ण हो।

किसी राजा को सम्वोधित कर कहा गया, "यदि चाण्डाल भी सच्चा विष्णुभक्त निकला हो, तो वह व्राह्मण से भी श्रेष्ठ माना जायगा। विष्णुभक्ति-विहीन श्रेष्ठ यति भी चाण्डाल से निकृष्ट माना जायगा।

चारो वेदो का अध्ययन कर चुकने पर भी, यदि वह चतुर्वेदी भगवान वासुदेव की महिमा से अनभिज्ञ हो, विष्णुभक्ति-विहीन हो, तो वह वेद-रूप भार ढोनेवाला 'व्राह्मणगर्दभ' कहा जायगा।

इस आदर्श 'स्पर्श भावना' के कारण ही श्रीरामानुज 'दयासिन्धु' कहलाने लगे तथा उनका सम्प्रदाय अधिक लोकप्रिय होकर दक्षिण से उत्तर तक फैला। **'भक्ती द्राविड ऊपजी, लाये रामानन्द'** की सूक्ति प्रशस्त होने का श्रेय मूलत श्रीरामानुज को ही है।

विष्णु-भक्तो को 'हरिजन' की सज्ञा श्रीरामानुज ने ही सर्वप्रथम दी। उनको सभी भारतीय हरिजन ही प्रतीत हुए। विष्णु को सभी मतावलम्बियो के लिए वन्दनीय स्थापित किया। 'पद्मपुराण' का यह सदुपदेश श्रीरामानुज का अभिमत था, जो साम्प्रदायिक समन्वय का पोषक था

शिवाय विष्णु रूपाय विष्णवे शिवरूपिणे ।
शिवस्य हृदये विष्णु. विष्णोश्च हृदये शिव ।।
एकमूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म विष्णु महेश्वरा. ।
त्रयाणामन्तर नास्ति गुण भेदाः प्रकीर्तिताः ।।

दक्षिण के वैष्णवो के लिए 'दिव्य प्रबन्धम्' ही सर्वमान्य वेदग्रन्थ है, जो 'द्राविडवेद' के नाम से प्रसिद्ध है। यह बारह आलवारो के भक्तिपुज तमिल गीतो का सग्रह है। कुल चार सहस्र गीत इसमे है। इनमे तिरुवाय् मोलि, जो एक सहस्र भक्ति-गीतो का प्रबन्ध है, 'द्राविडवेद सागर' माना जाता है। अन्य प्रबन्ध वेदाग, उपनिषद् के समान माने जाते है। तिरुवाय् मोलि वैष्णवो के लिए परमपूज्य ग्रन्थ है। इसके रचयिता नम्माल्वार श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के परमाचार्य माने जाते है। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य श्री नाथमुनि ने (नौवी शती के है) नम्मालवार की महिमा को समझा। उनके प्रयास से ही 'दिव्यप्रबन्धम्' श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के लिए सार्वजनीन वेदग्रन्थ बना।

उल्लेख योग्य बात यह है कि श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के परमाचार्य माने जानेवाले नम्माल्वार जाति से कृषक थे। उनकी पूजा वैष्णव सम्प्रदाय के पीठाधीश ब्राह्मण आचार्यो ने की। प्रथम पीठाधीश श्री नाथमुनि की इस आदर्श भावना को सर्वाधिक प्रशस्त करनेवाले महान आचार्य निकले श्रीरामानुजाचार्य। बारह आल्वारो मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और हरिजन सब थे, एक सुशिक्षित कन्या भी थी। इनमे नम्माल्वार को आत्मा तथा अन्य आल्वारो को शारीरिक अग मानते है। श्रीवैष्णवो मे सस्कृत वेद की अपेक्षा द्राविडवेद की उपादेयता और प्रतिष्ठा अधिक है। वैष्णव मन्दिरो मे देवमूर्ति का जुलूस निकालते समय भगवान के आगे द्राविडवेद का पारायण और पीछे की ओर सस्कृत वेद का पारायण होता है। प्रादेशिक भाषा का महत्व एव प्रादेशिक भाषा के भक्त-कवियो की मान्यता ही वैष्णव आचार्यो की दृष्टि से मुख्य ध्येय रही। श्रीरामानुज ने इसी परम्परा को पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक बनाया।

श्रीरामानुज के प्रथम गुरु तिरुक्कच्चि नम्बि थे। वह जाति से शूद्र थे। किन्तु श्रीरामानुज उनके शीलसस्कार पर मुग्ध थे। इनके प्रति अतीव आदर रखते थे। एक दिन उन्हे अपने घर पर बुलाकर आतिथ्य-सत्कार किया। उनके भोजन कर चुकने के उपरान्त उनके उच्छिष्ट को प्रसाद मानकर श्रीरामानुज ने स्वीकार किया। यह उनकी 'स्पर्श-भावना' का आदर्श उदाहरण है।

श्रीरामानुज बडे दयालु थे। उनके गृहस्थ तथा बाद के सन्यासाश्रम के जीवन मे कई ऐसे उत्तम दृष्टान्त मिलते है, जो उनकी दयालुता, परोपकारिता आदि का परिचय देते है। गृहस्थ जीवन बिताते समय कई ऐसे अवसर उपस्थित हुए जब आये भिखारी को अपना पूरा भोजन देकर उन्होने स्वय उपवास किया।

महीनो प्रतीक्षा करके, लगभग अठारह बार यात्रा कर गोष्टीपूरण नामक महान साधक से श्रीमन्नारायण मन्त्र-तत्व का उपदेश श्रीरामानुज ने पाया। उपदेशक ने इनसे वचन लिया कि इस मन्त्र-रहस्य को वह सदा गोपनीय रक्खेगे। किन्तु श्रीरामानुज ने अनुभव किया कि उस मन्त्र-रहस्य के ज्ञान से दुखी ससार का उद्धार अवश्यम्भावी है। उन्होने तत्काल निश्चय किया कि सबके कल्याण के लिए उसे खुले आम उद्घोषित कर देना मानवता की उत्तम सेवा है। उन्होने वैसा ही किया। जब मन्त्र-तत्व के उपदेशक गुरु ने रामानुजाचार्य को बुलाकर पूछा कि उन्होने ऐसा क्यो किया तो उन्होने सविनय बता दिया, "स्वामिन्, मुझे भले ही गुरुद्रोह का पाप लगे, मै नरक मे जाकर यातनाए झेलने को तैयार हू, लेकिन इस मन्त्र को जानकर मानव भगवान विष्णु का सच्चा भक्त बन जायगा और अपना उद्धार कर लेगा। इससे समाज का कल्याण होगा। मानव-जीवन का अधिकाश दु ख दूर होगा।"

गुरु गोष्टीपूरण श्रीरामानुज की दयालुता देखकर चकित हो गये। उन्हे अवतारी महापुरुष समझकर वह उनका समादर करने लगे। इस प्रकार के कई उदाहरण श्रीरामानुज के जीवन मे मिलते है, जो उन्हे सच्चा वैष्णव जन सिद्ध करते है।

अपने शत्रुओ का भी अहित न चाहने का उपदेश श्रीरामानुज अपने शिष्यो को दिया करते थे। इसका वह प्रारभ से ही पालन करते आ रहे थे। उनकी बढती ख्याति को देखकर जलनवाले कुछ ओछे व्यक्तियो ने एक बार उनके भोजन मे विष मिला दिया। उसे खाने के पूर्व ही रहस्य खुल गया, परन्तु श्रीरामानुज के मन मे लेशमात्र भी क्षोभ न हुआ। उत्तेजित शिष्यो को भी उन्होने शान्त किया। 'शठे प्रति शाठ्यम्' से वैष्णव का शील भग होगा, यही उपदेश दिया।

अपनी प्राण-रक्षा के लिए भी असत्य बोलना उनके लिए अस्वीकार्य था। एक बार कुछ शैवो ने, "शिवजी ही श्रीमन्नायण से श्रेष्ठतर है," यह मानने के लिए श्रीरामानुज और उनके शिष्यो को बाध्य किया। श्रीरामानुज ने देश छोडा, जगल मे भूखे-प्यासे भटके, नाना प्रकार के कष्ट सहे, किन्तु भयभीत होकर अपनी मान्यता के विरुद्ध मत प्रकट नही किया। उनके प्राणप्रिय शिष्य कूरेश ने अपनी दोनो आखे खो दी, फिर भी भीरुता का शिकार बन कर उल्टी राय नही दी। वैष्णव जनो को अहिसा, सत्य, सयम आदि सस्कारो पर अटल रहने का उपदेश श्रीरामानुज इसीलिए सफलतापूर्वक दे सके, क्योकि वह स्वय उन्हे आचरण मे लाये। यही कारण है कि वैष्णव जन श्रीरामानुजाचार्य को 'आत्मगुरु', 'दयैकसिन्धु', करुणासागर', 'आचार्य सार्वभौम', 'भगवान' आदि नाम से स्मरण करते है।

●

सच्ची सेवा

ठाकुर घनश्यामनारायण सिह

ईट, चूने और पत्थर के बने है
मन्दिर, मस्जिद और गुरुद्वारे
इन्हीमे तुझे ढूढने को
फिरते है, वे लोग
जो होते है, अबोध बेचारे
क्योकि
मैं सोचता हू
यही यदि दर्शन करे
अस्पताल मे
मरीजो के जाकर
जहा वेदना से मनुष्य
बिलबिलाता है
तो
निश्चित है
वे तेरी एक कृति को
सवेदना दे सकेगे
और
तेरे समीप आ सकेगे
(यही है ईश्वर से
वास्तविक साक्षात्कार)
तेरे विषय मे सुना है—
तेरा अहर्निश है यही काम
सहायता करना
दु खी की, कातर की, निर्बल की
सताता है तुझे विचार
यही आठो याम
और कहा भी है—
जन-जन के कण्ठो ने
आदिम युग से—समवेत स्वरो मे—
"सुना री मैंने निर्बल के बल राम!"

●

महाराष्ट्र के सन्तों का सामाजिक कार्य

श्रीपाद जोशी

●

आम तौर पर यह समझा जाता है कि सतो का कार्य भक्ति एव नीति का प्रचार करना होता है। एक दृष्टि से यह सही भी है। जिन्हे ईश्वर-दर्शन की प्यास लगी होती है वे ही लोग सत बन जाते है और अपने जीवन के अनुभवो को वाणी के शब्दो या ग्रथ के अक्षरो द्वारा लोगो के हृदयो तक पहुचाने के उनके प्रयत्न मे जब उन्हे सफलता प्राप्त होती है तभी प्राणवान् साहित्य का निर्माण होता है। ऐसे सत भारतवर्ष मे और भारत से बाहर भी हमेशा होते आये हैं। उनमे से केवल महाराष्ट्र के कुछ प्रतिनिधि सतो का ही विचार इस लेख मे किया जायगा।

महाराष्ट्र के सतो मे पाच सत प्रमुख एव प्रातिनिधिक समझे जाते है—ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम और रामदास। इनमे से रामदास रामभक्त थे और उन्होने महाराष्ट्र मे राम एव हनुमान की भक्ति का प्रचार और प्रसार किया। महाराष्ट्र मे शायद ही ऐसा कोई गाव मिले, जहा हनुमानजी का मदिर न हो। कहते है कि इसका श्रेय रामदास को ही है। शेष चार सत श्री विट्ठल के भक्त थे। उन्होने विट्ठल भक्ति की एक ऐसी सशक्त परपरा की नीव डाली, जो आजतक अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। इस तरह भक्ति के प्रचार-प्रसार का अपना उत्तरदायित्व इन सतो ने भली भाति निभाया। उसकी चर्चा हम इस लेख मे नही करेंगे। हम यह बताना चाहते है कि इन सतो ने मराठी भाषा-भाषी समाज की अन्य प्रकार से भी सेवा की है।

इन सतो का सबसे बडा सामाजिक कार्य यह है कि उन्होने उस मूक जनता को वाणी प्रदान की, जिसे सदियो से सस्कृत भाषा मे छिपे ज्ञान भडार से वचित रखकर उच्च वर्ण का मुखापेक्षी बना दिया गया था। यह एक बडे आश्चर्य की बात है कि मराठी साहित्य का श्रीगणेश ही एक ऐसे महाग्रथ से हुआ जो आजतक अपनी महानता मे अद्वितीय समझा जाता है। उस ग्रथ का नाम है 'ज्ञानेश्वरी', जो कि श्रीमद्भगवद्गीता की काव्यमय टीका है। इसका नित्यपाठ करनेवाले लाखो लोग आज भी महाराष्ट्र मे पाये जाते है। उनमे ब्राह्मण, अब्राह्मण, सवर्ण, हरिजन आदि सभी जातियो के लोग होते है। समाज मे जो भी लोग भक्ति-मार्ग से परिचय पाना चाहते है, उनके लिए 'ज्ञानेश्वरी' का अध्ययन करना अनिवार्य समझा जाता है। उसके बाद तो मराठी भाषा मे अनेकानेक सतो ने रचनाए की। उनमे चोखा मेण्ठा (चमार), सेना न्हावी (नाई), गोरा कुभार (कुम्हार), सावता माली (माली), जैसे सभी जातियो के सत थे। बहिणाबाई, जनाबाई, कान्होपात्रा जैसी स्त्री सतो का भी सहयोग काफी मात्रा मे रहा। इससे एक लाभ यह हुआ कि मराठी भाषा का स्वरूप अत्यधिक सस्कृत-प्रचुर या बोझल न रहकर वह सभी वर्गो की समझ मे आने जैसी सरल और आमफहम बनी रही। मराठी भाषा का अभिमान भी सतो मे कमोवेश मात्रा मे पाया जाता है। सत एकनाथ एक जगह लिखते है

संस्कृत वाणी देवें केली। प्राकृत काय चोरापासोनि जाली ?
असोतु या अभिमान भुली। वृथा बोली काय काज ?

अर्थात् लोग कहते है कि सस्कृत भाषा को देवताओ ने बनाया, तो क्या प्राकृत भाषा को चोर-डाकुओ ने बनाया है ? इस तरह की बाते व्यर्थ है। यह तो केवल अभिमान के कारण ही लोग ऐसा बोलते है।

और एक जगह वह कहते है

मुक्ताफला लागी सागरीं। बुडया देती नानापरी।
तें सांपडलियां घरी विहिरीं। जो अव्हेरी तो मूर्ख ॥
तैसी संस्कृत व्याख्यान आटाटी। अतिकष्टे परमार्थी भेटी।
तें जोडल्या मराठीसाठी। उपेक्षादृष्टि न करावी ॥

अर्थात्, मोतियो के लिए लोग सागरो मे लगातार डुबकिया लगाते रहते है। ये मोती अगर घर के कुए मे मिल जाय तो क्या उनका त्याग करना चाहिए ? इस तरह जो आसानी से मिलनेवाले मोतियो का त्याग करे, उसे मूर्ख ही समझना चाहिए। इसी तरह सस्कृत भाषा मे जो ज्ञान का भडार भरा पडा है, वहातक पहुचने मे बडे कष्ट उठाने पडते है। वह भडार अगर मराठी मे लाया जाय तो उसकी उपेक्षा नही करनी चाहिए।

वैसे जात-पात का विरोध सन्त रामदास जैसे कुछ सन्तो को छोडकर लगभग सबने किया है। पर कुछ सन्तो की वाणी मे इस सामाजिक विषमता का खण्डन करते समय एक और ही तीखापन आ जाता है। सन्त तुकाराम ऐसे सन्तो मे अग्रसर कहे जा सकते है। वह कहते है

शूद्रवशी जन्मलो। म्हणोनि दम्भें मोकालिलो ॥
अरे तूच माझा आता। मायबाप पढरिनाथा ॥
घोकाया अक्षर। मज नाही अधिकार ॥
सर्व भावे दीन। तुका म्हणे यातिहीन ॥

अर्थात्, मै शूद्रवश मे पैदा हुआ, इसीलिए मै दम्भ से बच गया। हे भगवान, अब तू ही मेरा मा-बाप है। (वेद) पठन का अधिकार मुझे नही है। मै सब तरह से दीन और जाति-हीन हू।

और एक अभग मे वह कहते है

बरा देवा कुणबी केलो। नाही तरी दम्भें असतो मेलो ॥
भलें केलें देवराया। नाचे तुका लागे पाया ॥

अर्थात्, अच्छा हुआ हे भगवन्, कि तूने मुझे किसान (अब्राह्मण) बनाया, वरना मै घमण्ड से भर गया होता। हे ईश्वर, तूने यह अच्छा किया, क्योकि अब तुकाराम नाचता है और तेरे चरण छूता है।

सन्त एकनाथ इससे एक कदम और आगे बढ गये। उन्होने अछूतो को भी अपनाया। एक बार उन्होने श्राद्ध के दिन पितरो के लिए बनाया हुआ सारा भोजन हरिजनो को खिला दिया था और उसके कारण वह ब्राह्मण देवताओ के कोप भजन बन गये थे। एक बार गोदावरी के पार मे तपती हुई बालू पर खडे रोते हुए एक हरिजन बालक को उन्होने गोद मे उठाया था और उसकी मा को खोजकर उसे उसको सौप दिया था। हा, यह ठीक है कि ऐसी घटनाए इनी-गिनी ही पाई जाती है, मगर उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जात-पात के भेदभाव के खोखलेपन को हमारे सन्त भली भाति जान गये थे। ऊच-नीच की जो भावना समाज मे बरसो से चली आई थी उसे पूर्ण रूप से नष्ट करना तो किसीके भी बस की बात नही थी, मगर उस भावना को थोडा-बहुत सौम्य बनाकर कम-से-कम कुछ अवसरो पर तो एक-दूसरे के साथ रहने को लोगो को तैयार करना भी कम महत्व का कार्य नही था। पढरपुर के विट्ठल के दर्शनो के लिए महाराष्ट्र और कर्नाटक से हजारो-लाखो कठीधारी साल मे दो बार आषाढ और कार्तिक की शुक्ला एकादशी के दिन अपने-अपने गावो से पढरपुर पहुच जाते है। अधिकाश लोग पैदल यात्रा करते है। इस यात्रा मे और पढरपुर पहुचने के बाद भी छुआछूत का विचार बहुत कम रह जाता है। केवल भोजन के समय हरेक अपना-अपना चौका अपनी जाति के लोगो के साथ बनाता है। इससे सामाजिक विषमता का जहर इस प्रदेश के समाज मे बहुत अधिक तीव्र नही हो पाया। सामाजिक समता की दिशा मे सन्तो का यह कार्य नि सशय बडा महत्वपूर्ण है।

जैसाकि हम प्रारम्भ मे कह चुके है, समर्थ रामदास महाराष्ट्र के अन्य सन्तो से कई बातो मे भिन्न थे। सबसे बडा भेद उनके उपास्य देवता के सम्बन्ध मे ही था। श्रीराम की उपासना महाराष्ट्र मे बहुत सीमित क्षेत्र एव वर्ग मे पाई जाती है। राम-भक्तो मे अधिकतर ब्राह्मण ही होते है। इसका कारण शायद यह हो कि रामदासजी के भक्त एव अनुयायी प्रधानतया ब्राह्मण ही थे। रामदास जात-पात के समर्थक थे। छुआछूत को ही वह धर्म मानते थे। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि उच्च वर्ग के लोग ही उन्हे अपना गुरु मानते। उनके नाम से जो रामदासी सम्प्रदाय (पन्थ) प्रचलित हुआ उसमे अब्राह्मणो को शायद ही स्थान रहा होगा। अर्थात् क्षत्रियो मे भी उन्हे बडी मात्रा मे अनुयायी नही मिले। फिर भी उनका स्थान महाराष्ट्र के ही नही बल्कि भारत के महान् सन्तो मे बडा महत्वपूर्ण समझा जाता है। इसका कारण है उनका समाज-सगठन-कार्य। मुसलमानो के बढते हुए जुल्म व अत्याचार से भयभीत जनता को सगठित करके उन अत्याचारो के

खिलाफ खडा करने का जो कार्य रामदास ने किया वैसा सिक्खो के गुरुओ को छोड अन्य किसी सन्त ने शायद ही किया हो। इसीलिए महाराष्ट्र के लोग उन्हे 'सन्त रामदास' नही वल्कि 'समर्थ रामदास' कहते है। राम के अनन्य दास एव बल के देवता हनुमान के मन्दिर उन्होने गाव-गाव मे बनवाये और उनके साथ ही कुश्ती के अखाडे भी जोड दिये। महाराष्ट्र मे एक भी गाव ऐसा नही होगा जिसमे बलभीम का मन्दिर और अखाडा न हो। इससे महाराष्ट्र के लोगो मे बलोपासना का प्रचार बहुत बडी मात्रा मे हुआ। उन्हीमे से शिवाजी महाराज को सैनिक मिले और आगे चलकर भारतीय सेना मे मराठो की सख्या काफी मात्रा मे रहने लगी। यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि बीसवी सदी के आरम्भ से महाराष्ट्र मे जो राजनैतिक कार्यकर्ता आगे आये उनमे अधिकाश रामदास को अपना गुरु माननेवाले थे। एक समय था जब रामदास के 'मन के श्लोक' और 'दास बोध' का पठन-पाठन हर ब्राह्मण घर मे होता था। इन दोनो मे भक्ति का प्रचार उतना नही है जितना सदाचार का है। परन्तु रामदास पन्थ का यह महत्व समय के साथ घटता गया। नई वर्ग-चेतना के प्रभाव से ब्राह्मणो का प्रभाव भी कम होता गया और उनमे सामाजिक समता की भावना का उदय होने से स्वय उनमे भी रामदास की शिक्षा का आकर्षण अब पहले जितना नही रहा है। इसके विपरीत अन्य सन्तो की शिक्षा मे नये जमाने के लिए अनुकूल सामग्री बडी मात्रा मे होने से उसका अध्ययन बढता जा रहा है। फिर भी हमे यह स्वीकार करना होगा कि असगठित एव भयग्रस्त हिन्दू समाज को सगठित एव निर्भय बनाने मे समर्थ रामदास की शिक्षा ने बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी।

वैसे देखा जाय तो आज सारी दुनिया के सामने जो अनेकानेक जटिल समस्याए खडी है उनका समाधान सन्तो के उपदेशो मे खोजना मृगजल से पानी की आशा रखना है। फिर भी आज जीवन की कई समस्याए ऐसी है जिनका उत्तर सन्तो के उपदेशो मे हमे मिल सकता है। इसीलिए तो सन्त-साहित्य के पठन से हमारे मन को सन्तोष मिलता है। यह ठीक है कि, जैसाकि गाधीजी ने भी एक बार कहा था, आज अगर भगवान को अवतार धारण करना पडे तो उसे रोटी का रूप धारण करके ही आना पडेगा, फिर भी रोटी ही सबकुछ नही है। अमरीका जैसे समृद्ध एव सम्पन्न राष्ट्र के अनुभव से यह ज्ञात हो गया है कि रोटी का सवाल हल हो जाने से सारे सवाल हल नही होते। उनका समाधान खोजने के लिए, देर-अबेर, हमे अपने महान् सन्तो की सिखावन की ओर ही जाना पडेगा। जब हम इस दृष्टि से सन्त-साहित्य पढेगे तो निश्चय ही हमे निराश नही होना पडेगा।

●

जिस क्षण हम मनुष्य मनुष्य के बीच सच्ची और सजीव समानता फिर से स्थापित कर लेंगे, उसी समय मनुष्य और सारी सृष्टि के बीच समानता स्थापित कर सकेंगे।

—महात्मा गांधी

वैष्णव जन-जीवन को व्यवहार में उतारनेवाले बाबा

राजबहादुर सिह

●

वैष्णवजनो मे जिन गिने-चुने लोगो के जीवन-चरित्र मैने आधुनिक युग के प्रसग मे सुने है, उनमे से दो का प्रभाव मुझपर ही नही, बल्कि मेरे सारे परिवार पर पडा है। यहा उनका गुरु-शिष्य-क्रम से वर्णन करना अनुपयुक्त नही होगा। वास्तव मे ये सच्चे जीवन की लघु कथाए हे, जिन्हे नई पीढी के लोग विश्वास के योग्य नही मानेगे, पर यह घटनाए ऐसी हे, जिन्हे मैं ही नही, सम्बद्ध गावो के कितने ही लोग देख चुके है। इसलिए इन्हे मिथ्या समझने का कोई कारण नही है।

सीतापुर जिले के एक सैनिक, जो अग्रेजो के जमाने मे वहा के सैनिक शिविर मे थे, परम कर्त्तव्यपरायण, धार्मिक और सच्चे सैनिक थे, इसलिए जब एक बार 'ड्यूटी' के समय उनसे सो जाने की गलती हो गई तो उन्हे जागते ही बडा भय हुआ और वह फौरन दौडे-दौडे अपने अग्रेज अफसर के पास गये और अपनी दो घटे की गैर-हाजिरी के लिए माफी मागने लगे। पर अग्रेज अफसर भी कोई सज्जन अधिकारी था। उसने सैनिक से कहा, "तुम क्या बात करते हो? तुम तो यहा पूरे समय तक 'ड्यूटी' देकर गये हो, फिर माफी क्यो मागते हो?"

सैनिक महोदय विचार-सागर मे डूब गये। वह सोचने लगे कि क्या उनका सो जाना भी झूठ हो सकता है। अवश्य ही यह भगवान की मुझपर दया है, जो उसने मेरी चूक को मेरे अफसर के मन से निकाल दिया। जब ऐसा है और मेरे लिए भगवान इतना कष्ट करते है तो मुझे धिक्कार है, जो मैं उसका स्मरण न कर उसकी सेवा से विलग समय गवाऊ।

उनके मन पर इस घटना की ऐसी गहरी छाप पडी कि वह अब सदैव भगवान के स्मरण मे तल्लीन रहने लगे। निष्ठा और श्रद्धा का आधिक्य इतना हुआ कि अन्त मे अपनी सैनिक नौकरी से पेशन का समय निकट आजाने पर भी त्यागपत्र देकर अयोध्या चले गये और वहा भगवदाराधना मे समय व्यतीत करने लगे। अन्त मे उनकी सच्ची भगवद्भक्ति ने उन्हे वह सिद्धि प्रदान की कि वह अयोध्या मे एक 'अखाडा' (साधु-आश्रम) स्थापित कर 'रामसनेही' पथ के सचालक बन गये। जब वह इस स्थिति मे पहुचे तो उनका नाम बाबा रघुनाथदास 'रामसनेही' पड गया। उन्होने 'विश्राम-सागर' नामक हिन्दी पद्य-ग्रन्थ लिखा जो 'शुक-सागर' के टक्कर का माना जाता है और जिसका अवधी पद्य-ग्रन्थो मे 'रामचरित मानस' के बाद सर्वोच्च स्थान है।

इन पक्तियो के लेखक को नौ वर्ष की अवस्था मे ही सीतापुर जिले मे अपने पितामह ठा० गदाधरसिंह के साथ जाकर बाबा के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लेखक के पितामह सुलतानपुर जिले के विख्यात् ठाकुर थे और उन्होने एक योद्धा के रूप मे चादा मे गदर कहे जानेवाले स्वातत्र्य-युद्ध मे अग्रेजो के विरुद्ध युद्ध किया था। बाद मे बाबा रघुनाथदास 'रामसनेही' के शिष्य बनकर तो वह लगभग एक वैष्णव साधु का जीवन व्यतीत करने लगे थे और भक्त ठाकुर कहे जाने लगे। पर वैष्णव सम्प्रदाय मे आने के पहले वह क्या और कैसे थे, यह दिलचस्पी से खाली नही है।

इन पक्तियो के लेखक ने तो अपने पितामह को वृद्धावस्था मे ही देखा था, पर उनके जिन समवयस्को ने उन्हे जवानी मे देखा था उनका कहना था कि जब वह बिल्कुल नवयुवक थे तभी चादे की लडाई[1] मे भाग लेकर क्षत-विक्षत हो गये थे। जब उनके सीने मे तलवार और भालो

---

१ इस लडाई को अवध पर अग्रेजो के कब्जा करने का निर्णायक युद्ध कहा जाता है।

के कई घाव लगे थे और वह भी भीषण रूप मे घायल हो अचेत अवस्था मे चादा के निकट युद्धस्थल मे गिर गये तो वह हमारे गाव के एक ब्राह्मण (•मिश्र) द्वारा कम्बल और दोहर मे लपेटकर लाठी मे लटकाकर मृत समझे जाकर उत्तर क्रिया के लिए गाव लाये गए, बल्कि कुछ उपचार के बाद वह फिर अचेतावस्था से होश मे आ गये और फिर पूर्णत स्वस्थ हो गये थे, किन्तु अच्छे हो जाने पर भी वह चादा के युद्ध का हाल अपने साथियो को बताते समय कहते थे—"फिरगी पाव का कच्चा होता है । वह लगी लगाकर धडाम से जमीन पर गिराया जा सकता है । उसकी बन्दूक बहुत बढिया होती है । हमारी बन्दूके तो पलीता का रजक चाट जाने के कारण कभी-कभी दगती ही नही, और दगती है तो देरी से ।"

मैने वृद्धावस्था मे जब बाबा गदाधरसिह को देखा था तो उनकी छाती पर कई पुराने घाव के गहरे चिह्न थे। उनके सम-सामयिक बताते थे कि वह चादा-युद्ध के वर्षो बाद तक कभी यकायक ताव मे आने पर कुछ यो बडबडा उठते थे—"फिरगी आया—फिरगी आया•• तलवार लाओ• भाला उठाओ—बन्दूक तैयार करो ।" आदि आदि ।

उनकी यह दशा वर्षो तक रही । उन दिनो हमारे घर मे मासाहार होता था और घर के पास पक्के कुए के निकट चबूतरे पर शिव-लिग स्थापित था, जिसपर हमारे पितामह नित्य स्नान कर बिल्वपत्रादि-सहित जल चढाया करते थे ।

युद्ध के बाद जब मेरे पितामह घावो के अच्छे हो जाने के पश्चात् सामान्य स्थिति मे होकर पुन शिव-भक्ति मे लग गये और नित्यचर्यानुसार स्नान के पश्चात् जल चढाने का क्रम फिर जारी कर दिया तो शरीर स्वस्थ हो जाने पर भी कभी-कभी "हर-हर महादेव" कहकर सैनिक कडखे का उच्चारण करते और "...फिरगी आया•••तलवार लाओ, माला उठाओ• •" आदि-आदि कहकर उच्च स्वर से युद्धाह्वान-सा करने लगते ।

उनकी यह दशा देखकर घर और गाववाले चिन्तित रहने लगे । अन्त मे परस्पर सलाह-मशविरा करने के बाद यह तय पाया कि अयोध्या जाकर बाबा रघुनाथदास 'रामसनेही' को अपने गाव लाया जाय और उनसे अनुरोध किया जाय कि वह जो भी उचित समझे, ठाकुर गदाधरसिह का मानसोपचार करे ।

बाबा रघुनाथदास ने सबसे पहले मेरे दादा के आहार-विहार मे परिवर्तन कराया । फिर उन्हे वैष्णव मत की दीक्षा स्वय दी और उन्हे नियमित शाकाहारी बना दिया । दादाजी को जब एक बार बाबा रघुनाथदास के जीवन और उपदेश मे श्रद्धा हो गई तो उन्होने न केवल स्वय ही आमिषाहार का त्याग कर दिया, बल्कि समूचे परिवार को, जिसमे पचास से अधिक स्त्री-पुरुष और बच्चे थे, सम्पूर्ण शाकाहारी बना दिया और एकादशी के दिन घोडे, हाथी को भी अन्न त्याग कराकर शाकाहार कराने लगे । धूम्रपान की कुप्रथा भी उन्होने अपने परिवार से दूर कर दी । रामायण का शतपाठ किया, सम्पूर्ण 'विनयपत्रिका' और 'कवितावली' कठस्थ कर ली । यही नही, दूसरे को दु ख मे देखकर दादाजी द्रवित हो जाते थे और यथाशक्य उसकी पूरी सहायता करते थे । मेरे पिताजी पाच सगे और दो चचेरे भाई थे—सब मिलजुलकर रहते थे और न केवल अपनी जाति और सम्प्रदाय का हित करते, बल्कि किसीका भी कोई काम होता तो उसे निस्स्वार्थ रूप मे करते थे । दादाजी की देखा-देखी मेरे पिता अपने चचेरे भाइयो-सहित जिन गावो मे और जहा-जहा उनका अधिकार और वर्चस्व था, यही नीति बर्तते थे । दादाजी का कहना था कि आहार की शुद्धि तो चाहिए ही, व्यवहार की भी शुद्धि चाहिए, क्योकि इसके बिना तो वैष्णव परम्परा का नाम भी नही लिया जा सकता । निश्चय ही यह ज्ञान उन्होने बाबा रघुनाथदास 'रामसनेही' से ग्रहण किया होगा। बाबा रघुनाथ 'रामसनेही' ११७ वर्ष जीवित रहे । उनके शिष्य सारे देश मे फैले हुए है । बाबा के उपदेशानुसार वे आहार-शुद्धि पर तो जोर देते ही है, व्यवहार-शुद्धि की ओर भी उनका ध्यान कम नही रहता ।

वैष्णव-सम्प्रदाय की इस शाखा और इसके अनुयायियो ने देश को कितने ही जाज्वल्यमान चरित्रवान सत्पुरुष प्रदान किये है, जिनकी धवल कीर्ति का गान अब भी होता है और आगे भी होता रहेगा ।

●

असली वीरता

उपाध्याय अमर मुनि

●

रूपकोशा पाटलीपुत्र की अद्वितीय नर्तकी थी। प्रकृति ने उसे अपार लावण्य और सौन्दर्य उन्मुक्त हाथो से बाटा था। हर तरफ लोगो की जवान पर एक ही चर्चा थी कि जब वह गाती है तो पवन रुक जाता है, पक्षी चहचहाना बन्द कर मौन हो जाते हैं और जब वह नाचती है तो आकाश के तारे टिमटिमाना भूलकर अपलक देखते रह जाते हैं। मगध जनपद का गौरव थी रूपकोशा! कला और सौन्दर्य का दुर्लभ सगम थी नर्तकी कोशा।

महामुनि स्थूलिभद्र ने वर्षावास के चार मास बिताये कोशा की चित्रशाला मे, परन्तु सागर की गहराई मे डूबकर भी वह भीगा नही। दावानल के बीच रहकर भी वह घृत पिघला नही। यह एक चमत्कार था। वह विलक्षण जादूगर था स्थूलिभद्र, जिसने नर्तकी कोशा के दैहिक सौंदर्य मे अनन्त आध्यात्मिक सौन्दर्य जगा दिया था। उसका वासना-प्रधान जीवन साधना-प्रधान जीवन मे बदल गया। वह नर्तकी से श्राविका बन गई थी।

पाटलीपुत्र नरेश का एक अत्यन्त प्रिय और वीर धनुर्धर था—एक रथकार। सौदर्य और शौर्य मे उसने बडे-बडे राजकुमारो को मात दे दी थी। रथकार एक दिन कोशा के द्वार पर पहुच गया। कोशा के रूप का दीवाना था वह। बार-बार कोशा के समक्ष अपनी काम-चेष्टा करने लगा।

कोशा, रथकार के समक्ष कामविजेता स्थूलिभद्र की प्रशसा करने लगी तो रथकार जरा ठिठक गया। सोचा, यह अभी तक मेरी अद्भुत धनुर्विद्या से अपरिचित है, परिचय देना चाहिए।

रथकार कोशा के साथ घूमता हुआ गृह-वाटिका मे पहुचा। फूलो की मधुर गन्ध महक रही थी, निर्मल पानी के फव्वारे छूट रहे थे। सामने आम्रवृक्षो पर पके हुए आमो की सोधी गन्ध मन को लुभा रही थी। रथकार ने एक बाण छोडा। बाण सनसनाता हुआ सीधा वृक्ष पर लगे एक अति सुन्दर फल को बीधकर उसीमे धस गया। तत्काल दूसरा बाण छोडा तो वह बाण उस बाण मे अटक गया। फिर तीसरा बाण उस दूसरे बाण मे जुड गया। इस प्रकार पलक झपकते बाणो की लम्बी पक्ति बढती-बढती रथकार के पास तक आ पहुची। वही खडे-खडे उसने बाण-पक्ति को खीचा। एक के बाद एक, सब बाण हटाते-हटाते आखिर मे सामने आगया मधुर गध से महकता आम। आम को उछालते हुए रथकार ने कोशा के सामने रखा और एक प्रश्नभरी दृष्टि उसकी दृष्टि पर गडा दी।

कोशा ने देखा—कितना अहकार है? यह शौर्य का अहकार ही मेरे सौदर्य का सौदा चाहता है? कोशा की दृष्टि मे धन और सौंदर्य का मूल्य कभी रहा होगा, पर आज कुछ भी नही। उसने एक ऐसा दर्शन पा लिया था, जिसके प्रकाश मे भौतिक ऐश्वर्य का नकली सोना कभी उसे बहका नही सकता था।

कोशा ने एक बडा सोने का थाल मगाया। उसमे सरसो के दानो का ऊचा-सा ढेर लगवाया। सरसो के दानो पर एक सुई रखी और सुई की नोक पर एक फूल और फूल की कर्णिका पर एक पाव का अगूठा रखकर कोशा ने नृत्य प्रारम्भ किया तो जैसे प्राण वायु भी स्पन्दनहीन हो गया।

रथकार सास रोके अपलक देखता रहा। जीवन मे आजतक इतना विचित्र, अद्भुत नृत्य उसने नही देखा था। उसे लगा, जैसे कोशा के मासल शरीर मे कही अस्थिया ही नही है। वह रबर की गेद की तरह कभी हवा मे उछाले मारती है तो कभी पूरे अग को आमूल-चूल दुहरा करके रख देती है। भार जैसा कुछ हे ही नही। मात्र

माया का एक दृश्य है और यह छलावा-सा नाच रहा है।

कोशा ने नृत्य समाप्त किया। रथकार गद्गद् हो गया। धनुर्विद्या का अह तो कभी का गल गया था। फिर भी ऐश्वर्य के अह दीप्त स्वर मे बोला—"देवि ! तुम्हारी अद्भुत कला पर प्रसन्न हू। मागो कुछ।"

कोशा ने नम्रतापूर्वक, किन्तु व्यग्य-मिश्रित स्वर मे कहा, "मैंने ऐसा क्या अद्भुत किया है, जिसपर आप इतने विस्मित हो रहे है ?"

"इससे अद्भुत और क्या हो सकता है !" रथकार ने कहा, "तुम्हारे सदृश अन्य नर्तकी इस धरा पर नही देखी।"

"यह तो मेरी अभ्यास की एक कला है, इसमे कोई कठिन बात नही है।" वह बोली।

"देवि, क्या कह रही हो ? यदि यह कठिन बात नही, तो फिर कठिन बात और क्या हो सकती है ?"

कोशा ने रथकार के हृदय को झकझोरते हुए कहा

न दुक्करं अंबिय-लुबि-तोडणं,
न दुक्कर सरिसव नच्चियाह।
त दुक्करं तं च महाणुभाव,
जं सो मुणी पमय-वणम्मिवुच्छो॥

बाणो की लम्बी पक्ति बाधकर दूर से ही आम्र-लुबिका को तोडकर लाना कोई कठिन काम नही है और न सरसो के दानो पर सुई रखकर उसकी नोक पर नाचना ही कठिन है। वस्तुत कुछ कठिन है तो महामुनि स्थूलिभद्र का वैराग्य, जो रूप-लावण्यवती रमणियो के मधुवन मे रहकर भी कभी प्रमत्त नही हुआ, राग के सागर मे रहकर भी विरागी बना रहा।

रथकार को जैसे झटका लगा। उसकी आखे जमीन मे झुक गई। दर्प चूर-चूर हो गया। "कोशा, तुम मेरी गुरु हो। मैं आजतक अपने गर्व मे भूला हुआ था। तुमने मेरी मोह-तन्द्रा भग कर दी। वास्तव मे मेरी वीरता अधूरी है, सच्ची वीरता तो अपने मन को विजय करना है।" और रथकार कोशा के चरणो मे झुक गया।

कसूर तुम्हारा नहीं, मेरा है

एक बार दक्षिण अफ्रीका मे कुछ युवक एक महीने तक बिना नमक भोजन करने की प्रतिज्ञा लेकर फिनिक्स आश्रम मे भर्ती हुए। लेकिन शीघ्र ही वे इस सादे भोजन से उकता गये। एक दिन उन्होने डरबन से खाने की मसालेदार और स्वादिष्ट चीजे मगवाई और चुपचाप खा ली। बाद मे उन्हीमे से एक युवक ने, जिसने वे चीजें खाई थी, इस बात की सूचना गाधीजी को दे दी।

शाम को प्रार्थना मे गाधीजी ने उन्हे एक-एक करके बुलाया और पूछा, "क्या तुमने वह खाना खाया ?"

सबने स्पष्ट इन्कार कर दिया। इतना ही नही, उन्होने सूचना देनेवाले को झूठा ठहराया।

इसपर गाधीजी बडे जोर से अपने गालो को पीटने लगे और बोले, "मुझसे सच्चाई छिपाने मे कसूर तुम्हारा नही, मेरा है, क्योकि अभी तक मैंने सत्य का गुण प्राप्त नही किया है। सत्य मुझसे दूर भागता है।"

वे अपने को ताडना देते ही रहे। यह स्थिति कबतक बर्दाश्त की जा सकती थी ! सारे युवक एक-एक करके उनके सामने आये और उन्होने अपना अपराध स्वीकार कर लिया।

सच्चा वैष्णव कौन ?

रवीन्द्र

•

यह इलाका मेरे लिए नया नही है। कई बार यहा आ चुका हू । कभी चुनाव के सिलसिले मे तो कभी अछूतोद्धार के बारे मे। यह जो गढी दीखती है, इसमे ठाकुर रामरतनसिंह का दरबार लगा करता था । भूखे को अन्न और नगे को वस्त्र देना तो उनका पहला काम होता था। लोग उनका नाम सुनकर दूर-दूर से आया करते थे और अपनी मुरादे पूरी करके उन्हे असीसते जाते थे । भगवान ने सबकुछ दिया था। घर हमेशा हरा-भरा रहता था, रोज के पन्द्रह-बीस मेहमान तो मामूली बात थी। गढी के पीछे वह मैदान देखते हो, जहा सरकडे से हाथ-पाववाले बच्चे आख मिचौनी का ढोग कर रहे है, वह सचमुच एक तालाब था, जिसमे बारहो महीने पानी भरा रहता था । बडे ठाकुर के पुण्य प्रताप से गाव मे कभी किसी चीज की कमी न हुई । कभी वर्षा को देर हो गई तो तालाब का पानी खेती को हरा-भरा रखता था । कभी बुद्धिमान लोगो ने सिंचाई के पैसे लेने के लिए सुझाव दिया तो बडे ठाकुर कह दिया करते थे "अरे, जाने भी दो, हवा और पानी भगवान की देन है। इनके लिए भा पैसा लिया जाता है कही ? इतने कजूस न बनो । हमे भगवान ने सबकुछ दिया है फिर नदीदे की-सी बाते क्यो करते हो ?" कहनेवाला अपना-सा मुह लेकर रह जाता और फिर बरसो तक यह बात न उठती ।

आज ये सब बाते हातिमताई के किस्सो जैसी लगती है। बडे ठाकुर क्या गये, गाव की लक्ष्मी चली गई । उनके जाने के कुछ ही दिनो बाद तालाब मे पानी की जगह रेत ने ले ली । गढी के दरवाजे मेहमानो और जरूरतमन्दो के लिए बन्द हो गये। अब आने लगे उनकी जगह कलट्टर साहब और जट साहब और सेठ साहब और न जाने कौन-कौन साहब ! कोई बडे ठाकुर की बात चलाता तो नये मालिक कह देते, "हाजी, तुम लोग तो उनकी तारीफ करोगे ही । मुफ्त की रोटिया तोडने की आदत जो हो गई है। जब वह मरे तो इतनी बडी गढी मे पचास रुपये भी न निकले । आज पटना और कलकत्ते तक इस गढी का नाम है। एक चटकल चल रही हे, शहर मे नाम हो रहा है, फिर भी तुम लोग बडे मालिक का ही नाम रटते रहते हो।"

बात यह हे कि बडे ठाकुर नये साल के दिन मरे थे और उनकी आदत थी कि पैसा इकट्ठा न करते थे। सारे साल दोनो हाथो से लुटाते रहते थे और साल के आखिरी दिन जो कुछ तिजोरी मे होता सबका-सब भगवान के अर्पण कर देते । नया साल नई आमदनी से शुरू होता था।

लेकिन आज इस गाव की क्या हालत है ? लहलहाती खेती के नाम पर कही हरी पत्ती तक नही दिखाई देती। जिस किसीको कोई हीला मिला, वह गाव छोडकर भाग गया । यहा रह गये है नर-ककाल, जो मनमानी धूल फाक सकते है और हवा पी सकते है, क्योकि और तो कुछ है नही। सबका कहना है कि बडे ठाकुर का भाग्य सबको दो जून खाना देता था और नये मालिक ने मुह के कौर भी छीन लिये ।

इधर दो साल से वर्षा का नाम तक नही है । सरकार ने इधर-उधर से खाना जुटाकर यह व्यवस्था की है कि जिनके पास कुछ नही है, उन्हे खाना मिल जाय । नये-नये काम शुरू किये गए है, जिनमे मजदूरी करके आदमी पैसा कमा सकता है और उस पैसे से सरकारी रसोईघरो से सस्ते दामो मे खाना पा सकता है। जो काम करने योग्य नही है, उसे लाल कार्ड मिल जाते है ताकि वे भी उन रसोईघरो मे जाकर अपना गढा भर सके । मुझे इस गाव

मे इसी सिलसिले मे भेजा गया है। गढी की प्रतिष्ठा तो है ही, इसलिए जिला अधिकारियो ने इस गाव मे अन्न बाटने का काम ठाकुर तहसीलदारसिंह को दे दिया है। वडे-बडे अफसर ठाकुर से परिचित है और उनके काम की वडी प्रशसा करते है।

मैने जैसे ही गाव मे पैर रखा कि चारो ओर से हाड-पिजरो ने घेर लिया। मै परेशान था कि हे भगवान, यह कैसा दु स्वप्न देख रहा हू। मैने तुरन्त अपने हाथ मे चिउटी काटकर इस बात की परीक्षा की कि मै सो तो नही रहा। इस गाव के हिसाब मे मनो दाल-चावल आ चुका था। रजिस्टरो के हिसाव से हर आदमी को दो समय खिचडी मिल रही थी और खिचडी भी कैसी ? आलू और प्याज के साथ। इतना खाकर भी इन लोगो का यह हाल क्यो है ? मेरा दिमाग इस प्रश्न का उत्तर न दे पाता था। गढी मे मेरा खूब आदर-सम्मान हुआ और वही ठहरने का इन्तजाम भी हुआ, पर मैने चौपाल मे रहना पसन्द किया।

चौपाल मे रहने से मेरी आखे खुल गईं। वहा पता लगा कि तहसीलदारसिह अन्न बाटने का पुण्य तो खूब लूट रहे है, पर उनके छोटे भाई दिलदारसिह अपना घर भरने की योजना पूरी करने मे लगे रहते है। यानी अन्धा बाटे रेवडी, अपने ही को देय। हर बोरे मे से पाच सेर चीज तो उनके कोठार मे पहुच ही जाती है और उनके घर के धोबी, नाई, बारी, कहार सब लाल कार्ड लेकर खाने आ पहुचते है और इसके बदले उन्हे काम की तनखा से हाथ धोना पडता है।

मैने ठाकुर को ठीक करने की सोची, परन्तु वाह रे हिन्दुस्तान ! मैने कई लोगो को साक्षी बनाकर ठाकुर की पोल खोलने की ठानी, पर सभीने कह दिया, "नही महा-राज, हमने बडे ठाकुर का नमक खाया है, उनके बेटे को कैसे वदनाम करे ! अब जो जैसा करेगा, भरेगा।"

मै गाव से निराश होकर लौट रहा था। मै सोच रहा था यह भी क्या देश है ! दधीचि और कर्ण ने यही जन्म लिया था, रन्तिदेव भी इसी देश के थे और कहा आज हमारे ठाकुर दान के अन्न मे से पैसा बना रहे है। इतने मे सामने से एक निहुरी कमर की बुढिया दिखाई दी। इसका वेटा सत्याग्रह के दिनो मे काम आ चुका था। बुढिया इस आयु मे इधर-उधर घूमकर गोबर इकट्ठा करती थी, उसके उपले बनाकर बेचती थी और इस तरह अपने पेट को धोखा दे लेती थी। मैं उसे देखकर ठिठक गया। उससे इधर-उधर की बात चलाई और फिर कहा, "दादी, तुम मानो तो लाल कार्ड बनवा दू। अव तुम्हारी उपले बनाने की उमर नही है और आजकल गोबर भी कहा मिलता होगा ?" दादी एकदम सीधी होने की कोशिश करते हुए बोली, "नही वेटा, खुदा ने हाथ-पाव दिये है, फिर क्यो किसीके आगे हाथ फैलाऊ। जब उसने पेट दिया है तो दो टुकडे भी देगा। लाल कार्ड उनके लिए है, जिनके हाथ-पाव नही चलते।"

मै अवाक् रह गया। कहा गढीवाले और कहा यह बुढिया। मैने सोचा, यह भारत-भूमि पर ही सम्भव है। मैंने मुसलमान बुढिया के चरणो की धूल ली और आगे चल पडा।

स्वावलम्बन स्वतन्त्रता की बुनियाद और परावलम्बन गुलामी की निशानी है।

—महात्मा गांधी

गांधी-विचारधारा का मूल : हृदय-परिवर्तन

गो० प० नेने

●

गांधीजी और हृदय-परिवर्तन—इन दो शब्दो का समीकरण आधुनिक काल मे इतना दृढ हो चुका है कि गाधीजी की जीवन-दृष्टि का मूलगामी विचार करते समय उसपर चिन्तन करना अनिवार्य हो जाता है। गाधीजी के रहते उनके सिद्धान्तो मे आस्था रखनेवाले चिंतनशील व्यक्तियो ने इस विषय पर भाष्य और समर्थन किया। गाधीजी के आलोचको ने और खास तौर से उनके राजनैतिक विरोधियो ने हृदय-परिवर्तन की बात को लेकर काफी टीका-टिप्पणी की। स्वभावतया यह अनेक वार आम लोगो की चर्चा का विषय वना। गाधीजी इस बात पर बराबर जोर देते थे कि मनुष्य विकसनशील प्राणी है। विकासोन्मुख होना उसका स्वभाव धर्म हे। मनुष्य की सामाजिक प्रगति का मूलाधार यह विकासोन्मुखता है। यदि मनुष्य-समाज मे किसी तरह का राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक जैसा कोई परिवर्तन लाना हो तो हृदय-परिवर्तन से ही यह बात सम्भव होगी। इस प्रकार विचारधारा का मूल आधार ही परिवर्तनशील मानव है। इसीलिए जब कोई समस्या उठती तो गाधीजी मनुष्य की मूलगत सद्-भावना के प्रति आस्था दिखाकर उसके आवाहन की बात उठाते थे। इस प्रक्रिया से ही हृदय-परिवर्तन सम्भव होता है और समस्याओ का सुलझाव अपने आप सरल हो जाता है।

परिवर्तन लाने के दो तरीके हैं—१ किसी बाहरी साधन द्वारा विशेष अवस्था का लादा जाना अथवा २ स्वय प्रेरणा से समाज द्वारा उस अवस्था का स्वीकार किया जाना। यद्यपि इतिहास मे ऐसी अनेकानेक घटनाए मौजूद हैं जो इस बात की साक्षी हैं कि किस प्रकार मनुष्य ने मनुष्य पर घोर अन्याय किये और अपनी ही जातिवालो को गुलाम वनाया। ऐसा माननेवाले लोग भी कम नही है, जो शासक-शासित, शोषक-शोषित, आक्रामक-आक्रमित, प्रभु-प्रजा जैसे दो वर्गो का अस्तित्व अनिवार्य मानते है। यही नही, उनकी दृष्टि मे समाज मे चिर शाति और सुखसमृद्धि के लिए इस स्थिति का होना आवश्यक है। मानव-समाज के लिए आधुनिक समानता का आदर्श उनकी दृष्टि मे केवल कल्पना मात्र है जो कभी सिद्ध होनेवाला नही। ये लोग ऐतिहासिक सचाई के एक ही पहलू का बोध कराते रहते है और उसीको सम्पूर्ण सत्य माने बैठे है। उनका ध्यान दूसरी ऐतिहासिक प्रक्रिया की ओर दिलाने की आवश्यकता है। गाधीजी कहते थे कि मानव-समाज के इतिहास को देखने से यह साफ हो जाता है कि मनुष्य धीरे-धीरे और निश्चय से अहिंसक हो रहा है और यह सत्य वात है। मनुष्य के बौद्धिक विकास और ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति का यह अनिवार्य परिणाम है कि उसे विश्व के सन्दर्भ मे अपने लघु अस्तित्व का निरतर भान हो रहा है और वह सर्वसहारी वैज्ञानिक खोजो पर गर्व करने के बावजूद शाति की चिन्ता मे व्यस्त और त्रस्त है। एक ओर उसे बौद्धिक पराक्रम और वैज्ञानिक सामर्थ्य पर गर्व है तो दूसरी ओर वह सर्व-नाशकारी भविष्य की कल्पना से धीरज खो रहा है। वह पराक्रम का मोह और नाशकारी चिन्ता के बीच लडखडाता हुआ चिर शाति की प्रस्थापना मे सलग्न है। भस्मासुरी मनोवृत्ति और मानवी करुणा की खीचातानी मे वह आज अपने को पा रहा है। मनुष्य अभीतक हतबल नही हुआ है। आज ऐसा लगता है कि हिंसा और अहिंसा दोनो की धाराए अबाध और समान्तर चल रही है। इतिहासकाल मे भिन्न-भिन्न देशो मे छोटी-बडी लडाइया बराबर होती रहती थी। साम्राज्यवाद के भिन्न-भिन्न रूप मिलते थे। लेकिन आधुनिक काल मे हम सामाजिक समता की ओर धीरे-धीरे अग्रसर हो रहे है। समानता, स्वतत्रता, लोकतत्र,

समाजवाद आदि के नारो से जागतिक वातावरण गूज उठा है। लेकिन वैज्ञानिक खोजो के कारण जहा एक ओर सुख की सरिता वहना चाहती वहा दूसरी ओर विस्फोटक हिंसा के गढ भी जहा-तहा वनते दिखाई दे रहे हे। आज छोटी-मोटी लडाइया तो जारी है ही, पर अव जव वडा विस्फोट होता है तो वह महायुद्ध, जागतिक युद्ध का रूप धारण करता है। अब तो सपूर्ण एव सर्वसहारी-युद्ध की चर्चा और आशका है। अत यह कहना गलत नही होगा कि पहले जो हिंसा विखरे हुए रूप मे दिखाई देती थी, वह अव केन्द्रीभूत एव विस्फोटक अवस्था मे है। कौन किसपर हावी होगा यह प्रश्न है। ससार के चिंतनशील व्यक्तियो को इस स्थिति का भान है। अत यू एन ओ. जैसे जागतिक सगठन द्वारा आजकल शातिपाठ का गान हो रहा है और वह जागतिक शाति स्थापित करने मे यत्नशील है। महान राष्ट्रो के कर्णधारो का आज एकमेव उद्देश्य शाति स्थापना ही है।

व्यक्ति अथवा राष्ट्र मे से कोई भी क्यो न हो, हर तरह का परिवर्तन लाने के लिए स्थिति का भान कराना, सद्भावना का आहवान करना और भविष्यकालीन स्थिति का चित्र स्पष्ट करना, ये अवस्थाए अनिवार्य होती है। ऐसा करते समय उद्देश्य की प्रामाणिकता सिद्ध होनेपर ही परस्पर विश्वास वढता है। इसके लिए अहिंसक मनोवृत्ति की नितात आवश्यकता होती है। विचारो का आदान-प्रदान करनेवाले दोनो पक्षो मे अहिसक और विश्वासपूर्ण मनोवृत्ति से आदान-प्रदान होता हो तो किसी नतीजे पर पहुचना आसान हो सकता है। शुद्ध मन से ही यह सम्भव होगा। व्यक्ति अथवा समाज की मूलभूत मनोवृत्ति शाति का उपयोग लेने की ओर होती है। आक्रामक मनोवृत्तिवाले भी अत मे शाति ही चाहते है। यदि मनुष्य का मन अतत शाति चाहता हो तो उसी उपासना मे लग जाना और शातिमय उपायो से समस्याओ का हल निकालना उसका कर्तव्य हो जाता है। हिंसक साधनो से जो साध्य प्राप्त होगा वह अपने मे पूर्ण नही, क्योकि हिंसक उपायो से प्रतिहिंसा के वीज वोये जाते है और समय पाकर उस हिंसा का विस्फोट होता है। गाधीजी ने इसी कारण साधन की सुचिता पर साध्य के स्थायित्व की दृष्टि से वरावर जोर दिया। समस्या का स्थायी हल निकालने के लिए शुद्ध मार्ग अनिवार्य है। उसीसे मनुष्य मे विश्वास पैदा होता है और हृदय-परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त होता है।

वर्तमान युग हिंसा और अहिंसा के वलावल की परीक्षा का युग है। मास्को मे बैठे-बैठे बटन दबाकर अमरीका का नाश करने की ताकत रखनेवाले लोग भी अपने ही साम्यवादी एव सहारकारी दृष्टिकोण रखनेवाले भाइयो से पूछते हैं कि मनुष्य-समाज का ही सहार हुआ तो क्या उसकी राख के ढेर पर राज करना है? मनुष्य-समाज को जिदा रखना और उसे शान्तिमय जीवन व्यतीत करने का अवसर देना ही, सबका लक्ष्य होना चाहिए। राष्ट्रो के बीच परस्पर विश्वास और सद्भावना से शान्ति का वातावरण सम्भव होगा। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र इनमे से कोई भी क्यो न हो पारस्परिक विचार-विनिमय और सौहार्द्रपूर्ण वार्तालाप से समस्याए हल हो सकती है। गाधीजी का यही दृष्टिकोण था। सौहार्द्रपूर्ण वार्तालाप एक अहिंसक साधन है। परस्पर विचार जानने और विश्वास पैदा करने का वह उत्तम मार्ग है। इस तरीके से प्राप्त किया गया यश स्थायी हो सकता है।

गाधीजी ने साध्य-साधन को एक-दूसरे से अलग नही माना। दोनो सम्पूर्णत परस्परावलम्वी है। गाधीजी ने इस सिद्धान्त का भारत के राष्ट्रीय जीवन मे आविष्कार किया और प० जवाहरलाल नेहरू ने उसीका विस्तार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रो मे किया। अमरीका और रूस जैसे वली राष्ट्र भी इस वात से सहमत हुए कि आपस मे वार्तालाप करके ही समस्याओ का हल निकालना चाहिए। अणु-युग मे मानव-सहार टालने के लिए यही एकमेव प्रभावी मार्ग है। इससे समस्या का हल भले ही न हो, पर वास्तविकता का ज्ञान तो अवश्य होगा, जिससे जागतिक तनाव कम होने मे मदद मिलेगी। शातिमय वार्तालाप के लिए यू एन. ओ जैसे सगठन का उपयोग किया जा सकता है। यह वात ध्यान मे रखकर नेहरूजी ने उसे मजवूत वनाने पर वरावर जोर दिया। इस दृष्टि से वह चीन को यू एन ओ का सदस्य वनाने का आग्रह रखते थे। उन्होने सह-अस्तित्व और सह-जीवन के सिद्धान्त पर वरावर जोर दिया। कागो, चीन, पाकिस्तान आदि राष्ट्रो के साथ वार्तालाप से ही समस्याओ का हल

निकालने के लिए वह बराबर आवाहन करते रहे। अणवास्त्र प्रयोग के बारे मे समझौते के लिए प्रयत्न जारी रहा और अन्त मे समझौता हो गया। पण्डितजी के इस दृष्टिकोण को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे मान्यता प्राप्त हुई और उसका स्वागत हुआ। वर्तमान अणु-युग मे ससार के लोगो के लिए प्रलयकारी भविष्य का चित्र अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है। प्रलय या शान्ति मे से किसी एक को स्वीकार करने की आवश्यकता मे आज का मानव-समाज अपनेको पा रहा है। वह शान्ति चाहता है और उसे प्राप्त करने के लिए यत्नशील है। कम-से-कम आज वह शान्तिघोष तो अवश्य ही कर रहा है। उसके यत्न किस प्रकार साकार होगे यह बात भविष्य के गर्भ मे छिपी है।

जहा शोषक शक्तिया मजबूत एव प्रभावी होती हे वहा कई बार शान्तिमय वार्तालाप का साधन सफल नही होता। कभी-कभी समाज ऐसी मनोवस्था मे होता है कि शोपण की स्थिति को स्वीकार कर लेता है। उससे भी एक तरह से ऊपरी तौर पर समाज मे शान्ति और सतोष का वातावरण नजर आता है। यह अज्ञान, दुर्बलता, जडता और मानसिक पिछडेपन का द्योतक है। ऐसे समाज मे चेतना का स्फुलिग उत्पन्न करने के लिए बहुत यत्न करना पडता है। गलती से कुछ लोग ऐसी स्थिति को शान्ति समझ बैठते है और अन्यायपूर्ण स्थिति को बनाये रखने मे ही कर्तव्यपूर्ति मानते है। लेकिन यह स्थिति बदलने के लिए हर तरह से आवाहन एव प्रतिकार करने की आवश्यकता होती है।

गाधीजी ने शातिमय प्रतिकार को भी एक महत्वपूर्ण साधन माना। पर शातिमय वार्ता असफल होने पर ही उसका उपयोग करना है। उद्देश्य-सिद्धि प्राप्त करने मे प्रतिकार अतिम है। अन्याय का निश्चय होने और अन्य मार्ग अवरुद्ध होने पर ही केवल शातिमय प्रतिकार की नीति अपनायी जा सकती है। शातिमय आदोलन अथवा प्रतिकार मे किसी प्रकार के भय की गुजाइश नही। कायरता मनुष्य के लिए लाछन होगा। उसकी अपेक्षा लाचार होकर सशस्त्र एव हिंसक प्रतिकार समर्थनीय माना जाना चाहिए, क्योकि उसमे भय का नही वल्कि वीरता का प्रादुर्भाव होने का अवसर मिलता है। कायर की अहिंसा की अपेक्षा वीर की हिंसा समर्थनीय है। "कायर की अहिंसा" शब्द-प्रयोग भी ठीक नही। "कायर की कायरता" होती हैं, अहिसा नही। वीर की अहिसा हो सकती हे जिसका आदर किया जाता है। हिंसा की सामर्थ्य होते हुए जो सजगता के साथ सहेतुक अहिंसा का पालन करेगा, उसका महत्व और मान अधिक एव सार्थ होगा। उसकी क्षमाशीलता का कोई अर्थ हे। अहिंसक प्रतिकार शक्ति का महत्व सर्वोपरि हे। इसी प्रतिकार-शक्ति के बल का सचय करना मनुष्य समाज का कर्तव्य है। दुर्बल मे भी निर्भय प्रतिकार की शक्ति होती है। गाधीजी के नेतृत्व मे तो भारतीय स्वतत्रता का आदोलन हुआ। उसमे जनता नि शस्त्र थी। पर उसका मनोवल, निर्भयता प्रशसनीय थी। ऐसे प्रतिकार का प्रयोग अभी हाल ही मे चेकोस्लोवाकिया मे रूस द्वारा सैनिकी दबाव लाते जाने पर सफल हुआ हे। अमरीका मे निग्रो के प्रश्न को लेकर स्वर्गीय मार्टिन लूथर किंग के नेतृत्व मे जो प्रतिकार हुआ वह इसी मनोवल का उत्तम उदाहरण है।

गाधी-विचार-धारा की मूल भित्ति परिवर्तनशील मानव है। वह स्फोटक शक्ति और शाति सागर भी है। समष्टिरूप मानव को स्थायी शाति देना सबका साध्य है। उसके लिए यत्नशील होना चाहिए। तभी चलकर ऐहिक एव पारलौकिक सुख प्राप्त हो सकेगा। मनुष्य के लिए केवल आधिभौतिक प्रगति पर्याप्त नही। वह नि श्रेयसाभिमुख होने पर ही अभ्युदय प्राप्त कर सकता है। अहिसा और शाति उसका मार्ग है। मानव-परिवर्तन की प्रक्रिया मे इन दोनो का स्थान अनन्यतम है। उसीके कारण व्यवधान-रहित परिवर्तन सम्भव होगा। विचार-विनिमय, वार्तालाप, स्नेह-विश्वास, प्रमाणिकता और सहयोग, सामाजिक परिवर्तन के आधार है। सत्याग्रह अर्थात् अहिसक प्रतिकार का स्थान अत मे आता है। गाधी विचार-धारा की यह मूल भित्ति है।

जीवन-निर्माण की अनुभूतियां

श्रीमा

●

१

एक योगी था। उसे अद्भुत शक्तिया प्राप्त थी। एक बार उसके शिष्यो ने एक बहुत बडे भोज मे उसको निमन्त्रित किया। भोजन एक नीची, पर बडी-सी मेज पर परोसा गया। उन शिष्यो ने अपने गुरु से कहा, "आप अपनी शक्ति को किसी रूप मे दिखाइये।" वह यह जानता था कि ऐसा नही करना चाहिए, किन्तु महत्त्वाकाक्षा का बीज उसमे विद्यमान था और उसने सोचा—"मैं जो कुछ करने जा रहा हू वह आखिरकार एक बहुत निर्दोष चीज है और इससे यह होगा कि इन लोगो को यह विश्वास हो जायगा कि ऐसा कुछ किया जा सकता है और इससे इनको ईश्वर की महानता की शिक्षा मिलेगी।" इस प्रकार विचार करके उसने कहा, "मेज को हटा लो, केवल मेज को ही हटाओ और उसपर बिछी हुई चादर और समस्त थालिया ज्यो-की-त्यो पडी रहने दो।" यह सुनकर उसके शिष्य चिल्ला उठे, "ओह! ऐसा कैसे किया जा सकता है? सबकुछ गिर जायगा।" परन्तु उसने आग्रह किया और शिष्यो ने चादर के नीचे से मेज हटा ली। अब तो आश्चर्य के मारे सब-के-सब हक्के-बक्के-से रह गए। चादर और उसके ऊपर का सारा सामान ठीक उसी तरह पडा रहा, जैसा मेज नीचे रहने के समय था। परन्तु हठात् गुरु महाराज वहा से कूदकर चीखते और चिल्लाते हुए भागे, उन्होने कहा, "अब मैं कभी शिष्य नही बनाऊगा, कभी नही! मुझपर वज्र गिरे! मैने अपने भगवान् के साथ द्रोह किया है।" उसके हृदय मे आग जल रही थी, उसने स्वार्थ के लिए भागवत शक्तियो का उपयोग किया था।

शक्तियो का प्रदर्शन सदा ही बुरा है। इसका यह अर्थ नही कि इनका कोई उपयोग ही नही होता, परन्तु जिस प्रकार वे प्राप्त होती है उसी प्रकार उनका उपयोग भी होना चाहिए। वे भगवान् के साथ योग होने पर प्राप्त होती है और उनका उपयोग भी भगवान् के सकल्प द्वारा ही होना चाहिए, प्रदर्शन के लिए नही।

२

एक नवयुवक था। वह योग करना चाहता था। परन्तु उसका पिता नीच और क्रूर था, वह उसको बहुत कष्ट देता और उसको योग-साधना करने से रोकने की चेष्टा करता था। उस नवयुवक की तीव्र इच्छा हुई कि वह अपने पिता के हस्तक्षेप से मुक्त हो जाय। शीघ्र ही उसका पिता बीमार पडा, उसका रोग असाध्य हो गया और वह मरने के समीप पहुच गया। अब उस युवक की प्रकृति का दूसरा भाग जाग्रत हुआ और वह इस दुर्भाग्य को कोसता हुआ विलाप करने लगा, "आह मेरे पिताजी इतने बीमार हो गये! यह बडे दु ख की बात है। अरे मैं क्या करू?" उसका पिता अच्छा हो गया। युवक को बडी प्रसन्नता हुई और उसने एक बार फिर योग की ओर मुह किया। और उसका पिता भी दूने बल के साथ उसका विरोध करने लगा। बेटे ने अपने बाल नोच लिये और निराश होकर चिल्लाया, "अब मेरे पिताजी मेरे मार्ग मे और भी अधिक बाधक हो रहे है।"

३

सूर्य के प्रकाश से आलोकित एक सडक है, जो चढाई पर है और एक खडे पर्वत की ओर जा रही है। इस सडक पर एक बडा भारी रथ चल रहा है, जिसको छ मजबूत घोडे बडी कठिनाई से धीरे-धीरे खीच रहे है। रथ मद गति से पर लगातार आगे बढ रहा है। इतने मे एक आदमी आता है, इस परिस्थिति का अवलोकन करता है। वह रथ के पीछे चला जाता है और उसको पीछे से ठेलने लगता है तथा उसको ठेलकर पहाड पर पहुचा देने की

चेष्टा करता है। अब एक समझदार आदमी आता है और उससे कहता है, "भले आदमी, तुम क्यो व्यर्थ परिश्रम कर रहे हो ? क्या तुम यह समझते हो कि तुम्हारी इस मेहनत का कोई फल होगा ? तुम्हारे लिए यह असभव कार्य है। इसको करने मे घोडो को भी कठिनाई हो रही है।

अब इस दृश्य-दर्शन का कार्य समझने की चाबी छ घोडो के रूपक मे है। घोडे शक्ति के प्रतीक है और छ सख्या दिव्य सृष्टि का चिह्न है। अत छ घोडो का अर्थ हुआ दिव्य सृष्टि की शक्तिया। रथ आत्मसाक्षात्कार का, जिस वस्तु को उपलब्ध करना है, प्राप्त करना है, चोटी तक पहुचना है, उस ऊचाई तक पहुचाना है जहा कि दिव्य-प्रकाश का निवास है, उसका प्रतीक है। यद्यपि ये सृजन करनेवाली शक्तिया दिव्य है, कारण इनको महान् विरोध का सामना और प्रकृति के अधोगामी आकर्पण के विरुद्ध युद्ध करना पडता है। अब बेचारा मानव-प्राणी आता है, जो अपने अभिमान और अज्ञान से ग्रस्त है, जिसके पास मानसिक शक्तियो की जरा-सी सम्पत्ति है, और वह समझता है कि वह भी कुछ है और कुछ कर सकता है। उसके लिए तो सबसे उत्तम काम यह है कि वह रथ मे जाकर आराम से बैठ जाय और घोडो के कार्य मे अपनी अनुमति देता रहे।

४

एक बार एक नवीन धर्म के अधिपति ने, जोकि उस धर्म के सस्थापक का पुत्र था कहा कि उस अमुक धर्म की स्थापना मे इतने सौ वर्ष लगे और उस अमुक धर्म की स्थापना मे इतने सौ, किन्तु अभी पचास वर्ष के अन्दर ही उनके धर्म के अनुयायी चालीस लाख से भी अधिक हो गये हैं। सो "आप देखती है" उसने कहा "हमारा धर्म कितना महान् है।" धर्मो की महानता भले ही उनके अनुयायियो की सख्या के परिमाण मे समझी जाय, किन्तु सत्य का यदि एक भी अनुयायी न हो तो भी वह सत्य ही रहेगा। औसत मनुष्य बडी-बडी बाते करनेवालो के प्रति आकर्षित हो जाता है। जहापर शान्त भाव से सत्य की अभिव्यक्ति हो रही है, वह वहा नही जाता। जो लोग बडी-बडी बाते बनाते है, उन्हे ही ढिढोरा पीटने और विज्ञापन देने की आवश्यकता होती है, क्योकि इसके बिना वे लोगो को बहुत अधिक सख्या मे आकर्षित नही कर सकेगे। जो कार्य सहज भाव से किया जाता है और जिसमे इस बात की परवा नही की जाती कि लोग उसके सम्बन्ध मे क्या कहते होगे, वह इतना अधिक विख्यात नही होता, इतनी आसानी से लाखो की तादाद मे जनसमुदाय को अपनी ओर आकर्षित नही करता। परन्तु सत्य को किसी विज्ञापन की आवश्यकता नही, वह अपनेको छिपाता नही, पर वह अपना ढिढोरा भी नही पीटता। वह अपनी अभिव्यक्ति मात्र से सन्तुष्ट रहता है, परिणामो की ओर से वह बेपरवाह रहता है, उसको न लोगो की स्तुति की चाह होती है, न निन्द से क्षोभ। अगर ससार उसको स्वीकार करे तो उससे व आकर्षित नही होता, न अस्वीकार किये जाने पर विचलित ही।

जब तुम योगमार्ग को अपनाते हो तो तुम्हे इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि तुम्हारे मन ने जो सब इमारते खडी कर रखी है और तुम्हारे प्राण ने जो सब मचान बाध रखे है उन सबके तुम टुकडे-टुकडे होते हुए देख सको। तुम्हे इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि तुम हवा मे अकेले लटकते हुए रह सको तथा श्रद्धा के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार का सहारा वहा तुम्हारे पास न हो। अपने भूतकाल के व्यक्तित्व और उसकी आसक्तियो को तुम्हे एकदम भूल जाना होगा, उसे अपनी चेतना मे से निकाल बाहर करना होगा तथा एक ऐसा नया जन्म लेना होगा, जो समस्त बन्धनो से मुक्त हो। तुम पहले क्या थे, इसका चिंतन मत करो, बल्कि अब जो कुछ होना चाहते हो, केवल उसीका चिंतन करो, जिस सिद्धि को तुम प्राप्त करना चाहते हो, केवल उसीमे तन्मय हो जाओ। अपने मृत भूतकाल की ओर पीठ कर लो और सीधे अपने भविष्य की ओर दृष्टि रखो। तुम्हारा धर्म, तुम्हारा देश, तुम्हारा परिवार तो एक ही है—स्वय भगवान्।

५

एक योगी नर्मदा के तीर पर लगभग एक शताब्दी से रहते थे और इतने वृद्ध होने पर भी अत्यन्त हट्टे-कट्टे और बहुत ही तन्दुरुस्त थे। एक बार उनके किसी शिष्य ने दात के दर्द के लिए उन्हे कोई औषधि दी। योगी ने औषध लेने से इन्कार करते हुए कहा कि उन्हे वह दात

तो प्राय दोसौ वर्षों से कष्ट देता आया है। इन महात्मा ने अपनी स्थूल प्रकृति को इतना वश मे कर लिया था कि वह प्राय आठसौ वर्षो तक जी सके, किन्तु इतने दीर्घकाल मे भी वह इस दात के दर्द पर विजय प्राप्त नही कर सके थे।

कुछ रोग, जो अत्यन्त खतरनाक गिने जाते है, उन्हे आराम करना बहुत सहज होता है और कुछ जो अति नगण्य गिने जाते है, वे बहुत ही हठपूर्वक प्रतिरोध कर सकते है।

रोग के खतरे का नवदसाश भाग भय से पैदा होता है। भय के कारण किसी रोग के लक्षण प्रकट हो सकते है, बल्कि इसकी वजह से स्वय रोग तक भी हो जा सकता है। हाल की ही बात है। एक सज्जन, जो इस आश्रम मे बराबर आया-जाया करते है, उनकी धर्मपत्नी ने जो स्वय योग नही करती, सुना कि उसका ग्वाला जिस घर मे रहता है, उस घर मे किसीको हैजा हुआ हे। वह भयग्रस्त हो गई और दूसरे ही क्षण उनके अन्दर हेजे के लक्षण दिखाई देने लगे। उनको तुरन्त आराम किया जा सका था, कारण उनके अन्दर रोग के जो लक्षण दिखाई दिये, उन्हे वास्तविक रोग मे परिणत न होने दिया गया।

६

मै कुछ ऐसे लोगो को जानती हू, जिनकी शिक्षा बहुत कम हुई थी और जो बहुत कुशल नही थे, किन्तु फिर भी उनको योग के द्वारा लेखन-कला और चित्रकारी की अति सुन्दर योग्यता प्राप्त हुई थी। मैं तुमको इस बात के दो उदाहरण दे सकती हू। इनमे एक युवती थी जिसे किसी तरह की भी शिक्षा नही मिली थी। वह नर्तकी थी और साधारणतया अच्छा नाचती थी। योग ले लेने के बाद वह केवल अपने-अपने मित्रो के आगे ही नाचती थी, किन्तु अब उसके नृत्य की भावव्यजना और सुन्दरता मे एक ऐसी गहराई आ गई जो पहले नही थी, और यद्यपि वह शिक्षित नही थी, फिर भी वह आश्चर्य-जनक लेख लिखने लगी। इसका कारण यह था कि उसे सूक्ष्म जगत के दृश्यो का दर्शन होता था और उनका वर्णन वह अत्यत सुन्दर भाषा मे करती थी। परन्तु उसके योग मे उतार-चढाव आता था, और जब वह अच्छी अवस्था मे होती तब तो सुन्दर ढग से लिखती, अन्यथा वह सर्वथा मन्द, मूर्ख और रचना-शक्तिविहीन हो जाती थी। दूसरा एक नौजवान था, जिसने कला का अध्ययन किया था, किन्तु बिलकुल थोडा-सा ही। वह किसी कूटनीतिज्ञ का लडका था, उसे कूटनीतिक जीवन की शिक्षा-दीक्षा दी गई थी, किन्तु उसका जीवन भोग-विलास मे बीतने लगा और वह ऊचे दर्जे की पढाई न कर सका। फिर भी ज्योही उसने योग करना आरम्भ किया, वह अन्त स्फुटित चित्रकारी करने लगा जिसमे किसी आन्तरिक ज्ञान की अभिव्यक्ति झलकती थी और जो प्रतीकात्मक प्रकार की होती थी। अन्त मे वह महान कलाकार हुआ।

७

जब बचपन मे मैं अपनी मा से भोजन या किसी ऐसी छोटी-सी बात के विषय मे शिकायत करती तो वह मुझसे सदा यही कहती कि जाओ, इन तुच्छ विषयो की चिन्ता न करके अपना काम करो या पढो-लिखो। वह मुझसे कहती कि क्या तुमने अपने विषय मे यह सुखद भावना बना रखी है कि तुम आराम के लिए पैदा हुई हो ? वह कहती 'तुम उच्च आदर्श को चरितार्थ करने के लिए जन्मी हो।' और इतना कहकर मुझे चलता करती। वह बिल्कुल ठीक कहती थी यद्यपि इसमे सदेह नही कि सर्वोच्च आदर्श के विषय मे उनका विचार हमारे मानदडो से कही छोटा था। हम सभी सर्वोच्च आदर्श के लिए उत्पन्न हुए है। अत जब कभी हमारे आश्रम मे अधिक आराम और भौतिक सुख की कोई तुच्छ माग पूरी नही की जाती तो यह तुम्हारी भलाई के लिए और जिस उद्देश्य के लिए तुम यहा आये हो, उसकी पूर्त्ति के लिए ही होता है। माग की अस्वीकृति वस्तुत उतने अश मे कृपा ही है, जहातक कि तुम इसके द्वारा उस सर्वोच्च आदर्श के योग्य और उसके अनुसार गढे जाने के अधिकारी समझे जाते हो।

८

मुझे पेरिस की कला प्रदर्शिनी के उद्घाटन के वार्षिक समारोह का स्मरण हो आता है। उस अवसर पर वहा का राष्ट्रपति चित्रो का निरीक्षण करता है, जोर-जोर से बोलकर बताता है कि अमुक चित्र किसी दृश्य का है और

अमुक किसी प्राणी का। वह इतनी लचर टिप्पणी ऐसे हाव-भाव से करता है मानो उसे चित्रकला का अत्यत प्रगाढ मर्मस्पर्शी ज्ञान हो। चित्रकारो को खूब पता होता है कि यह टिप्पणी कैसी वेकार है और फिर भी वे राष्ट्रपति की साक्षी को अपनी प्रतिभा के प्रमाणस्वरूप उद्धृत करने का मौका कभी नही चूकते। सचमुच ही यश का ऐसा भूखा लालची है मनुष्य का प्राण।

प्राण की एक अत्यन्त साधारण माग प्रशसा की प्राप्ति होती है। यदि इसकी निन्दा की जाय और इसके साथ ऐसा बरताव किया जाय, मानो यह एक तुच्छ वस्तु हो तो वह इसे बुरा लगता है। परन्तु इसे डाट-फटकार के लिए बरावर तैयार रहना होगा और उसे पूर्ण शान्ति से सहना होगा। इसे अपनी प्रतिष्ठा की ओर ध्यान नही देना चाहिए, यह कभी नही भूलता चाहिए कि कामनापूर्ति की एक-एक चेष्टा सत्य के अधिपतियो की वेदी पर चढावा चढाने के बरावर है।

..

प्राणशक्ति के सूक्ष्म लोक की सत्ताए, जिनसे हमारा प्राण सम्बन्ध है, अपने भक्तो की पूजा पर फलती-फूलती है इसीलिए वे नए मत-मतान्तरो की प्रेरणा सचारित करती रहती है, ताकि उनकी पूजा, प्रतिष्ठा और स्तुति के महा-भोज कभी समाप्त न होने पावे। उसी प्रकार तुम्हारा अपना प्राणमय पुरुष तथा उसकी मूलवर्ती प्राणशक्तिया दूसरो की की हुई चापलूसियो से पल-पुसकर पनपती है अर्थात् और भी अधिक स्थूल अज्ञान मे ग्रस्त हो जाती है। परन्तु तुम्हे स्मरण रखना चाहिए कि हमारे समान अज्ञान के स्तर पर रहनेवाले मनुष्य हमारी जो स्तुति करते है वह असल मे कौडी काम की नही, वह उतनी ही निरर्थक है जितनी ऐसे आदमियो की की हुई हमारी निन्दा। ऐसे लोग चाहे कितने ही आडबरशाली क्यो न हो, पर उनकी की हुई निन्दा-स्तुति वृथा एव नि सार होती है, तथापि दुर्भाग्यवश, प्राण गले-सडे भोजन के लिए भी तरसता है और इतना लोभी होता है कि अयोग्यता के साक्षात् अव-तारो से भी प्रशसापत्र स्वीकार कर लेता है।

९

इसका अभिप्राय समझाने के लिए मैं तुम्हे एक निजी अनुभव सुनाती हू। यह अनुभव उस समय का है जब मैं पाडिचेरी मे श्रीअरविन्द से पहले-पहल मिली थी। मै गहरे ध्यान मे थी, अतिमानस मे वस्तुओ का स्वरूप देख रही थी—उन वस्तुओ का, जो भविष्य मे जन्म लेने-वाली थी, पर जो किसी कारण प्रकट नही हो रही थी। जो कुछ मैंने देखा था वह श्रीअरविन्द को बताया और उनसे पूछा कि क्या ये चीजे प्रकट होगी। उन्होने उत्तर मे केवल 'हा' ही कहा। उसी क्षण मैंने देखा कि अति-मानस ने पृथ्वी का स्पर्श किया और चरितार्थ होना शुरू हो गया। यह पहला अवसर था, जब मैंने सत्य को वास्त-विक रूप देने की शक्ति अपनी आखो देखी। ठीक यही शक्ति तुम्हे सत्य की उपलब्धि करायगी जब तुम पूरी सच्चाई के साथ इसकी शरण मे आओगे, यह कहते हुए कि 'इस असत्य से में मुक्त होना चाहता हू' और तुम्हे इसका उत्तर मिलेगा 'हा।'

१०

वह भीषण तूफान की रात तुम्हे याद ही होगी। चारो ओर घनघोर शब्द और मूसलाधार वर्षा हो रही थी। मैने सोचा, श्रीअरविन्द के कमरे मे जाऊ और उन्हे खिडकिया बन्द करने मे सहायता दू। मैंने उनके कमरे का दरवाजा खोला और देखा कि वह अपनी मेज पर शान्त बैठे है और लिख रहे है। कमरे मे ऐसी ठोस शान्ति थी कि किसीको स्वप्न मे भी ख्याल नही आ सकता था कि बाहर तूफान चल रहा है। सब खिडकिया पूरी खुली थी, वर्षा की एक बूद भी अन्दर नही आ रही थी।

... ...

प्रत्येक मनुष्य के निकटतम प्रभाव के क्षेत्र मे, युक्त वृत्ति प्रत्येक घटना को केवल लाभदायक ही नही बना सकती, बल्कि उसे पलट भी सकती है। उदाहरणार्थ, जब कोई आदमी तुम्हारा वध करने आता है, तब यदि तुम साधारण चेतना मे रहो और भयभीत होकर होश-हवास खो बैठो, तो वह जिस काम के लिए आया था, बहुत सम्भवत उसे करने मे सफल हो जायगा, यदि तुम जरा ऊचे उठ जाओ और चाहे भयग्रस्त दशा के रहते भी भागवत सहायता के लिए पुकार करो, तो सम्भवत उसका वार जरा चूक जायगा और वह तुम्हे मामूली-सी चोट ही पहुचा पायगा,

परन्तु यदि तुम्हारी वृत्ति युक्त हो और तुम अपने चारो ओर सर्वत्र दिव्य उपस्थिति को पूर्ण रूप से अनुभव कर सको तो वह तुम्हारे ऊपर उगली भी नही उठा सकेगा।

यह सत्य रूपान्तर की सम्पूर्ण समस्या की कुजी है। सदा दिव्य उपस्थिति के सम्पर्क मे रहो, उसे उतार लाने का यत्न करो—और तब सदा वही होगा जो अच्छे-से-अच्छा हो सकता है।

... .

यदि तुममे से प्रत्येक अपनी शक्तिभर यत्न करे, तो यह एक उचित सहयोग की स्थिति होगी और इसके अनुसार ही सफलता भी शीघ्र प्राप्त होगी। युक्त-वृत्ति के बल के मैने कितने ही दृष्टान्त देखे हैं। मैने देखा है कि एक अकेले व्यक्ति के युक्त-वृत्ति धारण करने से जनसमूह सकटो से बच गये है।

११

मेरा एक मित्र था। वह अपने प्राणिक शरीर मे चला जाया करता था। एक बार उसने शिकायत की कि सदैव एक भयानक शेर मेरे सामने आता है, जो मेरी रात को कष्टपूर्ण बना देता है। मैने उससे कहा कि तुम सब भय निकाल फेको और सीधे उस पशु की ओर चले जाओ, उसे घूरकर देखो और यदि आवश्यकता हो तो बेशक सहायता के लिए पुकार भी करो। उसने ऐसा ही किया। फिर क्या था, वह सिंह सहसा एक मामूली बिल्ली ही तो बन गया।

... ...

किसी प्राणिक सत्ता के सामने निर्भयतापूर्वक घूरकर देखने का जो चमत्कार-सा प्रभाव होता है उसका तुम्हे कुछ भी पता नही है। इस ससार मे भी यदि तुम प्राणिक शक्तियो के उन सब साकार-रूपो के साथ, जिन्हे हम साधारणत पशु कहते है, इसी प्रकार व्यवहार करो तो तुम अवश्य ही आसानी से उन्हे वश मे कर लोगे। एक भौतिक सिह भी तुम्हे देखकर भाग जायगा यदि जरा भी भयभीत हुए बिना तुम उससे आख मिला लो। साप तुम्हे कभी काट नही सकेगा, यदि तुम लेशमात्र भी भय अनुभव किये बिना उसकी दृष्टि मे दृष्टि गढा सको। केवल कापते घुटनो के साथ उसे देखने से तो कुछ नही बनेगा। तुम्हारे अन्दर जरा भी व्याकुलता नही होनी चाहिए। तुम्हे शान्त और समाहृत रहना चाहिए, जब तुम उससे आख मिलाओ और वह तुम्हे तुच्छ भय से विमोहित करने के लिए अपना फण हिला रहा हो। पशुओ को पता है कि मनुष्य की आखो मे एक ऐसा प्रकाश है, जिसे वे सह नही सकते, यदि वह उनकी ओर ठीक ढग से डाला जाय। मनुष्य की दृष्टि मे, यदि यह स्थिर और निर्भय हो, एक ऐसी शक्ति है जो उन्हे पराभूत कर देती है।

अतएव सक्षेप मे दो बाते स्मरण रखो कभी मत डरो, कभी भी मत डरो और सभी परिस्थितियो मे यथार्थ सहायता के लिए पुकार करो। इससे तुम्हारी सामर्थ्य सैकडो गुणा बढ जायगी।

१२

" 'थोडी देर बाद' का रास्ता और कल की सडक हमे केवल 'कुछ नही' के दुर्ग की ओर ही ले जाते है।"

रास्ते के दोनो ओर खिले रग-बिरगे फूल आखो को लुभा रहे है। छोटे-छोटे पेडो की गठीली डालियो पर लाल फल चमक रहे हैं और सुदूर खेतो मे दैदीप्यमान सूर्य अन्न की पकी बालो को सुनहला बना रहा है।

एक युवा पथिक प्रात काल की निर्मल वायु मे सुखपूर्वक श्वास लेता हुआ सावधान पगो से आगे बढ रहा है। वह प्रसन्नचित्त प्रतीत होता है—भविष्य के बारे मे बिल्कुल निश्चिंत। जिस रास्ते पर वह चल रहा है वह एक चौराहे पर समाप्त होता है। वहा से कई मार्ग भिन्न-भिन्न दिशाओ मे फट जाते है।

युवक को सर्वत्र पदचिन्ह दृष्टिगोचर है, जो एक-दूसरे को काटते हुए चारो ओर निकल गये है। आकाश मे सूर्य लगातार चमक रहा है। पेडो पर पक्षी चहचहा रहे हैं। दिन निश्चय ही अत्यन्त सुन्दर है। बिना सोचे-विचारे पथिक सबसे निकट का मार्ग पकड लेता है और वह उसे अधिक सुगम भी प्रतीत होता है। एक क्षण के लिए वह सोचता है कि वह कोई और मार्ग भी तो चुन सकता था, पर फिर वह कहता है कि यदि इस रास्ते ने उसे कही न पहुंचाया तो वापस मुडने का समय तो सदा ही रहेगा। एक ध्वनि उससे ऐसा कहती प्रतीत होती है :

"लौट आ, वापस लौट आ, तू ठीक रास्ते पर नही है।" परन्तु चारो ओर का वातावरण उसे आकर्षक और सुखद लगता है। उसे कुछ समझ मे नही आता कि वह क्या करे। बिना कुछ निश्चय किये वह चलता जाता है। तत्क्षण के सुख का वह आनन्द लेता रहता है। ध्वनि को वह उत्तर देता है

"थोडा और, थोडा और। मै फिर सोचूगा, अभी तो बहुत समय है।" उसके चारो ओर की जगली घास उसके कान मे फुसफुसाती है

"हा, थोडी देर बाद।"

थोडी देर बाद, हा थोडी, देर बाद। अहा, इस सुगधित वायु मे श्वास लेना कितना सुखप्रद है जबकि सूरज अपनी उष्ण किरणो से हवा मे एक मीठी गरमाहट ला रहा है। थोडी देर बाद, थोडी देर बाद। यात्री अभी भी चलता जाता हू। रास्ता लम्बा हो रहा हे। दूर से आवाजे सुनाई पडती है

"अभागे ! तू कहा जा रहा है ? तुझे सूझता नही कि तू विनाश के पथ पर है ? तू युवक है। हमारी ओर आ, सत्य की ओर आ, शिव की ओर आ, सुन्दर की ओर आ। आसान और लुभावने पथ के फेर मे न पड। वर्त्तमान मे ही न सो जा, भविष्य की ओर बढ।" "थोडी देर बाद, थोडी देर बाद।" यात्री उन अप्रिय ध्वनियो को एक ही ही उत्तर देता है। फूल उसकी ओर मुस्कराते है और बार-बार कहते है, "हा, थोडी देर बाद।" मार्ग लम्बा होता जा रहा है। सूर्य चोटी पर पहुच गया है। दिन लुभावना है। रास्ता एक चौडी सडक मे बदल गया हे।

सडक सफेद और धूमिल है। किनारो पर लम्बे और पतले चीड के पेड खडे हे। पास मे एक छोटी नदी के बहने का मद स्वर सुनाई दे रहा है। वह व्यर्थ ही चारो ओर खोजता है। उस अनन्त पथ का कोई सिरा उसे दिखाई नही पडता।

युवक को अब एक अस्पष्ट व्याकुलता-सी अनुभव होने लगती है, वह चिल्ला पडता है, "मैं कहा हू ? कहा जा रहा हू ? पर कोई हर्ज नही। क्यो सोचू, क्यो कुछ करू ? आज तो इस कभी समाप्त न होनेवाले पथ पर चलने दो, बढने दो, सोचूगा कल।"

वे छोटे पेड भी अब अदृश्य हो गये। सडक के किनारो पर अब बलूत के वृक्ष है। दोनो ओर की सकरी घाटी नाला-सी बन गई है। यात्री को थकावट का नामोनिशान नही, वह अचेतन-सी अवस्था मे आगे बढता जाता है।

घाटी और गहरी हो गई है। बलूत के वृक्षो का स्थान अब सनोवर ने ले लिया है। सूर्य ने नीचे उतरना शुरू कर दिया है। यात्री व्याकुल भाव मे चारो ओर देखता है। घाटी मे लोटती हुई, सनोवर के पेडो, ढालू चट्टानो और जमीन से बाहर निकली जडो के साथ चिपटी हुई मानुषी आकृतियो की ओर उसकी दृष्टि उठती है। उनमे से कुछ ऊपर उठने का बहुत प्रयत्न कर रही हैं, पर ऊपर पहुचते ही वे अपना सिर घुमा लेती हैं और फिर नीचे गिर पडती है। मद ध्वनिया यात्री से अब भी कह रही हैं

"इस स्थान से बच निकल, वापस उसी चौराहे पर पहुच जा। अभी भी समय है। युवक कुछ दुविधा मे पडता है, फिर उत्तर देता है—"कल," वह अपना मुह हाथो से ढक लेता है, जिससे वह घाटी मे लोटती हुई मूर्तियो को न देख सके और पथ पर दौड पडता है। एक अदम्य प्रेरणा उसे आगे ही लिये जा रही है। वह यह भी नही जानना चाहता कि उसे कुछ प्राप्ति होगी या नही। माथे पर सिलवटे पड गई है, वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये है, पर वह अधाधुध भागता ही जाता है। अन्त मे जब उसे यह विश्वास हो जाता है कि वह उस भयावने स्थान से बहुत आगे निकल गया हे तो वह अपनी आखे खोल लेता है। अब सनोवर के पेड भी नही है। सर्वत्र रूखी-नगी चट्टाने धूल-धूसरिता-सी पडी हैं। सूर्य क्षितिज के पार अदृश्य हो चुका है। रात्रि का आरम्भ है। सडक एक असीम मरुभूमि मे विलीन हो गई है। निराश यात्री, अपनी लम्बी दौड से हारा-थका, अब ठहरना चाहता है, पर उसे आगे ही बढना है। उसके चारो ओर उजाड खडहर पडता है। कुछ दबी-घुटी आवाजे सुनाई पड रही है। उसके पैर ककालो से ठोकरें खा रहे है। दूर मे घना कुहासा, भयावने रूप धारण कर रहा है। उसके सामने बडे-बडे काल खण्डो के खाके बन-बिगड रहे है। किसी भद्दी और अशुभ बात के होने का आभास मिल रहा है। यात्री चलकर नही, दौडकर उस लक्ष्य की ओर बढता हे, जो उसे सामने ही

प्रतीत होता है, पर पकडाई मे नही आता । भयकर चीख-पुकार उसके पगो को धकेल रही है । वह प्रेत-छायाओ के साथ टकरा रहा है ।

अन्त मे उसे सामने एक बडा-सा गढ दिखाई पडता है—अधेरा, उजाड और मनहूस । ऐसे मकानो के बारे मे ही लोग दु ख से कहा करते हैं, "यह तो भुतहा मकान है ।" पर वह युवक उस स्थान की उदासी के बारे मे नही सोचता, उसकी काली भयकर दीवारें भी उसपर कोई प्रभाव नही डालती । वह धूसरित जमीन और भयावने बुर्ज भी उसे कम्पायमान करने मे समर्थ नही हो पाते । उसके मन मे केवल एक विचार है कि वह लक्ष्य पर पहुच गया है । वह अपनी थकावट और उदासी भूल जाता है । गढ के पास पहुचकर वह एक दीवार के साथ टकराता है, जो फौरन ढह जाती है । उसी समय उसके चारो ओर का सबकुछ ढेर हो जाता है, बुर्जिया, मुडेरें और चारो ओर की दीवारे सब भूमिसात् हो जाती है । उनका मलवा जमीन पर पहले की मिट्टी के ऊपर जमा हो जाता है ।

सर्वत्र उल्लू, कौए और चमगादड कर्कश आवाज करते हुए उड रहे है । कभी-कभी तो वे पथिक के सिर के ऊपर ही मडराने लगते है, जो चकित-सा म्लानमुख, हारा-थका मानो जमीन के साथ चिपक गया है । हिलने-डुलने की शक्ति भी उसकी जाती रही है । इतने पर ही बस नही, अकस्मात् वह अपने सामने सब भयानक आकृतिया देखने लगा—विनाश, नैराश्य और जीवन के प्रति घृणा । और तो और, खडहरो के बीच मे भी उसे गहरे गढे के ऊपर खडी हुई, अधेरी और धुधली आत्म-हत्या की मूर्त्ति दिखाई दी । इन सब प्रेतात्माओ ने उसे घेर लिया और उससे वे चिपट गई । वे उसे खुली ढालू घाटी की ओर धकेलती जा रही थी । बेचारा पथिक उस अदम्य शक्ति का सामना करने का प्रयत्न करता है । अब वह पीछे हटना, वहा से भाग निकलना चाहता है । वह अब उन अदृश्य बाहओ से, जो उसे चारो ओर से जकडे हुई है, अपने-आपको छुडा लेने का प्रयास करता है, पर अब बहुत देर हो चुकी है । वह लगातार उस विनाशकारी गढे की ओर बढ रहा है । वह उससे खिचा, मन्त्रित-सा अनुभव करता है । वह पुकारता है । कोई आवाज उसकी पुकार का उत्तर नही देती । वह उन आकृतियो को जोर से पकडता है, पर वे सब उसके पास ही ढेर हो जाती है । उसकी विक्षिप्त फटी-सी आखे चारो ओर के शून्य को निहारती है । वह पुकारता है, विनती करता है, उत्तर मे एक अशुभ और भयकर हसी गूज उठती है ।

पथिक अब गढे के किनारे पर है । उसके सारे प्रयत्न विफल हो चुके है । एक घोर छटपटाहट के बाद वह गिर पडता है—अपनी खाट के नीचे ।

एक युवा विद्यार्थी को अगले दिन के लिए एक लेख लिखना था । दिन के काम मे वह थका हुआ था । घर लौटने पर उसने कहा, "यह थोडी देर बाद लिखूगा ।" कुछ देर पश्चात् उसने सोचा कि यदि मैं जल्दी सो जाऊ, तो जल्दी ही उठ बैठूगा और तब मैं अपना काम थोडी देर मे समाप्त कर लूगा । सो उसने कहा, "अब तो मैं सोता हू, कल मैं अधिक अच्छी तरह काम करूगा । रात्रि एक अच्छी परामर्शदात्री भी है ।" उसकी बात इतनी सत्य सिद्ध होगी, उसे विश्वास न था । उपर्युक्त भयानक दु स्वप्न ने उसकी नीद मे व्याघात पहुचाया और वह खाट से गिर पडने पर चौककर जाग पडा । स्वप्न मे जो कुछ उसने देखा था, उसपर विचार करते हुए वह चिल्ला पडा, "पर यह है खूब सबक । यह रास्ता 'थोडी-देर-बाद' का रास्ता है । यह सडक 'कल' की सडक है और यह बडा मकान, यह दुर्ग 'कुछ नही' का दुर्ग है ।' अपनी होशियारी से वह प्रसन्न हुआ और तुरन्त काम मे लग गया । तभी उसने मन मे पक्का निश्चय किया कि जो काम वह आज कर सकता है उसे वह कल पर नही छोडेगा ।

●

मैं फरिश्ता नहीं, छोटा-सा सेवक हूं

मनुबहन गाधी

●

नोआखाली-यात्रा के समय की बात है। गाधीजी चलते-चलते एक गाव मे पहुचे। वहा किसी परिवार मे नौ-दस वर्ष की एक लडकी बहुत बीमार थी। उसके मोतीझरा निकला था। उसीके साथ निमोनिया भी हो गया था। वेचारी बहुत दुर्बल हो गई थी। मनु को साथ लेकर गाधीजी उसे देखने गये। लडकी के पास घर की और स्त्रिया भी वैठी हुई थी। गाधीजी को आता देखकर वे अन्दर चली गई। वे पर्दा करती थी।

वेचारी वीमार लडकी अकेली रह गई। झोपडी के बाहरी भाग मे उसकी चारपाई थी। गाव मे रोगी मैले-कुचैले कपडो मे लिपटे गदी-से-गदी जगह मे पडे रहते। वही हालत उस लडकी की थी। मनु स्त्रियो को समझाने के लिए घर के भीतर गई। कहा, "तुम्हारे आगन मे एक महान सत पुरुष पधारे है। बाहर आकर उनके दर्शन तो करो।"

लेकिन मनु की दृष्टि मे जो महान पुरुष थे, वे ही उनकी दृष्टि मे दुश्मन थे। उनके मन मे गाधीजी के लिए रचमात्र भी आदर नही था। स्त्रियो को समझाने के वाद जब मनु बाहर आई तो देखा, गाधीजी ने लडकी के विस्तर की मैली चादर हटाकर उसपर अपनी ओढी हुई साफ चादर बिछा दी है। अपने छोटे से रूमाल से उसकी नाक साफ कर दी है। पानी से उसका मुह धो दिया है। अपना शाल उसे उढा दिया है और कडाके की सर्दी मे खुले वदन खडे-खडे रोगी के सिर पर प्रेम से हाथ फेर रहे है।

इतना ही नही, वाद मे दोपहर को दो-तीन बार उस लडकी को शहद और पानी पिलाने के लिए उन्होने मनु को वहा भेजा। उसके पेट और सिर पर मिट्टी की पट्टी रखने के लिए भी कहा।

मनु ने ऐसा ही किया। उसी रात को उस वच्ची का बुखार उतर गया। अब उस घर के व्यक्ति, जो गाधीजी को अपना दुश्मन समझ रहे थे, अत्यन्त भक्तिभाव से उन्हे प्रणाम करने आये। वोले, "आप सचमुच खुदा के फरिश्ते है। हमारी वेटी के लिए आपने जो कुछ किया, उसके वदले मे हम आपकी क्या खिदमत कर सकते हैं ?"

गाधीजी ने उत्तर दिया, "मैं न तो फरिश्ता हू और न पैगम्बर। मैं तो एक छोटा-सा सेवक हू। इस वच्ची का बुखार उतर गया, इसका श्रेय मुझे नही है। मैंने इसकी सफाई की। इसके पेट मे ताकत देनेवाली थोडी-सी खुराक गई, इसीलिए शायद बुखार उतरा है। अगर आप वदला चुकाना चाहते है तो निडर बनिये और दूसरो को भी निडर बनाइये। यह दुनिया खुदा की है। हम सव उसके बच्चे है। मेरी यही विनती है कि अपने मन मे तुम यही भाव पैदा करो कि इस दुनिया मे सभीको जीने-मरने का समान अधिकार है।"

●

गांधीजी का रामराज्य

काका कालेलकर

●

आजकल असख्य अमरीकी लोग भारत मे आते है, चन्द लोग सेवा के हेतु आते हैं, चन्द केवल भारत को समझने आते है। वे समझ गये है कि यूरोपीय सस्कृति ही केवल एकमात्र सस्कृति नही है। यूरोपीय सस्कृति का वैज्ञानिक सस्करण भी सपूर्ण मानव-सस्कृति नही है। दुनिया मे दूसरी भी महाप्रजाए है, जिन्होने अपने-अपने ढग से सस्कृति का विकास और विस्तार किया है। अमरीका के मनीषी अब अपनी आखो से भारतीय सस्कृति के भले-बुरे स्वरूप को देखना चाहते हैं। इन लोगो की जल्दबाजी सब जानते हैं। धन चाहे जितना खर्च करेंगे, किन्तु समय खर्च करने की उनकी हिम्मत ही नही होती। थोडे ही समय मे सबकुछ देख लेना, समझ लेना, पा लेना, यही होती है उनकी कोशिश। कभी-कभी मैं इन लोगो को कहता हू कि हम भारतीय लोग धन-दरिद्री है, साधन-दरिद्री हैं, लेकिन आपका समय-दारिद्र्य देखकर मुझे सचमुच दया आती है।

गाधीजी को समझने की कोशिश करनेवाले चद अमरीकी लोगो ने एक दफे मुझसे पूछा, "गांधीजी का यह रामराज्य क्या है ?" उन लोगो ने अग्रेजी मे राम-कथा पढी थी। रामायण का ख्याल उन्हे कुछ था। इसीलिए मुझे उनको थोडा विस्तार से समझाना पडा।

मैंने कहा—राम प्राचीन काल के एक लोकमान्य राजा थे। अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र, जनक राजा की लडकी सीता से उनका विवाह हुआ था। विमाता कैकेयी ने उन्हे चौदह वर्ष का वनवास दिलवाया। वह दक्षिण के जगलो मे जाकर रहे। वहा लका के राजा रावण ने सीता का अपहरण किया। राम ने दक्षिण के आदिवासियो की मदद से एक फौज खडी की। रावण को हराया। अपनी पत्नी को छुडाकर अयोध्या लौटे और अपनी सस्कृति के आदर्श के अनुसार राज्य चलाया। ऐसे उस राम पर समस्त प्रजा इतनी खुश थी कि लोग अपनी कल्पना के आदर्श राज्य को रामराज्य कहने लगे। महाकवि वाल्मीकि ने अपने ढग से राम-कथा का वर्णन किया। उसका नाम है रामायण। यह महाकाव्य इतना लोकप्रिय हुआ कि लोगो ने उस काव्य को धर्मग्रन्थ की प्रतिष्ठा दी और हर एक राजा के सामने राम का आदर्श रखा। 'प्रजा के आदर्श के अनुसार राज्य चलाना, अपने सुख-दुःख को भूल जाना और कही भी अन्याय को प्रश्रय नही देना', यह था रामायण का आदर्श। लोग मानने लगे कि राज्य मे अगर कही भी अन्याय रहा तो वह दोष राजा का ही है।

वाल्मीकि के बाद जितने बडे-बडे कवि हुए, सभीने राम-कथा अपने जमाने के अनुसार गायी है। उत्तर भारत मे तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' लिखा, जो वाल्मीकि की रामायण से बहुत-कुछ भिन्न भी है। लेकिन चूकि तुलसी रामायण उस जमाने की लोक भाषा मे लिखी हुई थी और उस जमाने के आदर्श राजा का वर्णन उसमे था, इसलिए लोगो ने वाल्मीकि-रामायण से भी तुलसी-रामायण को अधिक अपनाया।

दोनो रामायणो को जाननेवाले लोग जनता को समझाने लगे कि भगवान ने जब राम का अवतार लिया तब राजा रामचन्द्र जीये वाल्मीकि रामायण के अनुसार, उन्होने अपना अवतार-कार्य बराबर वैसा ही किया जैसा वाल्मीकि ने लिखा है।' लेकिन चूकि तुलसीदास हनुमान के अवतार थे, इसलिए भगवान ने तुलसीदास को आशीर्वाद दिया कि कलियुग मे तुलसी रामायण का प्रचलन होगा और लोग उसी पर विश्वास करेंगे।

आजकल पश्चिमी ढग के इतिहास-समीक्षकों मे दो पक्ष है। कोई कहते है राम जैसा कोई राजा हुआ ही नही।

वाल्मीकि ने जनश्रुति के आधार पर एक आदर्श राजा का चित्र खडा किया। वह इतना लोकप्रिय हुआ कि लोगो ने काल्पनिक राम की ऐतिहासिक हस्ती मान्य की। आज भी लाखो लोग मानते है कि 'वाल्मीकि ने प्रथम रामायण को रचा। बाद मे भगवान ने राम का जन्म लेकर उसीके अनुसार अवतार-कार्य किया।'

दूसरा पक्ष कहता है—राम को काल्पनिक मानने का कोई कारण नही है। राम एक ऐतिहासिक पुरुष था। उसने जनक राजा से खेती की विद्या सीख ली। सीता कहते है 'हल के द्वारा जमीन मे जो लकीर होती है', राम ने यह खेती की कला दक्षिण मे फैलाई। जिस जमीन ने कभी 'हल' को देखा नही था (इस वास्ते जो अहल्या थी) उसका राम ने उद्धार किया। बाद मे राम लका तक गये। वहापर आर्य सस्कृति का प्रचार किया इत्यादि।

आर्यो के ऐसे कुछ सास्कृतिक पराक्रम को लेकर कवियो ने ऐतिहासिक महाकाव्य लिखे। आज जो भी रामकथा पायी जाती है अक्षरश ऐतिहासिक नही है। ऐतिहासिक राम-कथा को लेकर उसके इर्द-गिर्द अपने-अपने जमाने के आदर्श को कवि लोग वर्णित करते है। इस आखिरी बात मे दोनो पक्ष एकमत है।

इस तरह 'रामराज्य' भारतीय सस्कृति का एक चलनी शब्द है। महात्माजी भारतीय जनता के लिए बोलते थे, लिखते थे, इसलिए 'अपने दिल के आदर्श राज्य' को रामराज्य कहना उनके लिए स्वाभाविक था। अगर मै आपकी अमरीका मे आऊ तो हिसाब-किताब डालर मे रखूगा, ब्रिटेन जाऊ तो पाउन्ड, शिलिंग पेस मे, जापान जाऊ तो येन मे और भारत मे रुपये-पैसे की भाषा बोलूगा। इसी तरह 'सत्य, अहिंसा, सयम और सेवा' के आदर्श का स्वीकार करके चलनेवाले राज्य को गाधीजी ने रामराज्य कहा है। ऐतिहासिक राम ने सीता का त्याग किया, उसका समर्थन शायद आज हम नही करेगे। ऐतिहासिक राम ने ब्राह्मणो के कहने पर लाचार होकर शूद्र मुनिशबूक का वध किया होगा उसका समर्थन करने की भी आवश्यकता नही है। आज हम न वाल्मीकि के दिनो की राज्य-व्यवस्था चलाना चाहते है, न तुलसीदास के दिनो की। हमारा राम ऐतिहासिक राम की आज की नई आवृत्ति होगी। इसमे हम इतिहास पर अत्याचार नही करते। सनातन काल से भारतीय महाकवि (और छोटे-मोटे कवि भी) राम की नई-नई आवृत्ति निकालते आये ही है। राम के बारे मे जिसने कुछ भी लिखा नही, ऐसा भारतीय कवि मिलना मुश्किल है। बगाल मे कृत्तिवास का रामायण चलता है। उत्तर भारत मे तुलसीदास का। महाराष्ट्र मे तो अनगिनत रामायण चलते है। एकनाथ का भावार्थ-रामायण। श्रीधर का रामविजय। अकेले मेरोपत ने अलग-अलग एकसौ साठ रामायण लिखे हैं। दक्षिण मे कवन का रामायण आज भी चलता है। गुजरात, कर्नाटक हरेक प्रान्त की राम-कथा की आवृत्ति आपको मिलेगी ही। ठीक सुदूर जावा मे भी वहा के लोगो ने अपनी रामकथा चलाई है। आपको दिलचस्पी हो तो स्पेन के एक ईसाई जेस्युट फादर कामिल बुल्के की किताब जरूर पढिये। उन्होने वेदकाल से लेकर आज तक की रामकथाओ का विशाल इतिहास उसमे प्रस्तुत किया है।

और एक बात कहू ? आर्य संस्कृति और इस्लामी सस्कृति का समन्वय करनेवाले एक सत कवि उत्तर भारत मे हो गये है—कबीर। हिन्दू और मुसलमान दोनो उनको अपनाते है। इन कबीर ने दक्षिण भारत के सत रामानन्द से दीक्षा ली थी। कबीर राम-भक्त बना। लेकिन एकेश्वरी कबीर ने राम के साथ सीता का नाम नही रखा। कबीर का राम ऐतिहासिक राम नही था। भारतीय सस्कृति का आदर्श राजा और ईश्वरी अवतार राम को ही कबीर ने माना है और गाया है। काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और सिंध से लेकर आसाम के पूर्व सिरे तक सारे भारत ने कबीर को अपनाया है। यह है हमारी राम-भक्ति और यही है हमारा रामराज्य। हिन्दू मुस्लिम आदि सब धर्मो का समन्वय करने की कोशिश करनेवाले गाधीजी की हत्या जब सकुचित आदर्शवाले एक हिन्दू ने की तब गाधीजी के मुह से अन्तिम शब्द निकला 'हे राम!'

जिस सार्वभौम आध्यात्मिक सत्य की महात्माजी ने उपासना की उसी सत्यनारायण को गाधीजी राम के नाम से पहचानते थे। उसीके राज्य को वह रामराज्य कहते थे। इसमे ऐतिहासिक राम का, वाल्मीकि के राम का,

तुलसीदास के राम का या गुजरात के गिरधर के राम का इन्कार नही है। सबका स्वीकार है। इन्कार है केवल सकुचितता का, मर्यादा के बधन का। ऐतिहासिक राम ने जिस आदर्श का चितन और पालन किया उसीका विकास करने का काम भारतीय जनता करती आई है। आदर्श राम नित्य वर्धमान सनातन राम है, न वह वाल्मीकि के वचनो से बद्ध हो सकते है, न तुलसीदास के वचनो से। और मै कहूगा कि न गाधीजी के वचनो से भी। इन सबके राम पूर्ण परब्रह्म परमात्मा ही है, जिसका पूर्ण आकलन तो परमात्मा को ही हो सकता है।

●

यह पैसा भी तो मेरा ही है

गाधीजी यरवदा-जेल मे थे। उनके स्वास्थ्य को देखते हुए यह निश्चित किया गया कि उन्हे मक्खन खाना चाहिए। गाधीजी बोले, "मैं केवल बकरी के दूध का मक्खन ले सकता हू।"

वह कोई बहुत कठिन काम नही था, लेकिन मक्खन आने पर प्रश्न उठा कि उसे किस चीज के साथ लिया जाय? गाधीजी बोले, "मुझे थोडा आटा दीजिये।"

आटा आ गया, लेकिन वह मोटा था। गाधीजी उसे पचा नही सकते थे। उन्होने कहा, "मुझे बारीक आटा चाहिए।"

दस सेर बारीक आटा आ गया। इतना आटा लेकर करते भी क्या? कुछ समय बाद उन्होने अनुभव किया कि उन्हे न आटे की आवश्यकता है, न मक्खन की। उन्होने कहा, "यह आटा ले जाइये और मक्खन भी बन्द कर दीजिये।"

लेकिन जो दिया गया था, वह वापस नही लिया जा सकता था। अधिकारियो ने सोचा कि हो सकता है, गाधीजी बाद मे आवश्यकता अनुभव करे, लेकिन गाधीजी ने उन्हे शान्त भाव से समझाते हुए कहा, "जितनी चिन्ता मुझे अपने पैसे की है, उतनी ही सार्वजनिक धन की भी है। यह पैसा भी तो मेरा ही है।"

सरकारी अधिकारियो ने पूछा, "सरकारी खजाने मे आपने कब और कितना पैसा जमा कराया?"

गाधीजी ने नम्रता से उत्तर दिया, "आप सरकार से जो वेतन लेते है उसका कुछ भाग खजाने मे देते है, लेकिन मैं तो अपना सबकुछ देता हू। मेरा श्रम, मेरी बुद्धि, मेरा सर्वस्व।"

वैष्णव का साम्यवादी आचार

बलदेव उपाध्याय

●

आचार और विचार का अन्योन्याश्रित सम्वन्ध है। आचार विचार के चिन्तन से अपना पोपक द्रव्य ग्रहण करता हे और विचार आचार के रूप मे अपनी परिणति प्राप्त करता है। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। जो आचार विचार के द्वारा पुष्ट नही किया जाता वह अधूरा है, आधारहीन है, अपनेको स्थिर रखने की क्षमता का उसमे नितान्त अभाव है। वह विचार भी दिमागी कसरत से वढकर नही हो सकता है, जो अपना पर्यवसान या अन्तिम लक्ष्य आचार के माध्यम से पुष्ट नही कर सकता। तथ्य तो यह है कि विचार की परिणति आचार के रूप मे ही होती है। इस तथ्य का प्रतिपादक एक प्राचीन प्रख्यात पद्य है, जिसमे 'पण्डित' की परिभाषा ज्ञानवान होने की अपेक्षा आचारवान होने मे ही बतलाई गई है—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा,
यस्तु क्रियावान पुरुष' स विद्वान्।
सुचिन्तित चौषधमातुराणा,
न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥

अनेक शास्त्रो को पढकर भी मनुष्य मूर्ख होता है। वही पुरुष विद्वान कहलाता है, जो क्रियावान हो, आचारवान हो, जो पढी वस्तु को क्रियात्मक रूप देता है। उदाहरण से इसे समझिए। रोगी लोगो को सुचिन्तित भी औषव या उसके नाम लेने मात्र से रोगहीन बना डालती है? कभी नही। उसके लिए आवश्यक है औषध का निर्माण, निर्मित औपध की प्राप्ति और प्राप्त औषध का विधिवत् सेवन। क्रिया के द्वारा ज्ञान की सफलता है। नही तो वह ज्ञान भार बन जाता है—ढोने की चीज जिसका उपयोग ही नही हो पाता। **"ज्ञान भारः क्रिया विना"** इस शास्त्रीय वचन का यही परिनिष्ठित तात्पर्य हे।

वैष्णव विचार का स्वरूप क्या है? भगवान के प्रति भक्ति-भावना का आदर्श तो उसके रग-रग मे व्याप्त है। उसका सामाजिक आदर्श क्या है? समाज के प्रति, जिसमे वह अपना दैनन्दिन जीवन विताता है, उमका क्या लक्ष्य है? इन प्रश्नो का उत्तर गम्भीरता से विचारने योग्य है। **उत्तम भागवत** का लक्षण शास्त्रो मे नाना दृष्टियो से दिया गया है। सामाजिक दृष्टि से उत्तम वैष्णव का लक्षण इस प्रकार है—

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तम ॥
(श्रीमद्भागवत, ११सं०, २।५२)

श्लोक का तात्पर्य मननीय है। साधारणतया जीवो मे तथा वित्त मे—धन मे—भेद-भाव का ही वोलबाला है। यह मेरा लडका है, यह दूसरे का है। यह सम्पत्ति मेरी है, यह दूसरे की है—यही तो हमारा दैनन्दिन का अनुभव है। परन्तु उत्तम वैष्णव इसमे भेदभाव नही रखता। वह स्व और पर का इन विषयो मे भेद नही मानता। अपने परिश्रम से कमाई सम्पत्ति मे भी अपना ही पूर्ण अधिकार नही मानता। समाज मे रहकर वह उसे कमाने मे समर्थ होता है, फलत वह समाज के मानवो को भी उस सम्पत्ति मे हकदार मानता है। वह सब भूतो से बराबर का व्यवहार करता है तथा जो कामनाओ के द्वारा अशान्त न होकर सतोप से अपने मे शान्ति बनाए रखता है—वह होता है भागवतो मे अर्थात् भगवान के सेवक भक्तो मे उत्तम (श्रेष्ठ वैष्णव)।

काचन के व्यवहार मे शुचि होना ही वास्तव मे शुचिता की कसौटी है। रुपयो के मामले मे बडो-बडो को फिसलते हुए हम नित्य देखते है। एषणा के विविध रूपो मे धनैषणा अपनी प्रमुखता रखती ही है। ऐसी दशा मे जो व्यक्ति अपने धन को स्वय ही भोज्य न मानकर दूसरे

के लिए भी निष्ठापूर्वक रखता है, उससे बढकर किस व्यक्ति का शुद्ध व्यवहार हो सकता है ? **यो वै अर्थशुचिः शुचि.।** अर्थ मे शौच ही वास्तव मे शौच है। फलत वैष्णव जन का आदर्श इसी तथ्य को मानकर प्रवृत्त होता है। श्रीमद्भागवत पुराण साम्यवाद के मूल मनन को इस पद्य मे उद्घोषित करता है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिक योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

समस्या है—धन मे प्राणियो का अधिकार कितना ? मीमासा है—जितने से प्राणी का पेट भरता है, उतने ही धन मे उसका स्वत्व है—अपनापन है—स्वकीय कहने का अधिकार है। उससे अधिक मे जो व्यक्ति अपना अधिकार मानता है, वह स्तेन—चोर है। सामाजिक दृष्टि से दूसरे के स्वत्व को चुरानेवाला है और इस प्रकार वह दण्ड के योग्य है, सम्मान के योग्य नही। भागवत का यह सामाजिक आदर्श तभी चरितार्थ हो सकता है, जब प्रजा पूर्वोक्त वैष्णवता के तथ्य को मानने के लिए कृत सकल्प हो। **सर्वभूतसमता** अर्थात् **साम्यवाद ही** वैष्णव धर्म का आदर्श है और इसका पालन करनेवाला व्यक्ति ही यथार्थत परम शुचि हो सकता है।

'वैष्णव जन तो तेने कहीये जो पीड पराई जानै रे'—नरसी का यह प्रख्यात लक्षण पूर्वोक्त आदर्श की ही आधारभूमि पर खडा है। यह दशा कब चरितार्थ होगी ? जब भागवत के अनुसार प्राणी स्व और पर जीवो मे किसी प्रकार का भेद नही जानेगा। स्वार्थ का इतना बडा साम्राज्य है इस जगती-तल पर कि हम आत्मीय के अतिरिक्त परकीय के प्रति अपना ध्यान ही आकृष्ट नही करते। जब देखो, तब अपने मे ही लगे रहते है—

अशनं मे वसन मे दारा मे बन्धुवर्गो मे ।
इति मे मे कुर्वाण कालवृको हन्ति पुरुषाजम् ॥

अशन (भोजन) मेरा ही है, वसन, दारा तथा बन्धुवर्ग सब तो मेरे ही है। इस प्रकार मेरा-मेरा करते हुए व्यक्ति को काल खा जाता है, ठीक उस भेडिये के समान, जो मै-मैं करनेवाले बकरे को फाडकर खा जाता है। 'मम' ही तो बन्धन है 'न मम' ही तो छुटकारा है। वैष्णव जन का तो यही आदर्श है—'न मम' 'न आत्मनि भिदा।

अहिंसा वैष्णव धर्म का प्राण है। 'सर्वभूतसम ''सर्वभूतहितेरत' आदि विशेषण वैष्णवजन के लिए शास्त्रो मे आते है। सब प्राणियो को बराबरी की दृष्टि से देखनेवाला व्यक्ति 'सर्वभूतसम' (सर्वेसु भूतेसु सम) होता है और इसी प्रकार सब भूतो के हित मे निरत रहनेवाला व्यक्ति वैष्णव की महनीय पदवी को धारण कर सकता है। वैष्णव होना कोई साधारण-सी बात नही है। जबतक वह व्यक्ति सब प्राणियो के प्रति समत्व की तथा हितकामना की भावना नही रखता, तबतक वह वैष्णव होने की योग्यता ही नही रखता। 'सर्वभूतसम' प्राणी क्या किसीसे द्वेष कर सकता है ? क्या वह कभी किसीका अनिष्ट चिन्तन कर सकता है ? क्या वह किसीकी बुराई करने पर तैयार हो सकता है ? नही, कभी नही। विष्णु ठहरे सत्त्व-प्रधान देवता, विश्व के पालन-पोषण करनेवाले देवता। उनकी भक्ति मे निमग्न होनेवाला व्यक्ति कभी हीनता की भावना से दु खित नही होता। वह जानता है कि भगवान् लक्ष्मी की, उनके याचक राजाओ की तथा देवो की परवाह नही करते, परन्तु वह अपने भक्तो के पराधीन रहते है। ऐसी दशा मे कृतज्ञ वह भक्त भगवान् को कैसे छोड सकता है ?

श्रियमनुचरती तदर्थिनश्च,
द्विपदपतीन् विसुधांश्च यः स्वपूर्णः ।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः,
कथममुम् उद्विसृजेत् पुमान् कृतज्ञ ।

तात्पर्य यह है कि सच्चा वैष्णव जन-जन के भीतर भगवान का ही विग्रह देखता है, वह समस्त विश्व को आत्मीय समझता है, तब उसका सामाजिक व्यवहार असन्तुलित कैसे हो सकता है ? व्यवहार मे शुचिता की मर्यादा रखना वैष्णव खूब जानता है। वह स्वय शुचि होता है, भीतर से और बाहर से। बाह्य शौच तथा आन्तरिक शौच से सम्पन्न होनेवाला विष्णु-भक्त कभी भी अन्याय का, अनीति का तथा दुराचार का पल्ला नही पकडता। वह सबसे समरस बर्ताव करता है। ऊपर आरम्भ मे ही कहा गया है कि विचार की परिणति आचार मे ही होती है। फलत विष्णु की भक्ति से सम्पन्न व्यक्ति अपने आचार मे सदा उदार रहता है, दूसरो के दु ख से दु'खी

होकर वह सहानुभूति से स्निग्ध रहता है तथा आचार की पवित्रता का पूर्णत पालन करता है। पाठको से प्रार्थना है कि वैष्णव के इस सामाजिक व्यवहार की पवित्रता का मूल्याकन करना सीखे और सच्चा वैष्णव बनने का अपने पूर्ण प्रयत्न करे। तीव्र कामना अवश्यमेव फलवती होती ही है। स्मरण करने पर भगवान् भक्त के हृदय मे प्रवेश कर उसके पापो को दूर कर देते है तथा उसे निर्मल बना देते है जिससे उसका व्यवहार स्वजनो तथा परजनो के साथ समरस होता है।

स्वपादमूल भजतः प्रियस्य,
त्यक्त्वान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतित कथञ्चित्,
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

—भागवत ११।५।४२

सच्चा गहना

नेकीराम गुप्त

श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर बगाल के एक बहुत बडे नेता हुए है। वह बचपन से ही बडे दयालु थे। कोई भी याचक उनके दरवाजे से खाली नही गया। एक दिन जब वह कही बाहर जाने को तैयार थे तो एक बहुत ही दीन व्यक्ति उनके घर पर मागने आया। उन्हे उस याचक पर बडी दया आई और वह तुरन्त घर मे से कुछ लाने गये। उनकी माता ने कहा, "बेटा, इस समय घर मे पैसा कोई नही। मै क्या दे सकती हू। जो कुछ थोडा-बहुत जमा होता है, वही तुम दीन-दुखियो मे बाट देते हो। अब इस समय मैं कुछ नही दे सकती।"

श्री ईश्वरचन्द्र बहुत दुखी हुए, परन्तु निराश नही। उन्हे अपनी मा के हाथ मे एक सुनहरी कगन दिखाई दिया। बडी नम्रता से प्रार्थना की, "मा, तुम मुझे यह कगन दे दो। मैं इसे बेचकर पैसे ले आऊगा। बडा होकर मै तुम्हारे लिए तुम्हारी पसन्द के गहने बनवा दूगा।"

मा बेटे के दिल की बात को समझ गई और सहर्ष कगन उतारकर दे दिया। ईश्वरचन्द्र को शान्ति मिली। बडे होने पर एक दिन उन्होने अपनी मा से कहा, "मा, तुम्हे याद है, मैंने तुमको वचन दिया था कि तुम्हारी इच्छानुसार गहने बनवा दूगा।"

मा बोली, "बेटा, जो मै चाहती हू, क्या बनवा पाओगे। उस सबके लिए बहुत धन चाहिए।"

ईश्वरचन्द्र ने कहा, "मा, तुम्हारी इच्छापूर्ति मे मेरा सब-कुछ चला जाय, तो भी मैं मुह न मोडूगा। सिर्फ तुम्हारी आज्ञा की आवश्यकता है।"

मा ने कहा, "सबसे बडा जेवर ज्ञान है, देश के अनेक भाई-बहन अज्ञानता के गड्ढे मे पडे है। इनमे शिक्षा का प्रचार करने के लिए, ज्ञान की रोशनी फैलाओ, विद्यालय खोलो और नि शुल्क शिक्षा का प्रचार करो। यह मेरे लिए सबसे बडा गहना होगा।

"देश के अनेक भाई-बहन रोगो के जाल मे फसे है। उनके लिए दवा-दारू की सुविधा नही है। वे बहुत गरीब है। जहातक हो सके, ऐसे साधनहीन रोगियो के लिए मुफ्त दवाखाने खोलो। यह मेरा दूसरा गहना होगा।

"तीसरे, बहुत-से भाई-बहन भरपेट खाना भी नही खा सकते। इन सबकी सहायता के लिए सदाव्रत भोजन-भण्डार खोलो। बेटा, मेरा आशीर्वाद है।"

मा की बात विद्यासागर के मन मे समा गई और जीवन-पर्यन्त वह इसी प्रकार के सेवा-कार्यो मे लगे रहे।

श्रीराम : धर्म के सनातन स्तम्भ

कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी

विश्व के इतिहास मे प्रत्येक राष्ट्र किसी विशेप विचार का प्रतीक रहा है, जिसे उसने अपनी जनता के जीवन मे व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार यूनान के लोगो ने सौन्दर्य का विचार रखा, रोमन लोगो ने कानून का विचार रखा, स्पार्टा के लोगो ने शक्ति को प्रमुखता दी तथा अग्रेजो का चरित्र वैधानिक शासन के आधार पर निर्मित हुआ है, इसी प्रकार यूनानी तथा रोमन लोगो से बहुत पहले, हमने भारत मे अपने जीवन को धर्म के नियमो के अनुसार चलाने का निश्चय किया था, जिसके अन्तर्गत वे सब चीजे आ जाती है, जिनसे आदर्श मानवता निर्मित होती है।

सनातन सत्य वेदो और उपनिपदो मे थे, परन्तु उनको आम जनता के लिए व्यावहारिक रूप मे प्रस्तुत करना आवश्यक था। सत्य को पृथ्वी पर अवतरित होना था और वह श्रीराम के रूप मे अवतरित हुआ, जो कि लोकरजक बने।

भारतीय सस्कृति का मुख्य शब्द धर्म है। इसके अन्तर्गत जीवन की दृष्टि तथा पद्धति आती है और यह मानव के भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन मे समन्वय करता है। इसमे मानवीय पूर्णता रहती है, जो जीवन के सभी पक्षो को स्पर्श करती है, जिसमे व्यक्तिगत उत्थान तथा विश्व-कल्याण होता है।

जलाना आग का स्वाभाविक कार्य है। यह उसका स्वभाव है। अन्य प्राणियो के लिए जो स्वभाव है, वह मनुष्य के लिए स्वधर्म बन जाता है। स्वधर्म को छोडने से मानव के नष्ट होने का खतरा है। जो आग जलाती नही या जो बिच्छू डक नही मारता, वह अपने स्वभाव को छोड देता है। अत वह आग या बिच्छू नही रहता। इसी प्रकार मनुष्य को अपने स्वधर्म का पालन करना चाहिए, अन्यथा वह पशु बन जायगा। सामाजिक भाषा के अनुसार वह अपनी जाति से भ्रष्ट हो जायगा।

मनुष्य का स्वधर्म एक पूर्णता के आदर्श की शाखा है। वह सर्वोच्च धर्म है, जो मानव की समस्त क्रियाओ मे व्याप्त रहता है। यही कारण है कि स्वधर्म छोडा नही जा सकता, अन्यथा वह पूर्णता की प्राप्ति मे बाधक होगा। यदि कोई अपने जीवन को इस उच्चतर धर्म के अनुसार बनाये तो इसका प्रत्येक पहलू पूर्ण हो जायगा और उसे शान्ति तथा सुख प्राप्त होगा। परीक्षाए तथा कष्ट सतह पर रहते है, परन्तु वे उस जीवन की बुनियाद को नही हिला सकते, जिसकी जडे धर्म मे रहती है।

रामायण के श्रीराम मनुष्यो के जीवन मे धर्म के औचित्य के सनातन आदर्श है। उनकी दृष्टि मे धर्म अत्यन्त प्राचीन है तथा उसका प्रभाव विश्वव्यापक और सनातन है। स्वय कठोरता से धर्म का पालन करते हुए श्रीराम अन्य लोगो से भी धर्माचरण की आशा करते थे। दिये हुए वचन को पुत्र के प्रति प्रेम के कारण तोड़ना वह उचित नही मानते थे। अपनी माता को उन्होने समझाया कि उसका स्वधर्म अपने पति को धीर बधाना था, जिनका चित्त कैकेयी के बाण लगने से व्याकुल था। उनके भाई ने जब आमरण अनशन की धमकी दी तो उन्होने उसे डाटा कि उपवास करना ब्राह्मण का स्वधर्म है, क्षत्रिय का नही।

बालमीकि ने गूढ सिद्धान्तो का वर्णन नही किया है। उन्होने सत्य का वर्णन लौकिक तथा उदार स्तर पर किया है, जिस रूप से वह जनसाधारण के दैनिक जीवन पर लागू होता है, उसके सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, भौतिक जीवन पर तथा युद्ध और शान्ति, साध्य और साधन तथा बन्दर, रीछ, गिलहरी इत्यादि अन्य प्राणियो पर वह जिस

रूप मे लागू होता है उसी धर्म का वर्णन वाल्मीकि ने किया है।

महर्षि वाल्मीकि ने श्रीराम के लिए दो विश्लेपणो का प्रयोग किया है, जो महत्वपूर्ण है। उन्होने श्रीराम को सत्यवाक्य तथा धृतव्रत कहा है। सत्य धर्म का आधार है। सत्य से विश्व की स्थिरता का बोध होता है तथा मानवी जीवन और व्यवहार मे ऋत की अभिव्यक्ति सत्य के रूप मे होती है। यदि लोग सत्य को छोड दे तो सृष्टि छिन्न-भिन्न हो जायगी। यही कारण है कि गाधीजी ने एक बार भूकम्प को मनुष्य के पाप का ईश्वरीय दण्ड बताया था। मेरा ख्याल है कि तमिल कवि कम्वन ने लिखा है कि हनुमान ने श्रीराम को विश्वास दिलाया कि रावण जब सीता को ले गया तव उसने उनका स्पर्श नही किया, यदि वह स्पर्श करता तो 'आसमान से तारे टूटकर गिर पडते तथा सागर अपने तट द्वारा सीमित न रहता।' इससे स्पष्ट है कि सृष्टि का आधार नैतिकता है और जब लोग धर्म छोड देते है तो उनपर कष्ट आते है।

श्रीराम कभी दो वाते नही बोलते थे। स्वय कैकेयी ने कहा था 'द्विर्नाभिभाषते।' सत्य श्रीराम के जीवन का आधार था। जब सीता ने उनसे अनुनय की कि वह दण्ड-कारण्य के राक्षसो से सघर्ष न करे, तो उन्होने उत्तर दिया कि ऋषियो के दिये हुए वचन को तोडा नही जा सकता। वह स्वय अपना या सीता का जीवन दे सकते है, परन्तु अपने वचन से नही मुकर सकते है। जब लक्ष्मण ने इन्द्र-जीत पर शक्ति छोडी थी तो उसके साथ उन्होने वह शक्ति सयुक्त कर दी थी, जो उन्होने सत्य के पालन से प्राप्त की थी।

लोगो के जीवन मे सत्य की स्थापना के लिए वह हर प्रकार के वलिदान करने को तैयार थे। उन्होने अपने पिता को अपने वचन का पालन करने को विवश किया, यद्यपि यह दबाव मे दिया गया था। सत्य के पालन के लिए राज्य को त्यागने मे उनको जरा भी देर नही लगी, क्योकि धर्म के सिक्के का एक पक्ष सत्य और दूसरा त्याग है। धर्मपालन के श्रीराम के दृढ सकल्प के सामने भरत तथा ऋपि जावालि के सव तर्क वेकार रहे। इसी प्रकार की त्यागभावना से उन्होने निन्दा करनेवालो की जवान वन्द करने के लिए सीता को त्याग दिया था। उनके सतीत्व के विपय मे कानाफूसी की सम्भावना मात्र से उन्होने उनकी अग्नि-परीक्षा कराई थी। यह उस सिद्धात के अनुसार हुआ कि मनुष्य को अपने जीवन मे सही होना ही नही चाहिए बल्कि दुनिया को भी विश्वास दिलाना चाहिए कि वह सही है। जगत् को धर्म के पथ पर चलाने यही मार्ग है।

इस प्रकार श्रीराम धर्म के सनातन स्तम्भ है। उनके उदाहरण तथा प्रेरणा पर ही हमारी प्राचीन सस्कृति टिकी हुई है। सत्य तथा त्याग के रूप मे धर्म उनमे पूर्ण रूप से व्यक्त हुआ था, अत उनको विग्रहवान् धर्म कहा गया। धर्म हमारी इस जीवन-पद्धति का अनोखा घटक है, जो पूर्वजो से हमे प्राप्त हुई। समस्त कालो तथा समस्त राष्ट्रो के लिए धर्म ही आदर्श है।

वर्तमान युग मे जबकि अनैतिक शक्तिया हमारे जीवन को छिन्न-भिन्न कर रही है, हमारे दृष्टिकोण तथा वुनि-यादो को विकृत कर रही है, सर्वश्रेष्ठ उपाय यही है कि श्रीराम की वाणी सुने, जो उन्होने अपने कार्यो मे व्यक्त की, जिनमे हमारे सनातन धर्म के सनातन आदर्श प्रति-बिम्बित हुए।

आप ईश्वर और धन दोनो की एक साथ पूजा नही कर सकते।

—मो० क० गाधी

वैष्णव जनों की कुछ बोध-कथाएं

कु० राज्यश्री जोशी

तुकाराम

१

एक बार सत तुकाराम अपना माल वेचकर वापस आ रहे थे। रास्ते मे एक वूढे ने उनके पाव पकड लिये और सहायता की भीख मागी। उस वूढे का जवान लडका मर गया था और उसकी जमीन साहूकार के कब्जे मे चली गई थी। उसकी कहानी सुनकर तुकाराम महाराज पसीज गये और उन्होने अपने पास के पचास रुपये उसको देकर कहा, "यह लो, इससे अपना खेत छुडवा लेना।' जव तुकाराम खाली हाथ घर लौटे, उनकी पत्नी जीजावाई ने उनकी खूव खवर ली। पर तुकाराम के जीवन मे ऐसी घटनाए हमेशा होती रहती थी।

२

सत तुकाराम को वदनाम करने के लिए एक बार एक वदचलन औरत को एकात मे उनके पास भिजवा दिया गया, मगर उसकी एक न चली। तुकाराम महाराज ने कहा, "हमारे लिए दूसरे की स्त्री तो रखुमाई देवी के समान है। यह बात मन मे पक्की हो गई है। ऐ मा! तू चली जा, कोई प्रयत्न मत कर। हम विष्णुदास ऐसे निष्कृष्ट नही है। तेरा यह पतन मुझसे देखा नही जाता। तू अपने मुह से ऐसी गन्दी वाते मत निकाल। (तुकाराम कहते है) अगर तुझे पति ही चाहिए तो क्या दुनिया मे आदमियो की कमी है?"

तुकाराम के हृदय की यह पवित्रता देखकर वह स्त्री लज्जा से जमीन मे गड गई और अन्त मे उनकी भक्त वन गई।

३

उसी युग मे छत्रपति शिवाजी ने पूना जिले मे स्वराज्य की नीव डालने का काम आरभ कर दिया था। उन्होने जब तुकाराम महाराज की कीर्ति सुनी तो उनके सम्मान के लिए पालकी, छत्र, घोडा, आफतावी सैकडो मुहरो आदि का नजराना भेट दिया, मगर तुकाराम ने यह कहकर वह सव लौटा दिया

दिवट्या छत्री घोड़े,
हे तो बन्यांत न पड़े।

—पलीते, छत्र, घोडे आदि चीजो से कोई भलाई नही होगी।

४

इसके वाद शिवाजी महाराज स्वय तुकाराम के दर्शन करने गये। शिवाजी कई वार उनका कीर्तन सुनने भी जाते थे। एक वार मुसलमानो को इसका पता लग गया और उन्होने कीर्तन के समय शिवाजी महाराज को घेर लिया। तुकाराम ने यह देखकर ईश्वर को पुकारना शुरु किया

न देखवे डोळा ऐसा हा अकान्त,
परपीडे चित्त दुखी होते॥

—यह सव हमसे देखा नही जाता, दूसरो की पीडा से हमारा मन दुखी होता है।

इसपर भगवान की करामात देखिए कि घेरा डालनेवाले मुसलमानो को कीर्तन सुननेवाला हर आदमी शिवाजी महाराज जैसा ही दिखाई देने लगा। वे चक्कर मे पड गए और इस बीच शिवाजी महाराज वहा से निकल गये।

ज्ञानेश्वर

१

एक बार ज्ञानेश्वर नहाने के लिए नदी की ओर निकले। इतने मे एक स्त्री ने आकर उनको प्रणाम किया। उन्होने हमेशा की तरह आशीर्वाद दिया, "मा तुम्हारा सुहाग सदा वना रहे!"

उनके मुह से यह बात सुनकर वह स्त्री हँस पडी और आखो से आसू पोछते हुए बोली, "आपने शायद अगले जन्म की बात कही है।"

ज्ञानोबा चौक पडे। उन्होने इधर-उधर देखा तो सामने ही एक अर्थी दिखाई दी। वह झट समझ गये कि यह अर्थी उस स्त्री के पति की है। उन्होने लोगो से पूछा, "इनका नाम क्या है ?"

"इन्हे सच्चिदानन्द कहते थे !" लोगो ने बताया।

"सच्चिदानन्द ? फिर वह कैसे मर सकते है ?" इतना कहकर वह अर्थी के पास गये और बोले, "देखो, सच्चिदानन्द बाबा, इतनी देर से क्यो सोये हो ? उठो जल्दी !"

और सचमुच सच्चिदानन्द बाबा उठ बैठे और उन्होने ज्ञानेश्वर महाराज के पैर पकड लिये। इन्ही सच्चिदानन्द बाबा ने सत ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी' लिखने का काम किया।

२

गोदावरी नदी के किनारे चागदेव नाम के एक बडे योगी रहते थे। उनकी उम्र चौदहसौ वर्ष की थी। उन्होने ज्ञानेश्वर की कीर्ति सुनी तो बडे अचम्भे मे पड गये। उन्होने सोचा कि ज्ञानेश्वर को एक पत्र लिखना चाहिए। इसलिए वह पत्र लिखने बैठ गये। सवाल यह उठा कि शुरू मे क्या लिखे। अगर छोटा जानकर चिरजीवी लिखते तो ज्ञान मे वह बडे थे और अगर बडा जानकर लिखते तो उम्र मे बहुत छोटे थे। आखिर उन्होने कोरा कागज ही ज्ञानेश्वर के पास भेज दिया।

वह कागज देखकर ज्ञानेश्वर की बहन मुक्ताबाई बोली, "भैया, यह बूढे बाबा अबतक कोरे ही रहे है।"

मगर ज्ञानदेव ने उस कोरे कागज मे भी अर्थ देख लिया और उसके उत्तर मे पैसठ ओविया (साखिया) लिखी। यही 'चागदेव पासष्टी' है। इसमे बहुत ही सुन्दर ढग से ज्ञानदेव ने अद्वैत दर्शन का विवेचन किया है। 'ज्ञानेश्वरी' का सार 'अमृतानुभव' मे और 'अमृतानुभव' का सार 'चागदेव पासष्टी' मे आया है, ऐसा माना जाता है।

३

इन ओवियो को पढकर चागदेव को ज्ञानेश्वर से मिलने की इच्छा हुई। साथ ही उनको ऐसा लगा कि अपने योग की कुछ झलक ज्ञानेश्वर को दिखानी चाहिए। इसलिए वह बडे भयावने शेर पर सवार हो गये और एक काले नाग को चाबुक की तरह हाथ मे पकडकर वह बडी शान से आलदी पहुचे।

उस समय ज्ञानेश्वर अपने भाई-बहनो के साथ एक टूटी दीवार पर बैठकर धूप खा रहे थे। जब उन्होने चागदेव को शेर पर सवार होकर आते देखा तो उनको लगा कि हमे भी उन्हीके ढग से उनकी अगवानी करनी चाहिए। इसलिए उन्होने दीवार से कहा, "चलो हम लोगो को इसी तरह लेकर तुम आगे बढो।"

और सचमुच वह दीवार चलने लगी। जब चागदेव ने वह करिश्मा देखा तो उनकी आख खुल गई और ज्ञानेश्वर के पैर पकडकर उन्होने क्षमा मागी। चौदहसौ बरस का यह बूढा सोलह साल के बच्चे का शिष्य बन गया।

नामदेव

१

सत नामदेव का हृदय बडा ही कोमल था। सभी प्राणियो के बारे मे उनके मन मे दया-भाव था। एक दिन वह खाना खाने की तैयारी मे थे। इतने मे एक कुत्ता वहा आया और उनकी थाली से रोटी लेकर भागने लगा। वह रोटी सूखी थी। नामदेव को लगा कि बेचारे कुत्ते को उससे परेशानी होगी, इसलिए वह घी का कटोरा लेकर उसके पीछे दौडने लगे। कुत्ता डर के मारे जोर से भागने लगा। आखिर नामदेव ने उसे पकड ही लिया और उसके मुह की रोटी पर घी चुपडकर वह उसे बहुत प्रेम से खिलाई।

२

सत नामदेव भारत के सभी मुख्य-मुख्य तीर्थ-स्थानो की यात्रा करते हुए जब आवढया नागनाथ पहुचे तो वहा के लोगो ने उनसे आग्रह किया कि वह शिवजी के मन्दिर मे कथा-कीर्तन करे। नामदेव ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और वह कीर्तन करने लगे। उस मन्दिर के पुजारी ब्राह्मण थे। उन्हे यह बात खटकी कि एक अब्राह्मण आकर वहा कीर्तन करे। इसलिए वह मन्दिर मे गये और नामदेव से बोले, "यह क्या शोर मचा रखा है ? यह शिवजी

का मन्दिर है। पढरपुर का विट्ठल मन्दिर नही है। यहा विष्णु का गुणगान नही किया जा सकता। तुम लोग निकल जाओ यहा से।"

इसपर नामदेव ने श्रोताओ से कहा, "भाइयो, चलिए हम लोग मन्दिर के पिछवाडे जाकर भगवान का भजन करे।" और वह पीछे की ओर चले गये।

इतने मे एक चमत्कार हुआ। सारा मन्दिर घूम गया और उसका दरवाजा पूरब से पश्चिम की ओर हो गया, मानो स्वय शिवजी नामदेव का कीर्तन सुनना चाहते थे। वह चमत्कार देखकर ब्राह्मण देवताओ की आखे खुल गई और उन्होने नामदेव से क्षमा मागी।

एकनाथ

१

सन्त एकनाथ के गुरु जनार्दन-स्वामी ने एकनाथ को हिसाब-किताब रखने का काम सौप दिया था। एकनाथ यह काम बडी होशियारी से करते। एक दिन हिसाब जाचते समय उन्होने देखा कि हिसाब मे कहीपर एक पाई की भूल हो गई है। उन्होने काफी जाच-पडताल की, मगर भूल का पता न लगा। एकनाथ बडे बेचैन हो गये।

आखिर रात को जब जनार्दन स्वामी सो गये तो एकनाथ चुपके-से उठे और दूसरे कमरे मे दीया जलाकर हिसाब की बहिया जाचने लगे। चार, पाच, छ बार उन्होने सारे हिसाब जाचे, मगर भूल थी कि हाथ नही आती थी। सारी रात इसीमे बीत गई। एकनाथ की सुध-बुध खो गई। बस, उसी एक पाई की खोज मे वह खो गये।

आखिरकार भूल का पता लग गया। एकनाथ ने खुशी से ताली बजाई।

"क्यो बेटा किस बात की खुशी हुई है तुम्हे ?" जनार्दन स्वामी ने उनसे पूछा। वह अपनी नीद पूरी हो जाने के बाद वहा जा पहुचे थे और एकनाथ की तल्लीनता देख रहे थे।

एकनाथ ने शरमाते और सकुचाते हुए सारा हाल उन्हे कह-सुनाया। स्वामीजी बोले, "जो आदमी एक पाई की भूल को खोज निकालने के लिए धेले का तेल खर्च करे और सारी रात जागता रहे, उसके लिए भगवान का दर्शन बिल्कुल असम्भव नही है। मेरा आशीर्वाद है कि तुम्हे भगवान के दर्शन शीघ्र ही होगे।

२

एक रोज एकनाथ गोदावरी मे नहाकर घर आ रहे थे। इतने मे एक मुसलमान ने उन्हे देखा और उनके बदन पर थूक दिया। एकनाथ कुछ नही बोले। वह चुपचाप लौट गये और फिर नहा आये। उस आदमी ने फिर उनके शरीर पर थूक दिया। नाथजी फिर नहा आये। फिर थूका। फिर नहाये। इस तरह एकसौ आठ बार हुआ। आखिरी बार वह नहाकर आये और इन्तजार करने लगे कि वह मुसलमान कब थूकता है। पर उस आदमी को बडा पछतावा हुआ और वह अपने ही हाथो से अपने गालो पर थप्पड लगाता हुआ बोला, 'महाराज, आप तो मुरशिद है, मौला है। मै बडा गुनहगार हू, आप मुझे माफ करे।"

३

एक बार एक हरिजन लडकी हठ पकड बैठी कि मै अपने घर, अपने हाथो, एकनाथ महाराज को भोजन कराऊगी। उसे सभीने बहुतेरा समझाया, मगर वह किसी तरह न मानी। आखिर जब यह बात एकनाथ के कानो तक पहुची तो वह हँसकर बोले, "इसमे कौन कठिन बात है। मैं उस लडकी के घर जरूर भोजन करूगा।"

और सचमुच वह उस अछूत के घर बडे प्रेम से भोजन कर आये।

रामदास

१

एक दिन समर्थ रामदास नदी मे खडे होकर जप कर रहे थे। उसी समय कोई ब्राह्मण स्त्री सती होने जा रही थी। उसने रामदास को देखा तो पास जाकर उनको प्रणाम किया। रामदास अपने जप-जाप मे मग्न थे। उन्होने हमेशा की आदत के अनुसार आशीर्वाद दिया, "अष्टपुत्रा सौभाग्यवती भव!"—तुम्हारा सुहाग सदा बना रहे और तुम्हारे आठ लड़के हो! मगर तुरन्त ही उनके ध्यान मे अपनी भूल आ गई और उन्होने लोगो से उस स्त्री के पति के शव को अपने पास लाने को कहा। जब वह शव उनके

पास लाया गया तो उन्होने भगवान राम का स्मरण करके गोदा मैया का जल उसके मुह मे डाला। वह आदमी जीवित हो गया और रामनाम जपने लगा। इस स्त्री के जो पहला बेटा हुआ उसे उसने रामदास के चरणो मे समर्पित कर दिया। यही आगे चलकर उद्धव गोस्वामी के नाम से मशहूर हुआ और रामदास का प्रधान शिष्य माना जाने लगा।

२

लोगो को नसीहत देने का रामदास का ढग बडा रोचक होता था। एक बार कोई किला बन रहा था। हजारो मजदूर काम कर रहे थे। उनको देखकर छत्रपति शिवाजी महाराज के मन मे विचार आया, "मै कितना महान हू कि इतने लोगो को रोजी देता हू।"

उनके मन मे यह विचार आना था कि इतने मे उन्होने रामदास की आवाज सुनी, "जय-जय रघुवीर समर्थ !"

शिवाजी ने आगे बढकर रामदास के चरण छुए। स्वामीजी मुस्कराये। बोले, "शिवबा, कितने गर्व की बात है कि तुम्हारे कारण इतने लोग जी रहे है !"

"महाराज, यह तो आपकी कृपा हे।" शिवाजी बोले।

इतने मे एक बडे-से पत्थर पर रामदास की निगाह पडी। उन्होने सगतराश को बुलाकर कहा, "इस पत्थर को बीचोबीच से काट दो।"

सगतराश ने वैसा ही किया। देखते क्या है कि उस पत्थर से थोडा-सा पानी और एक जिन्दा मेढक निकला। रामदास ने शिवाजी की तरफ देखा और मुस्करा दिये, मानो वह कहना चाहते थे, "देखो शिवबा इस पत्थर मे यह मेढक कैसे जीवित रहा ? क्या इसका भी पालन-पोषण तुम्ही करते थे ?"

शिवाजी महाराज अपनी भूल को समझ गये और फिर कभी घमण्ड के चगुल मे न फसे।

३

एक बार शिवाजी महाराज ने अपने सारे राज्य का दान-पत्र लिखकर रामदास की झोली मे डाल दिया। शिवाजी की यह गुरु-भक्ति देखकर वह बडे गद्गद् हुए और उन्होने कहा, "शिवबा, तुमने अपना राज तो मुझे दे दिया। अब तुम क्या करोगे ?"

"महाराज, मैं आपकी सेवा करता रहूगा।"

रामदास ने कहा, "राजन्, राज्य चलाना तो क्षत्रियो का काम है। यह तो तुमको ही करना होगा।"

आखिर जब शिवाजी ने बहुत जिद की तो बोले, "अच्छा, तुम मेरी तरफ से राजकाज चलाओ और दुनिया पर यह प्रकट करने के लिए कि यह राज सन्यासी का हे, तुम अपना झण्डा भगवा कर दो।"

शिवाजी ने उसी दिन से अपने राष्ट्रीय झण्डे का रग भगवा कर दिया।

●

सत्य एक विशाल वृक्ष है। ज्यो-ज्यो उसकी सेवा की जाती है, त्यो-त्यो उसमे से अनेक फल पैदा होते दिखाई देते है। उसका अन्त ही नही होता, हम जैसे-जैसे गहराई मे आ रहे हैं, वैसे-वैसे इसमे से अधिक रत्न मिलते जाते है, सेवा के अवसर प्राप्त होते रहते है।

—मो० क० गाधी

साधनामय जीवन

इन्द्रसेन

साधनामय जीवन के सामने सदा ही एक साध्य होता है और वह उसमे सिद्धि प्राप्त करने के लिए यत्नवान होता है। निरुद्देश्य जीवन ही साधनाहीन जीवन है और जहा उद्देश्य है, जहा यत्न है, जहा उत्तरोत्तर प्राप्ति है, वहा जीवन मे सतोष, आनन्द और रस होगे ही। अथवा जहा उद्देश्य नही, यत्नशीलता नही, लक्ष्य की उत्तरोत्तर प्राप्ति नही, केवल सामान्य खाना-पीना, सोना-जागना, थोडी मेहनत-मजदूरी और जीवन-यापन है वहा सतोष, आनन्द और रस के लिए क्या अवकाश होगा?

फिर आध्यात्मिक जिज्ञासु के लिए साध्य प्रकाश रूप तथा आनन्दमय आत्मा और परमात्मा है। इनकी हृदय-गत जिज्ञासा अपने-आपमे ही अत्यन्त सतोषप्रद होती है। पूर्ण आनन्द की हृदय-प्रेरित कल्पना ही कितना आनन्द दे देती है। उस पूर्ण आनन्द का स्पर्श तो जीवन के रोम-रोम को आह्लादित कर देनेवाली वस्तु होगी। आत्मा, परमात्मा, परमानन्द, प्रेम, अमरत्व, पूर्णता, शोक, दु ख से नितात निवृत्ति, ये सब पर्याय है। ये सब-के-सब अद्भुत उद्देश्य है, सच्चे और उच्चकोटि के। इनकी कल्पना, इनका चिंतन-मनन, इनके लिए सतत पुरुषार्थ, अद्भुत रूप मे आनन्ददायक है। और जहा गभीर भाव का कुछ पुरुषार्थ होता है, वहा थोडी-थोडी उपलब्धि भी आवश्य होती है। तब जीवन मे रस स्रवित होने लगता है और वह साधना-मय बन जाता है।

साधारण जीवन मे लोग धन, पद, यश आदि उद्देश्यो के लिए खूब यत्न करते हैं और प्रत्यक्ष ही वे इसमे रस अनुभव करते हैं, परन्तु ये उद्देश्य मनुष्य को धोखा दे देते हैं। वे सब-के-सब नाशवान और परिवर्तन-शील हैं तथा दुविधा-युक्त या द्विपक्षीय हैं। मनुष्य इन्हे अजर-अमर-सा मानकर उनका अनुशीलन करता है और निराश होता है।

साधनाहीन जीवन तो समय काटनेवाला जीवन है। उसके लिए समय प्राय भार-सा अनुभव होता है। उसमे जडता बहुत होती है। मोह, भय, और चिंता अधिक रहते है। कुछ सामान्य-सी क्रियाओ और चेष्टाओ को वह दोह-राता रहता है। उसमे उत्साह, प्रेम, आनन्द, ज्ञान-वृद्धि आदि के लिए मानव-चेतनता अथवा जागरूकता ही नही होती।

मानव मे, वैसे जगत-मात्र मे, सबसे अधिक चेतनता तथा जागरूकता है। कोई भी अन्य प्राणी इतना सजग नही, मनुष्य मे ही वास्तव मे यह सामर्थ्य है कि वह विभिन्न उद्देश्यो को विवेचन-पूर्वक देख-भाल सकता है। छोटे-बडे, सत्य-असत्य, नाशवान तथा शाश्वत उद्देश्यो मे विवेक कर सकता है तथा स्वेच्छा-पूर्वक अपने चुने हुए उद्देश्य का अनुशीलन एव उसकी उपलब्धि साधित कर सकता है। वह सामान्य द्वद्वमय मानव-जीवन से द्वद्वातीत सतत आनन्द के दिव्य जीवन को प्राप्त कर सकता है।

ऐसा सजग विकास केवल मानव को प्राप्त है। परन्तु वैसे यदि हम विस्तीर्ण अर्थ मे सारे जगत को देखें तथा मानव-प्रकृति की रचना को निहारे तो हमे यह अद्भुत सस्कार मिलता है कि सत्ता मात्र विकासमय है। जगत मे हम पृथ्वी, सूर्य, तारे-सितारे, नदी, पर्वत, जलवायु आदि असीम जड-अचेतन तत्वो को देखते हैं। फिर विशाल वन, खेत, फल-फूल के अत्यन्त विविधतापूर्ण क्षेत्र को पाते है और फिर असख्य कीट-पतग तथा छोटे-छोटे पशुओ की योनियो को देखते हैं। अन्त मे मनुष्य को, जो चिंतनशील है, सृजनशील है, भूत और भविष्य की कल्पना करता है तथा आत्मा, परमात्मा और पूर्ण ज्ञान और परम आनन्द की जिज्ञासा करता है।

यह सब क्या एक विकास-क्रम का रूप नही है?

निर्जीव से प्राणमय, तथा चेतन तथा आत्म-सजग तथा पूर्ण ब्रह्म-ज्ञान, कितना स्पष्ट और सुन्दर है विकास का मार्ग। इसमे मानो कुछ सकेत है ही। फिर तम, रजस और सत्व स्पष्ट विकास को जतलाते है। तमस मदता है, अन्धता है, अचेतनता है। रजस् चेष्टा है, गति है, सघर्ष है, राग-द्वेष है। सत्व सम-स्वरता है, सन्तुलन है, सुख है, प्रकाश है, सद्भाव हे। कितना सुन्दर है यह सारा विकास का मार्ग। सत्व की स्थिति बडी ही सुन्दर है, परन्तु हे फिर भी आधार-भूत मे द्वन्द्वमय। आत्म-स्थिति मूलगत भाव मे एकत्तत्व-मय होती है, अत तम, रज और सत्व की द्वन्द्वात्मक अवस्थाओ से परे है द्वन्द्वातीत आध्यात्मिक स्थिति।

भारतीय जीवन की व्यक्तिगत तथा सामाजिक अवस्था भी विकासात्मक तथ्य पर ही आधारित थी। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास तथा शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चार ध्येय तथा अधिकारभेद का व्यापक विचार, ये सब-के-सब जीवन के समष्टि-भाव तथा व्यष्टि-भाव को अद्भुत रूप मे समन्वित करते है। इन सब अवस्थाओ का उद्देश्य केवल यह है कि व्यक्ति तथा समष्टि उत्तरोत्तर यथासभव अधिक-से-अधिक विकास को उपलब्ध कर सके और इस विकास का स्वरूप यही है कि हमारी जागरूकता सदा बढती जाय अथवा हमारी मदना कम होती जाय।

वस्तुत भगवान ने सारे जगत को साधनामय भाव दिया है, फिर भारतीय सस्कृति के निर्माताओ ने व्यक्ति और समष्टि को साधनामय कल्पित किया था। ऐसे जगत और ऐसे सास्कृतिक वातावरण मे रहते-रहते हम कैसे साधनामय न बने। साधनामयता हमारे स्वभाव मे, हमारे सस्कारो मे है और यही हमारे जीवन की परिपूर्णता और तृप्ति की माग भी है। जडता मे पडना किसी तरह भी अभीष्ट नही। सचेतनता, सजगता, प्रकाशमयता, स्वर-समता, शांति, आनन्द, सशक्तता ही ध्येय है और इन्ही-का अनुशीलन हमे सहज भाव से करना चाहिए।

अब हमारी जानने की जिज्ञासा यह होगी कि यह अचेतन से अधिकाधिक सचेतन बनने का अभ्यास किया जाय तो कैसे ?

उपाय वस्तुत स्पष्ट और सन्देह-मुक्त है। वह यह कि पहले तो हमारे अन्दर इसके लिए उत्कट जिज्ञासा होनी चाहिए। यह जिज्ञासा तथा अभीप्सा तथा चाह तथा लगन कि हम अधिकाधिक सचेतन होते जाय। यह चाह और लगन दिन-रात और हर क्षण की हो जानी चाहिए, सहज और स्वाभाविक हो जानी चाहिए, स्वप्न मे भी यह भाव प्राप्त हो जाना चाहिए। इसके लिए अपने-आपमे अभ्यास करना होगा। परन्तु चाह और लगन सच्ची, गभीर और व्यापक हो जाने पर शेप कुछ प्रश्न रहता ही नही। क्या पूजा करनी चाहिए, क्या और कैसे ध्यान करना चाहिए, अथवा ज्ञान, कर्म और भक्ति की किन प्रक्रियाओ का अनुशीलन करना चाहिए, ये सबकुछ भी प्रश्न नही रहता। मानव की सच्ची लगन के उत्तर मे हृदय-निहित भगवान तथा आत्मा साधक को स्वय अपना पथ-प्रदर्शन प्रदान करने लगते है और वह अपनी उपयुक्त साधना का मार्ग अपने-आपसे स्पष्ट देखने लगता हे। प्यासा पानी खोज निकालता है, उसे पानी मिलता ही हे, उसकी प्यास ही उसे वह एकग्रता प्रदान कर देती हे कि वह पानी की खोज मे सफल हो जाता हे।

व्यक्ति की लगन उसके लिए अनुकूल वातावरण खोज निकालती है, पथ-प्रदर्शन ढूढ देती है, पठन-पाठन की दिशा दिखा देती है, उसके हृदय मे भक्ति-भाव प्रेरित कर देती है, उसे सेवा और समर्पण का क्षेत्र सुझा देती है। श्रीअरविन्द की परिभाषा मे इसे हम 'अभीप्सा का विधान' कहेगे। यह विधान साधक के लिए प्रथम वस्तु हे तथा उसके लिए सफलता की अचूक कुजी है। यह होने पर कभी कोई साधक असफल नही होता। जहा जितनी अभीप्सा मे कमी होती है, वही तथा उतनी ही उसकी असफलता रहती है है।

कितना सुन्दर है यह तथ्य। अपने हृदय की चाह बढाना ही सारा काम है। बाकी सब अपने-आप होता जायगा।

हमारी अभीप्स होनी चाहिए, चेतना के विकास के लिए, इसके लिए कि हम अधिकाधिक सचेतन हो जाय। हमारी सामान्य चेतना स्वार्थों द्वारा अत्यन्त सीमित और सकीर्ण वन जाती है, उसमे महानता और विशालता नही होती। जो चेतना जितनी सकर्ण होगी, उतनी ही उसमे

चिता-शीलता होगी। अब चेतना के विकास का अर्थ है कि उसे विशाल बनाया जाय, उसे सर्वहित के अनुशीलन का अभ्यास कराया जाय, हम अपना काम करते हुए भी यह अनुभव करे कि यह सर्व-हित का ही मन्त्र है। इस प्रकार सर्वहित अधिकाधिक हमारे मन-प्राणो मे बसने लगे तथा चेतना को उत्तरोत्तर गहरा बनाता जाय। साधारणतया हमारी चेतना वस्तुओ को ऊपर-ऊपर से देखती है तथा तात्कालिक लाभ को ही अनुभव करती है। इसके स्थान पर उसे अभ्यास यह कराया जाय कि वह वस्तुओ को उनके आन्तरिक तथा स्थायी भाव मे देखे, किसी व्यक्ति को मानो उसके तात्कालिक क्रोध के रूप मे ही न देखे, वल्कि उसके समग्र स्वभाव तथा शान्त आत्मा के रूप मे देखे। तीसरी, हमारी चेतना मे महानता आनी चाहिए, वह वस्तुओ तथा व्यक्तियो को सर्वोपरि सत्ता, भगवान की दृष्टि से देख सके। पिता को अपने सारे बच्चे प्रिय होते हैं, वच्चो मे आपस मे चाहे जितना ही राग-द्वेप क्यो न हो। भगवद्भाव मे वस्तुओ को देखने के अभ्यास से व्यक्ति मे अद्भुत महानता आती है। महानता केवल है ही उस दृष्टि मे।

साधनामय जीवन का प्रथम रहस्य है—अभीप्सा। अभीप्सा साधना का सार है। अभीप्सा के विना साधना साधना ही नही। वह फलप्रद नही होती। साधनामय जीवन का दूसरा आनन्ददायक रहस्य है कि जीवन का प्रत्येक कर्म साधना-रूप वन सकता है। खाना-पीना, सोना-जागना, चलना-फिरना, मिलना-जुलना, सब-के-सब पूजा-अर्चना तथा ध्यान का रूप वन सकते है। वह कैसे ? इस तरह कि वे सव-के-सव अधिकाधिक सजगता को वढानेवाले बने। हम जो कुछ भी करे, खूव सजगता से करे, उसे अच्छे-से-अच्छे रूप मे करे, विशाल, सर्वहित और गम्भीर स्थायी तत्व की दृष्टि से करे, पूर्णत्व के भाव को लेकर करे। ऐसा करने से हमारी चेतना सतत् भाव मे अन्तर्मुखता, ऊर्ध्वमुखता और विस्तीर्णता मे साक्षात् वढती अनुभव होने लगेगी तथा हमे जीवन मे वृद्धि और लाभ की आन्तरिक अनुभूति होने लगेगी।

कितना सुन्दर और सरल है साधना का यह क्रम। मनुष्य जो भी करे, वह सजगता से करे, प्रेम से करे, आनन्द से करे, सर्वहित मे करे, भगवद्रूप मे करे, विशाल और उदात्त भाव से करे। इस प्रकार उसके सारे कर्म आत्मोपलब्धि और भगवद्-प्राप्ति के साधन बन जायगे। घण्टे-दो-घण्टे के ध्यान, स्वाध्याय, पूजा-पाठ मे वस्तुत वह वल नही, जो इस प्रकार किये गए सामान्य कर्मो मे है, क्योकि इस प्रकार तो साधना चौबीसो घण्टे की वस्तु बन जाती है।

ध्यान, स्वाध्याय, पूजा-पाठ, विशेष एकाग्रता के विकासात्मक कर्म होने से बराबर उपयोगी है, परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि वे उपयोगी तभी तथा उतनी ही मात्रा मे होते है, जितने वे सजगतापूर्वक, प्रेम तथा आनन्दपूर्वक किये जाते है। यान्त्रिक रूप मे किया हुआ जप चेतना के विकास का कारण कैसे बन सकता है ?

अन्त मे हम साधनामय जीवन का सार इस प्रकार कहेगे। विकासमय जगत मे निवास करते हुए मानव का स्वरूप साधक का ही है और उसे तव सजगतापूर्वक अपनी चेतना अधिकाधिक वढानी चाहिए। सर्व-चेतन भगवान उसका लक्ष्य है, उनका वह स्मरण करे, उनकी अभीप्सा जगाये और सतत् भाव मे अचेतनता का त्याग करे और सचेतनता को परिवर्द्धित करे। अपनी चेतनता मे विशालता लाये, गम्भीरता जुटाये तथा महानता पैदा करे। वह जीवन मे कृतकार्य होगा, आत्मा तथा परमात्मा को उपलब्ध करेगा।

हर्ष-शोक का बंटवारा

नारायण देसाई

●

जीवन के पहले सात-आठ साल के प्रसग मनुष्य को कहा-तक याद रह सकते है ? किन्तु इन्ही सात-आठ वर्षो मे भावी जीवन के अधिकाश सस्कारो की छाप मानस-पट पर अकित हो जाती है। इन वर्षो की छाप कृष्ण पक्ष की रात-सी होती है। उसमे किसी एक चन्द्र की प्रभा नही होती, पर लाख-लाख तारको की आभा बनी होती है। उसे देखकर हमारी आखो मे चन्द्र की चमक नही झलकती, लेकिन सारे तारको की मिलकर बनी हुई रागोली होती है।

मेरे जीवन मे आरम्भ के सात-आठ सालो (१९२४ से १९३२) मे मेरे मानस पर जो छाप पडी है, वह भी कृष्ण पक्ष के नभोमण्डल जैसी ही है। हा, उसमे कही-कही बापू-बा जैसे सूर्य-चन्द्र की तेजस्विता है, कही मेरे पिताजी या नरहरिभाई के-से गुरु-शुक्र की-सी स्वतन्त्र चमक भी है। परन्तु उन सबसे कही अधिक उसमे है अनजाने तारे और निहारिकाओ की आकाश-गगाए जो बापू के नभोमण्डल मे सदा शोभती थी। उसमे कोई एक विशेष पात्र तारा नही है। किन्तु अनगिनत तारो की उसमे डिजाइन बनी है और जब आपस मे घुली-मिली इन रातो के चित्रो को मै अलग-अलग पक्ति मे रखने का प्रयत्न करता हू तो उसमे दो रग विशेष रूप से निखरते हे। मानस-सृष्टि के दो सनातन रग—एक आनन्दोल्लास का रग और दूसरा गहरे विषाद का। ये दोनो छाप है—बापू के आश्रम मे अनुभव किये हुए एक-से प्रसगो की मिश्रित छाप। कई बार तो यह हर्ष और विषाद की छाप भी मिश्रित-सी मालूम होती है, किन्तु सुविधा की दृष्टि से यहा उसे अलग-अलग कहता हू।

हर्ष की छाप के प्रतीक बनते है आश्रम के उत्सव, विषाद की छाप के प्रतीक बनते है उस काल मे देखे हुए मरण के प्रसग।

शैशव स्वय ही जीवन के प्रत्येक दिवस मे हर्ष का कुमकुम घोल दे सकता है, फिर यहा तो बीसो बच्चो का कलरव, कलकल करती हुई साबरमती नदी और जीवन का आनन्द लूटते और लुटाते काकासाहब जैसे आचार्य और सत्याग्रह के शुष्क वातावरण मे भी 'चित्रागदा' और 'विदाय अभिशाप' को गुजराती मे अनूदित करनेवाले बुजुर्गो की गोद और मानो भक्ति और सगीत ने मिलकर अवतार लिया हो—जैसे पडितजी (खरे) के स्वर मिले थे। फिर पूछना ही क्या था ?

आश्रम के उत्सवो की याद आते ही तो सारा बाल्य-काल एक अखण्ड उत्सव बनकर आखो के सामने खडा हो जाता है। लेकिन उसमे भी विशेष निखरते है : एक, गोकुल अष्टमी, जब सारा आश्रम मिलकर भगवद्गीता का सह-पारायण करता है, हमसे पाच-सात बडे बच्चो की टोली—राम भाऊ, मधुरी, कनु, इदु वगैरह साथ मिलकर एक सुर से शकराचार्य-रचित गोविन्द पचकम् के श्लोक गाकर हमे चौका देते हैं, सिर पर लाल रग की पगडी और कमर पर छोटी-सी सफेद धोती पहने हम नगे बदन बछिया चराने निकलते है और लौटते समय दही-मक्खन के बदले हमारे मुह गोशाला के पेडो से भरे होते है।

और स्मृति-पट पर गोकुल अष्टमी के पास ही खडी है रामनवमी तुलसीकृत रामायण के सुरो से गूजती। उसके प्रमुख पात्र हैं पण्डित तोतारामजी, जो उत्तर प्रदेश की खेती का विकास ठेठ फीजी द्वीप तक पहुचाकर अन्त मे साबरमती-आश्रम की खेती सभालते है। आम दिनो मे उनसे हमारा सम्बन्ध तब आता जब प्रेमाबहन खाना बन्द कराती। उनके (यानी आश्रम के) खेतो से टमाटर, गाजर, मूली या मोगरी तोडकर खाना और 'चोर' न कहलाने के लिए उनके मकान की मोरी की नली मे मुह डालकर जोरो से 'तो.. ता' कहकर चिल्लाकर उन्हे सूचना देकर

अपनी चोरी को डकैती का रूप देने का, कभी-कभी उनके हाथ फस जाने पर कमरो मे बन्द होने का और यदि उसी कमरे मे गलती से टमाटर की टोकरी रखी हो तो उसपर धावा बोलने का और उसका हर्ष आवश्यकता से अधिक जल्दी प्रकट कर उस कमरे मे निकालकर दूसरी खोली मे बन्द होने का तथा अन्त मे क्रन्दन की शरण ले मुक्ति पाने का था। लेकिन रामनवमी के दिन आश्रम की उस परम मगल विभूति की आध्यात्मिक खेती के फल हम बिना मागे, बिना समझे चखते जिसकी मिठास उन टमाटर और गाजर से भी कही अधिक गहरी और स्थायी थी, यह तो आज समझ मे आता है। और उसी प्रकार की एक रामनवमी के दिन सूत्र-यज्ञ करते समय (हर उत्सव को बापू सूत्र के धागे से अवश्य बाधेगे) एक घडीभर मे ही विनोबा की आखो से भक्ति-अश्रु टप-टप-टप टपकने लगे थे।

परन्तु स्मृति के पट पर ऐसे अनेक धार्मिक और सामाजिक उत्सवो को पीछे रख देनेवाली स्मृति है चरखा द्वादशी की। बापू के आश्रम मे बापू ही के जन्म-दिन का उत्सव। यह कहा का शिष्टाचार ? लेकिन इस वर्षगाठ को बापू ने अपनी वर्षगाठ माना ही नही था। यह तो थी चर्खे की वर्षगाठ। इसलिए बापू भी उसमे हमारी तरह ही उमग से शरीक होते थे। उनको उस दिन लोगो से बचने के लिए कही दूर भाग जाना नही पडता था, और न उनको बनना पडता था उस दिन के नाटक के मुख्य पात्र। उस दिन बापू एक सामान्य आश्रमवासी ही रहते। हमारी दौड की स्पर्धा मे समय नोट करते, हमसे बडो के कबड्डी के खेल मे कभी-कभी वह शामिल होते। साबरमती नदी मे हम लोगो के साथ तैरते (यदि नदी मे बाढ न हो तो !), शाम को खाते समय हमे परोसते और रात को नाटक के समय वह भी अधिकाश लोगो की तरह प्रेक्षक बन जाते। उस दिन का मुख्य पात्र तो चरखा ही था। चर्खा-द्वादशी का दिन गाधी-जयन्ती का दिन है, इसका तो हमे दो-चार चर्खा-द्वादशी मनाने के बाद ही पता चला था !

आज चर्खा द्वादशी के दिन बापू की झोपडी या उनके नाम का मन्दिर बनता है। उनकी फोटो की विविध प्रकार से पूजा होती है और सूत से अधिक प्रदर्शन होता है सूत की छीजन का। मगर उन दोनो की जो तस्वीर मेरी आखो के सामने है उनमे कही मैं बापू की फोटो नही देखता हू। अखण्ड चर्खे तब भी चलते थे। उसमे अलग प्रकार के विक्रम (रेकार्ड) करने मे हम बच्चो को अपूर्व आनन्द और उत्साह होता था। कोई लगातार आठ घण्टे कातता था, कोई दो मिलकर चौबीस घण्टे निकाल देते। रात को प्रार्थना के बाद अपने-अपने काते हुए सूत के तार लिखवाने की प्रतियोगिता होती है और कातते समय चलती थी अत्याक्षरी। आरम्भ अचूक 'रघुपति राघव राजाराम' की धुन से होता। उन दिनो 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम' का समावेश उस धुन मे नही हुआ था। एक पद पूरा होने से पहले ही दूसरा शुरू हो जाता। 'आश्रम भजनावली' का खजाना तो हमारे पास था ही। अधिक चालाक लडके गीता के ऐसे सभी श्लोक जानते थे जिसके अन्तिम अक्षर से सामनेवाले को कोई कठिन अक्षर दिया जा सके। श्लोको मे शकराचार्य और भर्तृहरि के श्लोक विशेष रूप मे चलते। एक बडा भण्डार था रामायण के दोहे, चौपाइयो का। और इन सबके साथ मिल जाते सत्याग्रह की लडाई के साथ कदम मिलाकर बढनेवाले आन्दोलन गीत। इन गीतो मे

> यह सिर जावे तो जावे,
> पर आजादी घर आवे।
> यह जान फना हो जावे,
> पर आजादी घर आवे।

या

> चलाओ लाठी, चलाओ डंडा,
> फहरायेंगे हम अपना झडा।
> रक्त हमारा नही है ठंडा,
> बल्कि अग्नि-तरग—
> हमारा शुरू हुआ हे जग।

या

> अटूट एक, सूत का धागा अटूट है।
> हां, सारी फौलादी बेडियां भी टूटें।
> अटूट एक, सूत का धागा अटूट है।

जितनी ही सहजता से जलियावाला बाग का स्मरण करानेवाला रतन बा का गरबा भी गाया जाता है और बापू ने स्वय भले ही अहिंसा प्रयोग किया हो, लेकिन उनके आश्रम

के गीतो मे भगतसिंह का गौरव तनिक भी कम नही था ।

आज जब ऐसे बच्चो को देखता हू जो बिना सिनेमा के गीतो के अन्त्याक्षरी कैसे खेली जाय यह समझ ही नही पाते, तब मुझे अपने पर ही ईर्ष्या होती है ।

मुझपर ऐसा असर है कि इन उत्सवो मे आश्रम के भाइयो से भी अधिक हिस्सा बहनो का रहता था । यह नही कहा जा सकता है, हर उत्सव मे उनकी रसोई पकाने की कला को अधिक मौका मिलता था । चर्खा-जयन्ती के दिन तो एक ही बार खाना होता था । (यद्यपि हमारे घर मे पिताजी जरूर मिष्ठान्न कराते—"आज के दिन तो भाई हम अच्छी तरह खायगे, हमे वैसा कठोर जीवन नही चाहिए ।") शाम को सोमनाथ छात्रालय के बीच के मैदान मे सब इकट्ठे होकर खाने बैठते, तब भी फलाहार ही मिलता था । पर केले, मूगफली और खजूर परोसने मे भी आश्रम की बहनो का उत्साह अनोखा दिखाई देता था । रात को नाटक मे लडको जितनी ही सख्या लडकियो की होती थी और रास मे दोनो साथ होते थे । लेकिन गरबे उनके अपने ही होते थे । परन्तु इससे भी अधिक असर है मुझपर बडी बहनो की भक्ति का । वह भक्ति उत्सव स्थान के सुशोभन की हरेक विधि मे प्रकट होती । सवेरे से ही लक्ष्मीबहन खरे के यहा पारिजातक के फूल के ढेर लग जाते और फिर उसके हार गूथे जाते । आश्रम की बहनो मे एक की मूर्ति आखो के सामने खास रूप से खडी होती है । वह काशीबहन गाधी की । काशी का नाम उच्चारण करते ही एक सनातनी हिन्दू के मन मे जितनी पवित्र भावनाए जगती है, उतनी ही पवित्र भावनाए मेरे मन मे काशी मौसी का स्मरण करने से जगती है और बुढापे मे भी गाये हुए उनके गीत के वे सुर याद आते है जिनका सहज माधुर्य वायव्य सरहदी सूबे के 'पेर' फलो-सा था ।

ठुमुकि चलत रामचन्द्र, बाजत पैंजनियां

मुझे पक्का विश्वास है कि गीत गाते समय काशी मौसी किलककर चलनेवाले और लटपटाकर गिरने-पडनेवाले भगवान रामचन्द्र की बालमूर्ति का दर्शन अपने मानस मन्दिर मे करती होगी, क्योकि हम बच्चो ने भी अपनी छाती मे उनसे कौशल्या सा स्नेह ही अनुभव किया है ।

काशी मौसी की तरह ही दूसरी याद है बडी गगा-बहन (वैद्य) की जिनकी यूनानी दवाइयो मे भी अधिक असर हमपर उनकी मधुर वाणी का होता था । एक दिन आश्रम मे बगाल के सकटग्रस्त लोगो के लिए सबने श्रम करके दान किया था । मैं था सबसे छोटा । मुझे कौन काम देता ? तब गगाबहन ने अपनी बोतले धोने का काम देकर मुझे दो आने दिये थे । मेरे जीवन की वह प्रथम श्रम की कमायी थी । उस समय दूसरो की तरह मैंने भी यह माना था कि मेरे काम से कही अधिक मजदूरी मुझे गगाबहन के लाड के कारण मिली थी ।

मृत्यु मेरे पास प्रथम आयी मेरे लगोटिये साथी बसत खरे के मरण के रूप मे । अगर उसके पिता पडितजी बचपन मे हमारे लेखक थे तो बसत हमारा पाठक था । था तो वह मुझसे सिर्फ ग्यारह महीने ही बडा, लेकिन पढने की दिशा मे उसने बहुत प्रगति की थी । इसलिए रोज वह मुझे पास बैठाकर 'ईसपनीति' से कहानिया पढकर सुनाता था । इस बीच एक दिन उसे बुखार आ गया । बुखार तो बहुतो को आता था । और उस समय भी कइयो को आया था । लेकिन औरो को उसमे से चेचक निकले, किन्तु उसको चेचक बाहर निकलने के बदले छाती मे ही समा गई, और वह भगवान की छाती मे समा गया । हम तो कुछ समझ ही नही पाये । पडितजी ने अपनी वेदना प्रार्थना के भजनो मे बहा दी । आयी (लक्ष्मीबहन खरे) को वैसा करने की भी छूट नही थी, क्योकि उसी समय उनकी बेटी मथुरी भी चेचक से पटकनी खा गई थी और हमने न भजन गाये, न रोये । लेकिन वह मृत्यु छाती मे ऐसी घुस गई कि आज भी जब कभी मृत्यु देखता हू तब बसत मेरे सामने आकर खडा हो जाता है ।

उस समय चेचक ने आश्रम के तीनो बच्चो का भोग लिया—पडितजी का बसत, मथुरादासभाई का मेघजी और भगवानजी भाई की गीता । पूज्य इमामसाहब का इन्तकाल भी इसी अर्से मे हुआ था । मगनलाल काका और रसिक गाधी उनसे पहले चल बसे थे । ऐसे प्रसगो पर पडितजी जैन सत आनदघन का "अब हम अमर भये, न मरेंगे ।" यह भजन गाते या फिर "मगल मदिर खोलो ।" प्रार्थना के बाद बापू कुछ बोलते भी थे । लेकिन उस प्रव-

चन से भी अधिक महत्वपूर्ण था बापू का मरनेवालो के स्वजनो के समीप जाकर बैठना। जब मगनलाल काका गुजर गये तब तो शायद बापू ने अपना मौन भी तोडा था। इस प्रकार उन्होने एक दूसरी बार भी अपना साप्ताहिक मौन तोडा था—लेकिन वह प्रसग कालक्रम के अनुसार बाद मे पड़ता है, अभी नही।

लेकिन बापू मरनेवालो के स्वजनो को समीप ले मानो उनकी सारी वेदना को अपनी बना लेते। यदि वे बाहर जाते तो बापू रोज उनको पत्र लिखते।

और बापू अकेले ही क्यो ? उनके आश्रम मे किसीका दु ख अकेले का रहता ही नही था। इमामसाहब के जाने के बाद अमीना बहन मेरी मा की अधिक लाड़ली बन गई थी। वसत के जाने के बाद पडितजी की गोद मे और मधुरी के पास सिर मे तेल डलवाते वसत का स्थान मुझे ही मिला, ऐसा मुझे मालूम हुआ था। अरे ! आश्रम के 'लकापति' कुत्ते के मरने का शोक भी हममे से कइयो को हुआ था।

आश्रम के उत्सव और मरण-प्रसग और सब तरह तो दो सिरे के ध्रुव की तरह अलग थे, किन्तु एक मामले मे दोनो समान थे। वहा हर्ष और विषाद, सुख और दु ख दोनो का सबके बीच बटवारा होता था।'

'संत सेवतां सुकृत वाधे' पुस्तक से

●

गीता-ज्ञान-सार

गौरीशकर द्विवेदी 'शकर'

अमर-आत्मा-अनश्वर, नश्वर-नर, नर-देह,
युग-युग यह क्रम नियति का, निश्चित, निस्सन्देह।

आत्म-शुद्धि हित चाहिए, गुरु-गीता का ज्ञान,
जिससे जग-जीवन बने, सार्थक सिद्ध समान।

इन्द्रिय, तन, मन, बुद्धि पर, रखकर पूर्ण प्रभुत्व,
समझे जन-जन योग से, आत्म-शुद्धि के तत्व।

ईश्वर केवल एक है, भिन्न-भिन्न हैं नाम,
दृढ रहकर निज इष्ट पर, साधक साधे काम।

उठे न उर अविवेक वश, अहकार, अविचार;
परोपकार उत्तम यही, यही ज्ञान का सार।

ऊच-नीच की भावना, रखना घोर अनर्थ,
जग-जन-जन मे एक ही, है वह ब्रह्म समर्थ।

ऋण ले जितना जगत से, दे दूना कर दान,
उऋण रहे जिससे सदा, यही उच्चतर ज्ञान।

एक ब्रह्म सबमे रमा, रखते जो यह ध्यान,
करे नही वह अन्य का, अनहित या अपमान।

ऐच्छिक फल पाता वही, जो साधक मति धीर,
अन्तरात्मा से द्रवै, देख पराई पीर।

अवगुण अपने देखकर, करता उनको दूर,
बनता साधक सिद्ध तब, गुण-गण से भरपूर।

●

मानवता के पुजारी

जवाहिरलाल जैन

●

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की चर्चा करते हुए एक बार गाधीजी ने कहा था कि उनको जिस पहलू से देखा जाय, वह सुन्दर थे। "मोर को जिधर से देखो, वह सुन्दर लगता है।" गाधीजी के बारे मे भी सोचते है, तो लगता है कि जिस पहलू से गाधीजी को देखा जाय, वह महान थे। जिस प्रकार रवीन्द्रनाथ और सबकुछ होकर भी सबसे अधिक कवि थे, उसी प्रकार गाधीजी की महानताए भी विविध होत हुए भी उनकी सबसे बडी विशेषता मानवता थी। अलग-अलग पहलुओ से इसे वैष्णवता कह सकते है, अहिसा कह सकते है, प्रेम कह सकते है, दरिद्रनारायण की सेवा-भावना कह सकते है या जनता-जनार्दन के प्रति निष्ठा भी कह सकते हैं।

गाधीजी मे बहुत सारी कमिया थी, आखिर कमिया किस इन्सान मे नही होती। और गाधीजी चाहे और कुछ हो या न हो, निपट इन्सान तो थे ही। गाधीजी मे रवीन्द्रनाथ की काव्य-भक्ति नही थी, मोतीलाल नेहरू की तरह शान और दबगपन नही था, लाला लाजपतराय की तरह भाषण-शक्ति नही थी, लोकमान्य तिलक की-सी विद्वत्ता नही थी, सुभाष बोस की-सी तीव्रता नही थी, वल्लभभाई पटेल की-सी कार्यकुशलता नही थी, जवाहरलाल की-सी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि और राजगोपालाचारी जैसा बुद्धि का पैनापन नही था, फिर भी सबसे कही अधिक बढकर उनकी सचाई और मानवता थी, जिससे वह अपनी पीढी के एक से एक बढकर योग्य तथा अधिक-से-अधिक विभिन्नतापूर्ण महापुरुषो को एक सूत्र मे बाध सके, बाधकर अपने साथ रख सके और एक महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने पीछे चला सके। यह इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि उनके देहावसान के बाद जो भी बडे बचे थे, वे करीबकरीब सभी बिखर गये और जो बाहर से दीखने मे नही बिखरे, वे अन्दर से बिखर गये। गाधीजी मानवता का एक ऐसा पारस मात्र थे, जिसने हजारो-लाखो लोगो को छुआ और उन्हे सोना कर दिया। गाधीजी की यह मानवता जीवन की छोटी-छोटी बातो मे प्रकट होती थी। दर असल कोई भी वास्तविक गुण रगमच पर प्राय प्रकट नही होता। सार्वजनिक जीवन का मच तो एक मुखौटा है, जो वास्तविक जीवन को छिपाने का सबसे सामान्य और जानापहिचाना उपकरण है, जिसका दुनिया मे शायद सबसे ज्यादा दुरुपयोग भी किया गया है।

गाधीजी के अपने सिद्धान्त और विचार थे, जिनपर वह अत्यन्त दृढता से कायम थे। वह स्वय उनपर कडाई से चलते थे और दिल से चाहते थे कि सब लोग उनपर चले। वह उन्हे लोगो को समझाने और उनपर लोगो को चलाने का कोई अवसर नही छोडते थे। फिर भी वह जानते थे कि बहुत-से लोग उनपर नही चल सकते थे, सम्भवत नही भी चलना चाहते थे, इसलिए वह अपने सिद्धान्तो और विचारो के पालन मे व्यक्तिगत रूप से दृढ रहते हुए भी दूसरे लोगो की उनकी अपनी-अपनी पसन्द, अपनी-अपनी आदत और अपनी-अपनी मूर्खता की भी पूरी हार्दिकता के साथ कद्र करते थे और अपने पास आनेवाले मेहमानो और मित्रो की उन व्यक्तिगत पसन्दो की पूरी जागरूकता और तत्परता से चिन्ता और व्यवस्था करते थे। पैंट पहननेवाले भाई के लिए कुर्सी की, विदेशी भाईबहनो के लिए कमोड की, चाय-काफी पानेवालो के लिए चाय-काफी की, सिगरेटवालो के लिए सिगरेट की व्यवस्था तो करते ही थे, बल्कि मासाहारी मित्रो के लिए मासाहार तक की चिन्ता उन्हे रहती थी। उन्हे नेता, वकील, डाक्टर, उद्योगपति, मजदूर, व्यापारी, सन्यासी—इन सबके भीतर छिपे इन्सान के प्रति सबसे अधिक ममता और सहानुभूति

रहती थी और वह अपनापन उनके मन, वाणी और शरीर —तीनो से निरन्तर अभिव्यक्त होता था, जो विभिन्न स्तरो के देशी, विदेशी, पडोसी, दूर के सभी लोगो को स्पर्श कर जाता था, चाहे वह गाधीजी के व्यक्तिगत सम्पर्क मे प्रत्यक्ष मे आये हो या पत्र-व्यवहार आदि के द्वारा परोक्ष मे।

मानवता के इस सजीव और हार्दिक स्पर्श ने गाधीजी के ज्ञान और रुचि के विषयो को आश्चर्यजनक रूप से व्यापक बना दिया था। उन्हे सम्भवत दुनिया के हर विज्ञान और कला मे रुचि थी। राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, चित्रकला, पाककला, काव्य-कला, दर्शन किसमे उनकी रुचि नही थी, पर वह सब सामान्य मानव को अधिक स्वस्थ और सुखी बनाने के प्रयत्न मे जितने सहायक हो उतनी ही उनके लिए इन सबकी सीमा थी, इसीलिए वह 'कला कला के लिए' या 'ज्ञान ज्ञान के लिए', इस इस सिद्धान्त से कभी सहमत नही हुए। उनकी सोयाबीन से लेकर वायसराय से वार्ता तक मे समान रुचि और गति थी। उन्हे परचुरे शास्त्री के आराम की जितनी चिन्ता रहती थी, उतनी ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर के स्वास्थ्य की होती थी।

सैंकडो लोग प्रतिदिन गाधीजी से मिलने आते थे और गाधीजी को लोगो से मिलने के अलावा सभा-सम्मेलनो, दौरो, चर्चाओ आदि मे भी बहुत समय और शक्ति लगानी पडती थी। अपने समय के वह अत्यन्त व्यस्त लोगो मे से थे, पर फिर भी जिनसे वह मिलते थे, उनसे काम की बात के अलावा व्यक्तिगत और पारिवारिक जानकारी अवश्य करते थे और प्रत्येक व्यक्ति की अपनी चिन्ता कष्ट, कठिनाई और उलझन पर उनकी सदा निगाह रहती थी। मानवता के इस स्पर्श ने, जनता-जनार्दन की इस अनन्य भक्ति ने उनकी स्मरणशक्ति को इतना तीव्र बना दिया था कि जब भी वह किसी व्यक्ति से दुबारा मिलते या पत्र-व्यवहार होता तो उस कठिनाई के बारे मे वह अवश्य पूछते थे। गाधीजी के विचार और काम के साथ सब व्यक्तियो का मेल खाता हो या न खाता हो, पर इस व्यक्तिगत स्नेह और आत्मीयता के आगे हरेक आदमी का दिल मोम का हो जाता था और गाधीजी के साथ वह श्रद्धा और स्नेह मे बध जाता था।

हजारो लोगो से गाधीजी का पत्र-व्यवहार था। देश-देश के कोने-कोने से लोग उन्हे पत्र लिखते थे। विदेशो से भी बहुत-से लोग उन्हे पत्र लिखते थे। गाधीजी देश की बडी समस्याओ मे उलझे रहते थे तब भी वह हजारो पत्र लिखनेवाले परिचित-अपरिचित लोगो की घरेलू समस्याओ को सुलझाने मे रुचि लेते थे।

गाधी के निकट के बडे लोग अक्सर नाराज होते थे कि बापू का बहुत-सा समय और शक्ति छोटे-छोटे कामो मे बेमतलब बरबाद होती है, लेकिन वे बेचारे कहा समझते थे कि वास्तविक महानता सामूहिक व्यवसाय और कार्य मे नही, व्यक्ति की आत्मा के साथ हार्दिक सहानुभूति और सवेदना के धागे से बधने मे ही है। गाधीजी ऐसे हजार धागो से बधे हुए थे, इसीलिए वह सबसे अधिक मुक्त थे और एक ही क्षण मे 'हे राम' कहकर वह उसी राम मे—प्रत्येक चेतन कण मे व्याप्त राम मे—समा गये, जिसका स्पर्श उन्होने अपने प्रबुद्ध जीवन के प्रत्येक क्षण मे पाया था।

इसी स्पर्श ने गाधीजी को विश्व-भारती के फूलो और पत्तो की कलापूर्ण सजावट से युक्त स्वागत को अधिक समय तक सहन न करने को बाध्य कर दिया। उन्होने उसे हटाकर अपने चर्खो और खादी को वहा सजा दिया और बोले, "मेरे मन मे इन गुलाब के फूलो से ज्यादा कीमत देश के गरीब-से-गरीब और मैले-कुचैले बच्चो की है, जिनके लिए मैंने खादी को अपनाया है, क्योकि मै उनके सूखे गालो पर इन गुलाब के फूलो जैसा गुलाबीपन देखना चाहता हू।"

इसी स्पर्श ने उडीसा की अकाल पीडित अधनगी बहन का कष्ट और अभाव देखकर गाधीजी को अधनगा रहने पर बाध्य कर दिया।

मानवता का यह कोमल, सवेदनापूर्ण और हार्दिक स्पर्श ही मनुष्य का सबसे बड़ा वैभव है। इसी कारण गाधीजी अपने युग के शायद सबसे अधिक वैभवशाली मानव थे। इसीने उन्हे बुद्ध और ईसा की पक्ति मे ले जाकर बिठाया और इसीके कारण आगे आनेवाला मानव उन्हे कभी नही भूलेगा। ●

सच्चा धर्म

रामनारायण उपाध्याय

•

धर्म क्या है ? जिसमे मनुष्य का हित हो, वही सच्चा धर्म है। वेद व्यास ने अठारह पुराणो का साराश केवल दो पक्तियो मे प्रस्तुत कर दिया है—"परोपकार ही पुण्य और परपीडा ही पाप है।" परोपकार की परिभाषा करते हुए वैष्णव कवि नरसिंह मेहता ने वहुत ही सुन्दर वात कही है "सच्चा वैष्णव वह है जो दूसरो के दर्द को पहचाने, उसे मिटाने का उपाय करे और फिर भी मन मे अभिमान न लाये।'

किसीके दर्द को पहचाना और उसे मिटाने का उपाय नही किया, कोरी सहानुभूति बताकर रह गये तो दर्द को क्या पहचाना ? उस दर्द को मिटाने का उपाय किया और मन मे अभिमान आ गया, अनुभव हुआ कि मैंने कुछ किया हे और उस करने के बोझ से सामनेवाले को दवा दिया तो क्या भलाई की ? जो दूसरे के दर्द को पहचाने, उसे मिटाने का उपाय करे और फिर भी मन मे अभिमान न आने दे वही सच्चा वैष्णव है।

भलाई करना मनुष्य का उसी तरह सहज स्वभाव है, जिस तरह कुए मे से एक बालटी जल निकालने पर विना हो-हल्ला किये सव ओर का जल दौडकर उस गढे को, उस दर्द को, दूर देता है। जैसे हम सास लेते है और हमे कुछ करने का भान नही होता, उसी तरह सहज भाव से सेवा करना मनुष्य का धर्म है।

सेवा विनम्रतापूर्वक ही की जा सकती है। सूर्य का धर्म सव जगह प्रकाश पहुचाना है। लेकिन जिन घरो का दरवाजा वद होता है वहा वह दस्तक देकर, दरवाजे को ठोक-पीटकर, प्रकाश नही पहुचाता। वह तो विनम्रता से दरवाजे की देहलीज पर खडा रहता है। और जैसे ही दरवाजा खुला कि अन्दर पहुच जाता है। दरवाजा देर से खुले तो उसे शिकायत नही। अपने खड़े रहने की उसे कोई तकलीफ नही। प्रकाश पहुचाना ही उसका धर्म हे। यही सच्चे सेवक का लक्षण है।

मनुष्य का जो कर्तव्य है, वही उसका धर्म है। जो भी आदमी ईमानदारी से अपने कर्तव्य का पालन करता है वह सच्चा धार्मिक है। किसान का धर्म खेती करना है। जो किसान हल की मूठ पकडकर खेतो, मैदानो मे काम करता है, भगवान मिट्टी मे से अनाज उत्पन्न कर उसकी मदद करते है।

कबीर ने ईमानदारी से कपडा बुना, भगवान को ग्राहक बनकर उसकी मदद को आना पडा, सकूबाई ने ईमानदारी से चक्की चलाई, भगवान को चक्की का हत्था पकडकर उसकी सहायता करनी पडी। जहा भी दो हाथ काम मे लगे वहा हजार हाथो से भगवान को उनकी मदद करनी पडती है।

भगवान का यह नियम है कि जो भी उसे सच्चे मन से पुकारता है वह उसके पास पहुच जाता है। द्रौपदी ने जव सच्चे मन से पुकारा तो उन्हे उसके लिए वस्त्र बनकर आना पडा। परतन्त्र भारत ने जव उन्हे सच्चे मन से पुकारा तो उन्हे उसके लिए स्वतन्त्रता बनकर आना पडा और आज जवकि स्वतन्त्र भारत के सामने रोटी का प्रश्न है, भगवान को उसके लिए रोटी बनकर भी आना पडेगा।

कहते हैं, भगवान के सहस्र नाम हैं लेकिन सहस्र ही क्यो, दुनिया मे जितने प्राणी है, भगवान के उतने नाम हैं। रवीन्द्रनाथ ने तो एक जगह गाया है

"अरे, तू आंखें बन्द कर किसका ध्यान कर रहा है ?
वह तो वहा है, जहां किसान खेतो मे हल चला रहा है।
मजदूर सडको पर गिट्टी तोड़ रहा है।"

कहते हैं, स्त्रियो के लिए वेद पढना मना है। क्यो ? इसलिए कि जो सुबह से शाम तक भगवान की पूजा करने

की तरह घर के कार्यो मे जुटी रहे उसके पास अलग से वेदो को पढने के लिए समय ही कहा रहता है ! जिसका जीवन ही यज्ञ बन चुका, वह और कौन-सा यज्ञ करे ? जिसके हाथ मे काम और हृदय मे नाम है, उसके साथ सदा राम रहते ही है ।

हमने तो पाषाण मे भी भगवान के दर्शन किये है । जो पत्थर जैसी कठोर वस्तु मे भी हो सकता है वह मनुष्य मे तो होना ही चाहिए । दुर्भाग्य से हमने मूर्ति मे तो भगवान के दर्शन किये, पर मनुष्य मे उसे भुला दिया ।

कहते है, एक बार भगवान मनुष्य बनकर मनुष्य के पास आये तो मनुष्य ने उन्हे नही पहचाना । इस घटना से वह स्तब्ध होकर मूर्तिवत् खडे रह गये । अब आदमी है कि उन्हे मन्दिरो मे खोज रहा है ।

भगवान की पूजा का अर्थ है त्याग मे से फल-प्राप्ति के रहस्य को समझना । हम उन्हे फूल चढाते है, इसलिए कि हम वृक्ष पर से उन्हे तोडे तो ऐसा न हो कि उन्हे एकदम अपनी नाक से लगा ले । पहले उन्हे हमे किसीके चरणो पर समर्पित कर फिर उनका उपयोग करना चाहिए । हम जब भोजन करते है तो पहले भगवान को नैवेद्य लगाते है । वह इसलिए कि हमारे सामने जब भोजन की थाली आये तो ऐसा न हो कि हम कौर तोडे और खाने लग जाय । हम देखे कि हमारे आसपास कोई भूखा तो नही है । हमारा कौर पहले भगवान को अर्पित होकर तब मुह तक जाय । हमारे यहा तो दक्षिणा भी भिगोकर देने का नियम है, वह इसलिए कि हम जो कुछ दे वह हृदय से दिया जाना चाहिए, उसे स्नेह से गीला होना चाहिए ।

धर्म का उद्देश्य मनुष्य को किसी मत या पन्थ से बाधना नही है, वरन् जो सब तरह के बन्धनो से मुक्ति दिलाये वही सच्चा धर्म है । शकराचार्य ने कहा —"आग ठण्डी है, ऐसा सौ श्रुतिया भी कहे तो भी नही मानना चाहिए । अपने प्रत्यक्ष अनुभव मे से ज्ञान प्राप्त करो ।"

कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया और अन्त मे कहा, "जो तुम्हे उचित लगे वही करो" ।

नारद ने तो यहातक कहा कि वेद को भी गगा मे समर्पित कर दो, फिर सोचो और जो तुम्हे ठीक मालूम हो, उसे स्वीकार करो । गुरु का कार्य तो ज्ञान की दहलीज तक पहुचाना है । शेष रास्ता तो साधक को अपने पावो से चलकर तय करना है ।

जिस तरह शिक्षक विद्यार्थियो को भूगोल, इतिहास और गणित आदि का पर्चा देकर परीक्षा लेता है, उसी तरह भगवान भी आदमी को गरीबी, अमीरी, निर्बलता और बल का पर्चा देकर उसकी परीक्षा लेता है । जो आदमी अपने धन का उपयोग गरीबो को सताने मे करता है, बल का उपयोग निर्बल को दबाने मे करता है, वह असफल होता है । पर जो अपने धन का उपयोग गरीबो की मदद मे करता है और बल का उपयोग सेवा मे करता है, वह भगवान के दिये पर्चे मे उत्तीर्ण हो जाता है । इसके अतिरिक्त भगवान मे हरेक आदमी को प्यार करने का एक और पर्चा दिया है । उसमे उत्तीर्ण होनेवाला ही सच्चे धर्म के मर्म को पहचानता है ।

व्यक्ति की पूजा के बजाय गुण की पूजा करनी चाहिए । व्यक्ति तो गलत साबित हो सकता है और उसका नाश तो होगा ही, गुणो का नाश नही होता ।

—मो० क० गांधी

हरि के प्यारे : हरिजन सारे

नवारुण वर्मा

●

"दूर हटो, दूर हटो, मारो, मारो।"

मैदान मे यही आवाज गूज रही थी। एक कोने मे खडे हुए कुछ काले-काले-से लोगो के प्रति सजे-धजे लोगो मे उत्तेजना फैल गई थी। सैंकडो लोग उनपर टूट पडे थे।

कोई चीख रहा था—मारकर हड्डी-पसली तोड दो। इन कम्बख्तो की ऐसी हिम्मत कैसे हुई ?

और भीड अन्धी होती है। उन लोगो पर मार पडने लगी। शोर बढ गया था।

क्या था इनका अपराध ? क्या ये चोर-गिरहकट थे ? नही, वे अछूत थे, जो बडे ही आग्रह से सभा मे भापण सुनने आये थे। उसके दर्शन करने आये थे, जो भारत का उद्धारक है। दुखी लोगो का त्राण करनेवाला है।

उनपर मार पड रही थी और वे लगातार चीख रहे थे—भाइयो, हमने तो कोई बुरा काम नही किया है। हम तो सिर्फ महात्माजी का भाषण सुनने आये है।

ऊचे वर्ण के लोगो के साथ भाषण सुनने आये है ये ? इतनी हिम्मत इनकी ? यही तो इनका सबसे बडा अपराध है। लोग आपस मे बाते कर रहे थे।

अचानक शोर थम गया। लोग पुकार उठे—महात्माजी आ गये।

परन्तु दूसरे ही क्षण समूचा दृश्य बदल गया। महात्माजी मच पर से उतरकर उन्ही लोगो के बीच आकर खडे हो गये, जिन्हे लोग मारकर भगा देने का उपक्रम कर रहे थे।

उनकी गम्भीर वाणी गूजी—"इन्हे क्यो मारा जा रहा था ?"

कोई कह उठा—"क्योकि ये अछूत है! इन्हे सभा मे उच्च वर्णवाले लोगो के साथ रहने का कोई अधिकार नही।"

क्षणभर सन्नाटा! इसके वाद गाधीजी की सीधी आवाज फिर गूजी—तव तो मैं भी अछूत हू। मैं इन्ही लोगो के वीच रहना चाहता हू। जो लोग दूसरे मनुष्यो को अछूत समझते हैं वे खुद अछूत हैं।

लोग हैरत मे पडे हुए थे। अछूत अपने प्यारे गाधीजी को पाकर पुकार उठे—महात्मा गाधी की जय।

अस्पृश्यता या छुआछूत की भावना को गाधीजी सम्पूर्ण मानवता के लिए गम्भीर अभिशाप मानते थे। यह कितनी विचित्र स्थिति है कि भगवान ने मानव को केवल मानव के रूप मे ही उत्पन्न किया है, परन्तु मानवी दम्भ ने श्रेष्ठता और नीचता के कृत्रिम व्यवधान रचकर घृणा के प्राचीर खडे कर लिये है।

मानव मानव मे अन्तर की भावना स्वाभाविक नही है, ऊपर से ओढी गई या लादी गई है, इसीलिए शिशु के कोमल अन्तर मे उसके समझदार (?) माता-पिता ही विभेद का अकुर उगाते है, उसे सिखाया जाता है, यह बडा है, यह छोटा है। परन्तु प्रारम्भ मे क्या शिशु अन्तर उसे स्वीकार करता है ? धीरे-धीरे ज्ञान (?) वृद्धि के साथ ही जब वह अपने मे श्रेष्ठता का आरोपण करने लगता है तभी तो घृणा का बीज लहलहाते पौधे का आकार धारण कर लेता है। जहा अन्तर निर्मल होता है, चिन्तनशील होता है, वहा ऐसे बीज को पनपने का अवसर ही नही मिल पाता।

गाधीजी का परिवार परम परम्परावादी वैष्णव मत का अनुयायी था। जिस उदार वैष्णव परम्परा ने जन-जन मे भक्ति-भावना का सचार किया था, धर्म-चेतना को मुट्ठी-भर लोगो के हाथ से मुक्तकर शोपित, निराश जनता को नवीन मार्ग-दर्शन किया था, वह भी भारतीय समाज के रग-रग मे पैठी हुई भेद-विभेद और अस्पृश्यता की भावना

का मूलोच्छेद नही कर सकी । वल्कि उलटे स्वय सकीर्णता का शिकार हो गई । बालक गाधीजी को इसका आभास बचपन मे ही मिल गया था । उनके पिता वैष्णव होने पर भी ईसाई, मुसलमान, पारसी आदि सभी धर्मो के लोगो से मिलते-जुलते । उनसे विचार-विनिमय करते । गाधीजी की माता पुतलीबाई भी उदार महिला थी । परन्तु उच्च वर्ग-सुलभ सकीर्णता से वह भी सर्वथा मुक्त कहा हो पाई थी ? उनके यहा जो भगी लडका सफाई के लिए आता उसे छूने की मनाही थी । परन्तु गाधीजी का अन्तर उस निषेधाज्ञा का समर्थन नही करता था । वह उस भगी बालक को छू लेते और इस अपराध का दण्ड भी भोग लेते थे । उनका अन्तर प्रतिवाद कर उठता—मनुष्य को स्पर्श करने मे भला कौन-सा अपराध हो जाता है ? बचपन का यही चिन्तन आगे चलकर उनके जीवन और कर्म मे पल्लवित हुआ ।

कर्म-क्षेत्र के अनुभव ही मानव के यथार्थ शिक्षक होते है । शैशव की भावनाए अनुकूल परिवेश पाकर इसी काल मे पुनर्जाग्रत होती है । गाधीजी ने दक्षिण अफ्रीका मे जाकर अस्पृश्यता के दूसरे रूप—वर्ण-भेद की उत्कटता देखी । भारत मे जन्मगत अस्पृश्यता जितनी भयावह हे, अन्य देशो मे वर्ण-भेद-मूलक अस्पृश्यता उससे कम भयावह नही, परम सत्यान्वेषक गाधीजी को कई बार उत्कट वर्ण-द्वेष का शिकार होना पडा था । उनके सम्मुख स्पष्ट प्रतिभास हो गया था, भारत मे उच्च वर्ण के लोग अछूतो से जैसा वर्ताव करते है, भारत के बाहर उन्ही लोगो को वैसे ही व्यवहार मिलता है । निन्दा और घृणा सीमित नही होती, व्यापक और सक्रामक होती है । इनकी परिधि निरतर अधिक विस्तृत होती जाती है । कवि-गुरु रवीन्द्रनाथ ने इसीलिए चेतावनी दी है

हे मोर दुर्भागा देश, यादेर करेछ अपमान ।
अपमाने हते हबे ताहादेर सबार समान ॥

गाधीजी ने इसी मनुष्यता के अपमान को मिटाने के लिए दृढ प्रतिज्ञ होकर जीवन-सकल्प कर लिया ।

गाधीजी के महान् सघर्ष के दो स्पष्ट पहलू है, एक राजनैतिक वन्धन-मुक्ति का और दूसरा सामाजिक विषमताओ के अन्त का, वल्कि अधिक सचाई तो इस वात में है कि गाधीजी राजनैतिक बन्धन-मुक्ति की अपेक्षा सामाजिक विषमताओ के अन्त के लिए अधिक प्रयत्नशील थे । उन्होने स्पष्ट शब्दो मे घोषणा की थी कि सामाजिक विषमताओ के अन्त के विना राजनैतिक बन्धन-मुक्ति व्यर्थ है । यही कारण है कि उन्होने विषमताओ के शिकार अछूतो को केवल समानता का अधिकार दिलाने का महान् सघर्ष ही नही आरम्भ नही किया, युग-युग से निराशा-ग्रस्त, दैन्य-पीडित, अन्धविश्वासो मे नि स्वत्व निम्न वर्ग के जीवन्मृत लोगो को 'हरिजन' नाम से अभिहित कर उनमे अपूर्व आत्म-विश्वास का मन्त्र भी फूका ।

कोई राष्ट्र तवतक सम्पूर्ण रूप से स्वाधीन नही कहा जा सकता जबतक उस राष्ट्र मे एक भी वर्ग या एक भी मनुष्य अपनेको निपीडित अनुभव करता हो । गाधीजी ने भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन को इसीलिए विश्व-मुक्ति का आन्दोलन भी कहा था, क्योकि वह इसके जरिये केवल मनुष्य की राजनैतिक वन्धन-मुक्ति का स्वप्न ही नही देखते थे अपितु उनकी आदर्श कल्पना थी कि यह आगे चलकर विश्व की निपीडित मानवता का आन्दोलन वन जायगा । गाधीजी के जीवन-काल मे उनके अनुरागियो मे भी आन्दोलन की प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे मतभेद था, वही यह भी प्रमाणित हो गया था कि सम्पूर्ण विश्व-मानवता उससे कितना अधिक अनुप्राणित हो सकती है । इसीलिए सशय-ग्रस्त भारतीय मानस जहा अफ्रीकी देशो मे गाधीजी के आदर्शो के दुहराने की चर्चा सुनता है, वैभवपूर्ण अमरीका के वचित जन-मानस मे गाधीजी की वाणियो की ध्वनि सुनता है, तो क्षणभर के लिए उस विराट प्रभापुज के चरणो मे अवतरित हुए विना नही रहता । जितने दिन जा रहे, आणविक सत्रास से उच्चकित मानव-मात्र को गाधीजी के सन्देशो की यथार्थता उतना ही अधिक आकर्षित कर रही है ।

गाधीजी खण्ड के नही, सम्पूर्णता के पुजारी थे । हरिजनो को उन्होने केवल हिन्दू-समाज के एक अग के रूप मे नही देखा, वल्कि उसे विराट विकसनशील मानवता का अभिन्न अग माना । सामाजिक विखडन के वह सर्वथा विरोधी थे । वह नही चाहते थे कि मानव को कुछ वर्गो की खण्डित इकाइयो मे वाट दिया जाय । हिन्दू, मुसलमान,

सिख, ईसाई, बौद्ध आदि सभी धर्मो को वह एक ही विराट सत्य का विभिन्न अग कहा करते थे और इनमे विरोध का बीज बोनेवाले प्रयासो के विरुद्ध थे । अक्सर कहा जाता है कि गाधीजी ने हरिजनो को हिन्दू समाज से पृथक हो जाने की नीति के विरोध मे आमरण अनशन किया था और ऐसा कहकर गाधीजी के विराट आदर्श को सकीर्णता के सूत्र मे सीमित करने का प्रयास किया जाता है कि उन्हे विघटित होनेवाले हिन्दू समाज की रक्षा का ही अधिक ध्यान था । परन्तु गाधीजी के आदर्श कभी किसी वर्ग मे सीमित नही रहे । उनके अथक प्रयास के बावजूद जब भारत मे फूट फैलानेवाली शासक गोष्ठी ने हिन्दू-मुसलिम पृथकता कानून बना दिया और हरिजनो को भी अलग करने का दुष्प्रयास होने लगा, शासक-गोष्ठी की कूटनीति के शिकार डाक्टर अम्बेडकर जैसे नेता भी होते जा रहे थे, उस समय गाधी-जी को यह स्पष्ट प्रतीत हुआ कि वर्गीय विभाजन की यह प्रक्रिया केवल यही सीमित नही होगी, बल्कि इसका स्वरूप और अधिक विकृत होता जायगा । जाति, वर्ण, वर्ग, भाषा आदि अनेक रूपो मे समाज को शतधा खण्डित किया जायगा और मानव-मुक्ति-आन्दोलन का भविष्य अन्धकार-पूर्ण होगा । खण्डित, शक्तिहीन वर्गो मे वैमनस्य का सुयोग लेकर स्वार्थी तत्व उनपर अपना शिकजा सख्त करते जायगे । केवल हिन्दू समाज या हरिजनो को ही गाधीजी ने यह नही सिखाया कि मुक्ति-आन्दोलन अखण्डता से ही सम्भव है, बल्कि उन्होने विश्व को अपने सीमित स्वार्थो से ऊपर उठ-कर चिन्तन का भी महान् सन्देश दिया, जिससे ससार पर पशुता का नही, अन्तत मानवता का प्रेम-साम्राज्य स्थापित हो ।

मानव-मात्र समान है, ब्राह्मण और शूद्र मे कर्मो के सिवा और और अन्तर नही, गाधीजी का यह दृढ विश्वास था । उच्च वर्गो और निम्न वर्गो के बीच का कृत्रिम अन्तर मिटाने के प्रयास मे उन्हे अपने परिवार मे विरोध का सामना करना पडा था, उसी प्रकार सामाजिक बाधाए भी उनके सम्मुख आई थी । वह जानते थे, मानव-कल्याण के मार्ग मे बाधाए आती है और जो व्यक्ति मानव-कल्याण जितना अधिक करना चाहता है, उसे उतनी ही बडी बाधाओ का सामना करना पड़ता है । परन्तु सत्य को ही वह भगवान मानते थे और पूर्ण निर्भयता से सत्य-सकल्प लेकर बाधाओ का सामना करते थे । अपने आश्रमो मे वह कभी छुआछूत की भावना को प्रश्रय नही देते थे । साबर-मती मे जब उन्होने आश्रम खोला, बहुत-से लोग उनकी मदद करने को तैयार थे । परन्तु आश्रम मे हरिजनो को स्थान देने की वजह से वे लोग असन्तुष्ट हो गये थे । इससे आश्रम के सचालन मे कठिनाई उत्पन्न हो गई । गाधीजी ने स्पष्ट शब्दो मे कह दिया था—मेरे लिए तो हरिजन ही सबसे पहले है । अगर कोई मुझे हरिजनो को छोडकर भारत का स्वराज्य भी देना चाहे तो ऐसा स्वराज्य भी मुझे कभी स्वीकार नही होगा ।

गाधीजी के विचार से स्वराज्य अपने मे साध्य नही है, बल्कि वह मानवता की प्राप्ति का एक प्रमुख साधन है । उन्होने अपनी कल्पना से देखा था, भारत स्वतन्त्र होनेपर ही अपनी विषमताओ को मिटाने मे तत्पर हो सकेगा और तभी भारत के आदर्शो पर चलकर विश्व के अन्य देशो मे भी सर्वात्मक मुक्ति का आन्दोलन पनप सकेगा । जबतक सम्पूर्ण मानवता की मुक्ति नही होती तबतक केवल राजनैतिक स्वराज से पूरा कल्याण सम्भव नही है । गाधीजी के विचारो की सत्यता आज के एशिया, अफ्रीका, यूरोप के तथाकथित स्वतन्त्र राष्ट्रो की परिणति मे हम स्पष्ट देखते है कि उनकी स्वतन्त्रता की ओट मे किस तरह साम्राज्यवादी और तानाशाही हथकण्डे चल रहे है, जिसमे बेचारी जनता बुरी तरह पिस रही है । वह सोचने को मजबूर सी रही है, क्या यही स्वतन्त्रता है ? एक के बाद एक आन्दोलन, क्रान्तिया स्वतन्त्रता के नाम पर हो रही है, परन्तु जनता को केवल एक विराट शून्य के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नही आता । सामाजिक और वैचारिक विषमताओ की मुक्ति के बगैर राजनैतिक स्वतन्त्रता एक मखौल बनकर रह जाती है ।

हरिजनो की गिरी हुई अवस्था से गाधीजी को असीम वेदना होती थी और वह सर्वशक्ति से उनका उन्नयन चाहते थे । युग-युग से दलित इन हरिजनो ने इस घोर आत्म-परायण युग मे गाधीजी की आश्वासन-वाणी सुनी । वह उच्चकित हुए—कौन आ गया यह देवदूत ? क्योकि उनको तो उच्च वर्ण के लोगो से उपेक्षा, घृणा ही मिलती थी,

मन्दिरों के पट उनके लिए सदैव बन्द थे । समस्त मानवीय अधिकारो से वंचित होने के कारण उनके अन्तर मे भी असीम कुण्ठा घर कर गई थी । अत गाधीजी को ऐसे लोग अपना उद्धारक यहातक कि भगवान् भी मानने लगे तो आश्चर्य ही क्या ? परन्तु गाधीजी अपनी पूजा नही चाहते थे । यह उस नकली ब्राह्मणत्व के घोर विरोधी थे, जो आदर्श को जड बनाकर, फूल-मालाओ से लादकर, घण्टा-शख बजाकर नाम-जप मे ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मानता है । इसीलिए लाखो लोगो की भीड जब उनके चरण छूने के लिए उमड पडती, वह उससे दूर, निर्विकार रहने का प्रयास करते । इसी सन्दर्भ मे वह घटना स्मरणीय है, जब गाधीजी उडीसा भ्रमण कर रहे थे । बालासोर के पास के एक गाव मे वह अपने साथियो के साथ टिके थे । एक दिन वह बैठे थे तभी देखा, एक आदमी आया । उसने दूर से ही उन्हे देखकर थोडी-सी घास अपने सिर पर रखी और भूमि पर लेटकर साष्टाग प्रणाम किया । तदुपरान्त कुछ कहे बिना ही हाथ जोडे मुडकर चल पड़ा । गाधीजी उसकी सारी हरकते विस्तार से देखते रहे। जब वह जाने लगा तो उसे सकेत से अपने पास बुलाया । पूछा, "आखिर तुम यहा आये क्यो थे ?"

भोले-भाले उस आदमी का उत्तर था, "मैने सुना है कि गाधीजी भगवान के अवतार है, मैं उनका दर्शन करने आया था ।"

"तो फिर तुमने अपने सिर पर घास क्यो रखी ? घास तो जानवर खाते है ।"

उसने सिर झुकाये उत्तर दिया, "हमे तो बडे आदमियो को इसी तरह प्रणाम करना पड़ता है । हम तो नीच है ।"

गाधीजी के हृदय मे करुणा उमड आई । आदमी स्वय मनुष्य होकर भी अपनेको नीच समझे, यह विडम्बना नही तो क्या है ? उन्होने कहा—नही, तुम नीच नही । तुम मनुष्य हो ! मनुष्य मनुष्य सभी समान है ।

वह बेच.रा गाधीजी की ओर देखता रह गया । क्या सुना, क्या समझा, कुछ पता नही । वह तो अपनेको कृतार्थ मान रहा था, उसने गाधीजी के दर्शन ही नही किये, उनसे बातें भी की । वह अपनेको सराह रहा था । तभी गाधीजी ने फिर कहा—अच्छा, तुमने दर्शन तो कर लिये, अब बताओ, तुम चाहते क्या हो ?

यही प्रश्न तो मनुष्य के सम्मुख बार-बार होता है ? उसे क्या चाहिए ? और यही तो वह धोखा खा जाता है बार-बार । रवीन्द्रनाथ ने इसी स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है :

याहा चाइ ताहा भुल करे चाइ
याहा पाइ ताहा चाइ ना ।

(जो चाहते है, वह गलत चाह होती है । जो मिलता है, उसे हम नही चाहते ।)

परन्तु बुद्धिमान तो वही है जो 'चाह' की झझटो से बचा रहे । वह भोला-भाला, सरल हरिजन भी चूका नही । कहा, "मुझे आपका दर्शन हो गया और कुछ नही चाहिए ।"

गाधीजी मुग्ध हो गये । उन्होने कहा, "अच्छा, तो मैं ही तुमसे कुछ माग रहा हू । क्या मुझे दे सकोगे ?"

गाधीजी माग रहे है उससे ? बेचारा अचरज मे था । जिसके दर्शन के लिए लाखो की भीड उमडती है, वह ही उसके जैसे नगण्य आदमी से माग रहे है ! उसने सकुचाते हुए कहा, "मेरे पास जो कुछ है, मैं जरूर दे दूगा ।"

"तो फिर मैं तुमसे यही मागता हू कि आज से तुम न शराब पिओ और न मरे जानवर का मास खाओ ।"

"लेकिन", वह आदमी सकोच मे पड गया, "ऐसा करने पर तो मुझे जातिवाले जाति से निकाल देंगे ।"

"तो भी तुम अपनी बात पर अटल रहना और जो भी मुसीबत आये, स्वीकार कर लेना ।"

वह हरिजन युवक हृदय मे दृढ सकल्प लेकर चला गया ।

छोटी-छोटी घटनाए व्यक्तित्व की विशिष्टताए सूचित करती है, क्योकि इन्हीके जरिये मानव का स्वरूप उघडकर सामने आ जाता है । उपर्युक्त घटना गाधीजी से विशिष्ट व्यक्तियो की मुलाकातो की अपेक्षा बाह्य दृष्टि से नगण्य हो सकती है, परन्तु इसीमे बापू की चिन्तनेधारा की महानता उद्भासित होती है ।

कहा तो था संतों ने, पर सुनें हम भी

सीता सक्सेना

उस ससार का सौदा

"मा मै सौदा करके आ गया ।"

"कौन-सा सौदा इतनी जल्दी कर आये, वेटा ? सामान तो तुम्हारे पास दिखाई नही देता ।"

"सामानवाला सौदा इस ससार के लोग करते है । उस ससार के सौदे के लिए सामान की आवश्यकता नही पडती और वही सौदा मै करके आया हू ।"

"कैसे ?"

"सारे रुपयो का अनाज गरीबो को बाट आया । मा वे वहुत भूखे थे । उनकी भूख मुझसे देखी नही गई ।

"खैर, अब कैसे भी अपने घर का काम चल ही जायगा । इतनी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है !"

मा बेटे के सौदे पर गद्‌गद हो गई । दूसरो के दु खो को अपना दु ख माननेवाला वह बालक नानक था । आगे चलकर यही नानक सिख-धर्म के प्रवर्तक बने ।

जुलाहे का लोटा

प्रात का समय था । भक्त लोग गगा-स्नान कर रहे थे । कुछ ब्राह्मण भी गगा-स्नान करने आये । पानी काफी गहरा था । अत घुसकर स्नान करने का साहस न हो रहा था । पात्र कोई नही था । एक किनारे पर सन्त कबीर स्नान कर रहे थे । उन्होने देखा तो उनसे न रहा गया । उन्होने अपना लोटा माज-धोकर एक व्यक्ति को दिया और कहा कि जाओ ब्राह्मणो को दे आओ, ताकि वे भी सुविधा से स्नान कर ले ।

कबीर का लोटा देखकर ब्राह्मण चिल्ला उठे, "अरे, जुलाहे के लोटे को दूर रखो । इससे स्नान करके तो हम अपवित्र हो जायगे ।"

"भाइयो, इस लोटे को कई वार मिट्टी से माजा और गगाजल से धोया, फिर भी साफ न हुआ, तो यह मानव-शरीर, जो दुर्भावनाओ से भरा हे, गगाजी मे स्नान करने से कैसे पवित्र होगा ?"

कबीर के ये शब्द सुनकर ब्राह्मण एक-दूसरे का मुह ताकने लगे ।

तीसरा कलंक

स्वामी रामतीर्थ की ओजस्वी वाणी तथा विद्वत्ता से प्रभावित होकर अमरीका के अठारह विश्वविद्यालयो ने मिलकर उन्हे एल.-एल डी की उपाधि देने का प्रस्ताव किया । जव स्वामीजी को मालूम पडा तो उन्होने धन्यवाद-सहित उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया । उन्होने कहा, " 'स्वामी' और 'एम ए' ये दो कलक है, जो मेरे नाम के आगे-पीछे लगे हुए हे । अब यह तीसरा कलक मिलनेवाला है, इसे मैं कहा लगाऊगा ?

प्रतिष्ठा, प्रशसा, यश, कीर्ति और मान-बडाई के चक्कर मे पडकर सन्तो मे अह की भावना उत्पन्न हो जाती है, जिससे सच्चे उद्देश्य की पूर्ति मे कठिनाई होती है । अत सच्चे सन्त ऐसे सम्मानो से सदैव वचने का प्रयत्न किया करते है ।

सेवा-कार्य मे बाधा

महात्मा गाधी के आश्रम मे एक प्रसिद्ध सन्यासी पधारे । आश्रम की गतिविधियो को देखकर सन्यासी को वडी प्रसन्नता हुई और वह वही ठहर गये । आश्रम के निवासियो ने उन्हे अतिथि की तरह रखा । एक दिन उन सन्यासी ने गाधीजी से भेंट की और कहा, "महात्माजी, मेरी इच्छा है कि मैं आपके आश्रम मे रहू । मेरा यह शरीर यदि राष्ट्र के कार्य आयगा तो मुझे वडी प्रसन्नता होगी ।"

गाधीजी उनकी बातो को सुनकर बोले, "साधुओ के निवास के लिए ही आश्रम होते है । आपकी हार्दिक इच्छा जानकर मुझे बडी प्रसन्नता हुई । हा, एक वात है कि यहा

रहने से पूर्व आपको इन गेरुये वस्त्रो का त्याग कर देना चाहिए।"

गाधीजी की यह बात सन्यासी को पसन्द न आई। वह मन-ही-मन क्षुब्ध हुए। क्षोभ को दवाकर बोले, "गाधीजी, मैं सन्यासी हू, गेरुआ वस्त्र कैसे उतार सकता हू ?"

गाधीजी ने उन्हे समझाते हुए कहा, "मैं कब कहता हू कि आप सन्यास को छोड दीजिये। आप इस ओर खूव प्रगति कीजिये। मेरा परामर्श तो केवल गेरुये वस्त्र छोडने का था। गेरुये वस्त्रो को पहना देखकर भारतवासी आपकी सेवा और पूजा शुरू कर देगे और आपको सेवा करने का अवसर नही मिलेगा। गेरुये वस्त्र पहने देखकर लोग आपकी सेवाओ को स्वीकार ही न करेगे। अत सेवा-कार्य मे जो वस्तु वाधक बने उसे त्यागने मे कोई हर्ज नही है। सन्यास का सम्वन्ध वस्त्रो से नही, वरन् मन से है। यदि आप ऐसे कपडे पहने रहेगे और सफाई का कार्य करना शुरू करेगे तो आपके हाथ से लोग झाड़ू छीन लेगे।"

महात्मा गाधी की वात का प्रभाव उस सन्यासी पर इतना पडा कि विना आगे कुछ कहे हुए उन्होने गेरुये वस्त्र त्याग दिये।

गौतमी का बोध

गौतमी के केवल एक पुत्र था। वह भी चल वसा। बेचारी बडी परेशान रोती-चिल्लाती भगवान बुद्ध के पास गई। उसे आशा थी कि भगवान उसके बालक को जीवन दे सकते है।

भगवान बुद्ध ने उसे धैर्य बधाते हुए कहा, "जाओ, किसी ऐसे घर से थोडा जल ले आओ, जहा कभी किसीकी मृत्यु न हुई हो। उस जल से तुम्हारे पुत्र का अभिसिचन कर जीवित कर दूगा।"

गौतमी बच्चे की निर्जीव काया को वही छोडकर जल प्राप्त करने गई। द्वार-द्वार घूमी, पर ऐसा कोई घर न मिला, जहा कभी किसीकी मृत्यु न हुई हो। निराश होकर लौट आई।

गौतम बुद्ध ने कहा, "तुमने स्वय जाकर अभी देखा कि कोई परिवार ऐसा नही है जिसमे किसी-न-किसीकी मृत्यु न हुई हो। ध्यान रखो, ससार मे कोई व्यक्ति ऐसा नही, जिसे एक-न-एक दिन मौत के मुह मे न जाना पडे। फिर मृत्यु पर शोक करने की क्या आवश्यकता है ?"

तथागत के शब्दो से गौतमी का बोध जाग उठा। वह अपने मृत पुत्र का सस्कार कर घर चली गई।

●

सबको कुरते चाहिए

एक बार गाधीजी एक स्कूल देखने गये। उन दिनो वह लगोटी पहनने लगे थे। कन्धे पर एक चादर डाल लेते थे। उन्हे इस रूप मे देखकर एक बच्चे ने कुछ कहा, परन्तु शिक्षक ने उसे रोक दिया। गाधीजी सवकुछ देख रहे थे उस वच्चे से वोले, "तुम कुछ कहना चाहते हो ?"

वह वच्चा वोला, "आपने कुरता क्यो नही पहना ? मैं अपनी मा से कहूगा, वह आपके लिए कुरता सी देगी। आप पहनेगे न ?"

गाधीजी वोले, "जरूर पहनूगा, लेकिन एक शर्त है, वेटे, मैं अकेला नही हू।"

वच्चे ने पूछा, "तव आपको कितने कुरते चाहिए ? दो। मां से कहूगा, वह आपके लिए दो कुरते सी देंगी।"

गाधीजी ने उत्तर दिया, "दो नही, मेरे चालीस करोड भाई-वहन हैं। उन सवको कुरते चाहिए। क्या तुम्हारी मा चालीस करोड कुरते सी सकेगी ?"

वह वच्चा शायद कुछ समझ नही सका। गाधीजी उसकी पीठ थपथपा कर चले गये, लेकिन शिक्षको ने तो सवकुछ समझ ही लिया था।

निन्दा का त्याग

अगरचन्द नाहटा

•

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि उसकी प्रशसा हो। कोई भी व्यक्ति अपनी निन्दा सुनने को तैयार नही, पर दूसरो की निन्दा करने मे हर व्यक्ति तैयार मिलता हे। 'आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्'—इस महान आदर्श वाक्य के अनुसार मनुष्य को वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति नही करना चाहिए, जिसे वह अपने प्रति होना नही चाहता। अर्थात् जब हम दूसरो द्वारा की गई अपनी निन्दा को बुरा समझते है, सहन नही कर सकते, तब हमे भी दूसरो की निन्दा नही करनी चाहिए। जैन आगमो मे निन्दक के लिए कहा गया है कि वह पीठ का मास खानेवाला है अर्थात् पीठपीछे दूसरो की बुराइयो को कहकर वह उनके दिल दुखानेवाला है। अत निन्दा एक तरह से हिसा का ही एक प्रकार है, क्योकि तन, मन, वचन से किसी का भी किसी तरह से दिल दुखाना, दिल को या शरीर को चोट पहुचाना हिसा है।

ससार मैं जितने भी प्राणी है, सभीमे कुछ गुण और कुछ दोष रहते है। सर्वथा निर्दोष तो परमात्मा या परमेश्वर माना जाता है। शेष सभीमे गुणो के साथ दोष भी रहे हुए है। किसीमे गुणो का आधिक्य है, तो किसीमे दोषो का। जिसे हम एकदम दोषो का भण्डार कहते है, उसमे भी कोई-न-कोई गुण या विशेषता खोज करने पर या ध्यान देने पर अवश्य मिलेगी। इसलिए ज्ञानियो ने कहा है कि निन्दा या आलोचना करनी हो तो अपने दोषो की करो, जिससे वे दोष कम हो जाय या नष्ट हो जाय। दोषो के प्रति अरुचि होना, दोषो को दोष के रूप मे समझना और दोषो के निवारण मे प्रयत्नशील होना—यही गुणवान् बनने का सरल उपाय है। जितने-जितने अशो मे दोप कम होगे, उतने ही अशो मे गुण प्रकट होगे। मनुष्य गुणी बनना चाहता है, जिससे लोग उसकी प्रशसा करे, पर दुर्व्यसनो और दोषो से छूटने का पुरुषार्थ नही करता, यही उसकी सबसे बडी कमी है।

इतना ही नही, मनुष्य इससे विपरीत मार्ग पर भी चलता है। वह अपनी आलोचना या निन्दा न करके दूसरो की निन्दा करता है, जिससे उसे तनिक भी लाभ नही होता, अपितु बहुत बडी हानि होती है। जिसकी भी निन्दा की जाती है, उससे स्वाभाविक वैर-विरोध बढता है, प्रीति और मैत्री टूट जाती है। वह उसे विरोधी मानकर बदला लेने का भी प्रयत्न करता है, फिर चाहे सुयोग न मिलने के कारण वह उसमे सफल न हो सके। निन्दक व्यक्ति को कोई भी अच्छा नही मानता, क्योकि निन्दा एक बुरी आदत है। आज वह किसी एक व्यक्ति की निन्दा करता है तो कल वह दूसरे की भी निन्दा करेगा। आज किसी दोषी व्यक्ति की निन्दा करेगा तो कल वह अपनी उस बुरी आदत के कारण या स्वार्थ के वशीभूत होने से निर्दोष व्यक्ति की भी निन्दा कर बैठेगा। इस निन्दा से उस व्यक्ति के 'अह' को ठेस पहुचेगी, जिसकी वह निन्दा करता है। अतएव हानि तो अनेक तरह से होती ही है, लाभ कुछ भी नही होता। यदि किसी के वास्तविक दोषो की वह निन्दा करता है सो भी उसकी निन्दा से उस व्यक्ति के दोषो का सुधार नही होगा और यदि किसीकी झूठी निन्दा कर देता है तब तो महान् पाप है ही। दूसरो के दोषो की अधिक चर्चा करना, अपने मे उन दोषो का प्रादुर्भाव करना है। इसलिए सभी महापुरुषो ने निन्दा को महापाप बतलाया है। सन्त कबीर कहते है

दोष पराये देखकर, चल्या हसत हसत।
अपने च्यंति न आवई, जिनका आदि न अत॥
जे कोउ निंदे साधु कू, सकट आवै सोय।
नरक मांय जामें मरे, मुक्ति कबहु न होय॥

लोक विचारा निंदई, जिन्ह न पाया ज्ञान ।
राम नॉव राता रहे, तिनहिं न भावे आन ॥
कबीर घास न निंदिये, जो पाऊ तलि होइ ।
ऊडि पडै जब आँख मे, खरा दुहेला होइ ॥

अर्थात्, मनुष्य दूसरो के दोष देखते हुए हँसता है, पर अपने दोषो की ओर तनिक भी ध्यान नही देता, जिन दोषो का आदि-अन्त ही नही है। जो व्यक्ति किसी सत्पुरुष की निन्दा करता है, उसे अवश्य ही सकट मिलेगा, वह नरक मे जन्मेगा और मरेगा, उसे मुक्ति कभी नही मिलेगी। सन्त कबीर कहते है कि अपने पैरोतले पडे घास की भी निन्दा न करे, क्योकि वह छोटा-सा तिनका भी यदि उड-कर आख मे पड जायगा तो तुम्हे बहुत दु ख होगा ।

बेचारे अज्ञानी जीव दूसरो की निन्दा करते है। वास्तव मे उन्हे उसके महान् दोष का ज्ञान नही है। राम के नाम को रटनेवाले को तो दूसरे की निंदा कभी रुचि-कर हो ही नही सकती ।

हम दूसरो की निन्दा न करें, सन्तो ने केवल इतनी ही शिक्षा नही दी, इससे आगे बढकर उन्होने यह भी कहा है कि अपनी निन्दा करनेवालो के प्रति भी तुम द्वेष या घृणा न करो। वे अज्ञानी व्यक्ति स्वय ही अपने पैरो पर कुल्हाडी मारते है। अत वे करुणा के पात्र हैं, घृणा और द्वेष के नही। यदि हम उनके द्वारा की जानेवाली निन्दा के प्रति ध्यान न दे तो हमारे मन मे कोई बुरा भाव उत्पन्न नही होगा। निन्दक तो बिना कुछ लिये ही हमारे पापरूपी मैल को धोकर हमे निर्मल बनाता है। हमारी जिन बातो की वह निन्दा करता है यदि वे दोष हमारे मे है तो उस व्यक्ति का हमे उपकार ही मानना चाहिए कि उसने हमारे दोषो को बता कर हमे सजग कर दिया, दोषो को दूर करने का हमे मौका दिया। इसीलिए सन्तो ने कहा है कि निन्दक को दूर न करके अपने नजदीक बसाओ, उससे द्वेष न कर उसका आदर करो। सन्त कबीर ने इसी भाव को नीचे पद्यो मे बडे सुन्दर ढग से कहा है

निन्दक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय ।
बिन साबुन बिन पानिया, निरमल करै सुभाय ॥
निन्दक दूर न कीजिये, दीजै आदर मान ।
निरमल तन मन सब करै, बक बक आन हि आन ॥

महाकवि 'समय-सुन्दर' ने अपने निन्दा परिहार गी काव्य मे बडा ही सुन्दर प्रबोध दिया है

(१)

निन्दा न कीजै जीव पराई,
निन्दा पापई पिण्ड भराई ।
निन्दक निश्चय नरकहि जाई,
निन्दक चौथा चण्डाल कहाई ।
निन्दक रसना अपवित्र होई,
निन्दक मांस भक्षक सम दोई ।
'समय सुन्दर' कहई निन्दा न कर जो,
पर गुण देखि हरख मन धर जो ।

(२)

निन्दा मत करज्यो कोई नी पारकी रे,
निन्दानै बोल्यां महापाप रे ।
वैर विरोध बाधहि घणा रे,
निन्दा करता न गिणै माई बाप रे ॥१
दूर बलती कां देखो तुम रे,
पगमां बलती देखो सब कोई रे ।
परनां मैलमा धोया लुगडा रे,
कहो किम उजला होइ रे ॥
आपु संभालो सबको आपणो रे
निन्दानी मूको पीर टेव रे ।
थोडा घणा अवगुणै सब भरया रे,
केहना नलिया चूयैं करवा नैव रे ॥३
निन्दा करइ ते थाय नारकी रे,
जप तप कीधुं सब जाई रे ।
निन्दा करो तो करजो आपणी रे,
जिम घुटक वारउ थाय रे ॥४
गुण ग्रज्यो सहुको तणो रे,
जिहं मां देखउ एक विचार रे ।
कृष्ण परइ सुख पामस्यो रे,
'समय सुन्दर' कहइ सुखकार रे ॥५

महात्मा बुद्ध ने कहा है—"जो दूसरो के अवगु बखानता है, वह अपना अवगुण बखानता है ।" महाभार मे कहा है—"दुर्जनो को निन्दा मे ही आनन्द आता है सारे रसो को चखकर कौआ गन्दगी से ही तृप्त होता है

तमिल मे कहा गया है—"निन्दक और जहरीले साप दोनो के दो-दो जीभे होती है।" इसमाइल इब्न अबीबकर ने कहा है—"सारे ससार मे विवेक भ्रष्ट वह आदमी है, जो लोगो की निन्दा मे दत्तचित्त रहता है, जैसे मक्खी रुग्ण स्थानो पर ही बैठा करती है।"

अजमेर से प्रकाशित 'सविता' मे निन्दा के सम्बन्ध मे बहुत ही अच्छा लिखा गया है "निन्दा एक जघन्य पाप है और है एक भयकर अभिशाप। निन्दा से जितनी हानि स्वय निन्दक की होती है, उतनी हानि उन व्यक्तियो की नही होती, जिनकी निन्दा की जाती है। वे व्यक्ति यदि उदार और समझदार हो तो निन्दक के द्वारा अपने दोषो की चर्चा सुनकर निरन्तर अपना सुधार करते रहते हे और एक दिन नितात निर्दोष और निष्पाप बन जाते है। यदि वे व्यक्ति क्षुद्राशय होने है तो वे बदले मे अपने निन्दक की निन्दा करने लगते और स्वय भी निन्दक बन जाते है। अपने-अपने निन्दको की निन्दा कर-करके स्वय भी निन्दक बन जाने से ही, ससार मे निन्दको की सख्या इतनी अधिक हो गई है। निन्दा कभी भी सहायता या सुधार के भाव से नही की जाती, अपितु क्षुद्राशयता या बदनाम करने की दृष्टि से ही की जाती है। निन्दक की दृष्टि किसी के गुणो पर नही, दोषो पर ही पडती हे। निन्दक दोषो का ही दर्शन करता है, दोषो का ही बखान करता हे और दोषो का ही चिन्तन करता है और जो जैसा देखता, बोलता, सुनता और सोचता है, वह स्वय वैसा ही बन जाता है। दूसरो के दोषो का दर्शन, वर्णन श्रवन और चिन्तन करते-करते निन्दक स्वय दोषो की खान बन जाता है, वह स्वय दोषो से भरपूर हो जाता है।"

कुछ लोग कहा करते है कि "किसीके वास्तविक दोषो का वर्णन करने मे क्या बुराई है? वह तो सच्ची बात है, निन्दा नही।" पर यदि किसीके दोषो को सुधरवाने की हमारी भावना है तो हम उन दोषो का प्रकाशन दूसरो के आगे क्यो करे? उसी व्यक्ति को ही एकान्त मे प्रेमपूर्वक क्यो न समझाये? यदि हम वैसा करते हे तो वास्तव मे वह एक उपकार का काम हे। पर साधारणतया उस व्यक्ति के सामने उसके दोषो को कहते हमे सकोच या भय होता है और दूसरो के सामने मूल व्यक्ति के परोक्ष मे बढाचढाकर उसके दोषो का उद्घाटन करते है। यह निन्दा ही है। निन्दा और समालोचना मे बडा अन्तर हे, उसे भी हमे ठीक से समझ लेना चाहिए। 'सविता' के उपर्युक्त अक मे इस सम्बन्ध मे लिखा गया है कि 'निन्दा और समालोचना मे बहुत अन्तर है। निन्दा व्यक्ति की की जाती है और व्यक्तिगत द्वेप के कारण की जाती है। समालोचना कृति, रचना, सिद्धात, मन्तव्य और मान्यता की की जाती हे। ईर्ष्या-द्वेष से रहित होकर सदाशयता के साथ की जाती हे।"

निन्दक और समालोचक मे भी अन्तर है। जो ईर्ष्या-द्वेप के वशीभूत होकर किसीकी व्यक्तिगत निन्दा करता है, वह निन्दक है और जो निष्पक्ष होकर सदाशयता के साथ शालीनता-पूर्वक किसीकी कृति, रचना सिद्धात, मन्तव्य या मान्यता की विवेचना करता है, उसे समालोचक कहते है। जब समालोचक समोलोचना करता हुआ पक्षपात या द्वेष के कारण निराधार और मिथ्या दोषारोपण करके सम्बन्धित व्यक्ति के व्यक्तित्व पर आक्रमण करता है, तब वह समालोचक समालोचक न रहकर निन्दक बन जाता है। और उसकी समालोचना समालोचना न होकर निन्दा हो जाती है।

समालोचना एक परमोत्कृष्ट कला ही नही है, एक परम पुनीत साधना भी है। आस्तिक, धर्मात्मा, निरभिमान, अनहकार, अनासक्त, नि स्पृह, निर्मल साधनाशील, बहुज्ञ और बहुश्रुत जन ही समालोचक के पुनीत आसन को सुशोभित कर सकते है। सच्चा समालोचक बनना ए कठिन साधना है, तो सच्ची समालोचना करना एक अलौकिक सिद्धि है।

सक्षेप मे लिखने का साराश यही है कि आलोचना हम अपने दोषो की करे, दूसरो के तो गुण-ही-गुण ग्रहण करे। "पराई निन्दा करना महापाप है" इस वाक्य को सदा ध्यान मे रखे।

परम वैष्णव कवि नरसी मेहता ने 'वैष्णव जन तो तेने कहिए' भजन मे किसी की निन्दा न करनेवाले को ही वैष्णव जन कहा है।

●